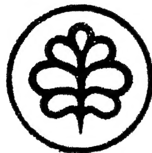
संस्कृत साहित्य
की
रूपरेखा

लेखक

स्व० पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय, एम० ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न

तथा

डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास, एम० ए०, पी-एच० डी०



साहित्य निकेतन, कानपुर

प्रथम संस्करण १६४५
संशोधित १८वाँ संस्करण १६८८

प्रकाशक : साहित्य निकेतन, श्रद्धानन्द पार्क, कानपुर—२०८००१
मुद्रक : न्यू एरा प्रेस, ८, नवाब यूसुफ रोड, इलाहाबाद—२११००१

भूमिका

किसी राष्ट्र या जाति का वास्तविक इतिहास उसका साहित्य है। साहित्य ही समाज की तत्तत्कालीन चिन्ताओं, धारणाओं, भावनाओं, आकांक्षाओं और आदर्शों का समुचित चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। इस दृष्टि से संस्कृत साहित्य भारत के गौरवमय अतीत का मणिमय मुकुट है। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक उत्कर्ष का जैसा सजीव प्रतिबिम्ब संस्कृत के सर्वाङ्गसुन्दर साहित्य में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसा महत्त्वमय 'अमर-भारती' के प्रति आज जो उपेक्षा अर्थात् औदासीन्य की भावना हमारे नव्य सभ्य समाज में देख पड़ती है, वह इस पुण्यभूमि भारत के भव्य भविष्य के लिए कदापि उत्कर्ष-विधायक नहीं। क्या यह हमारे लिए खेद या परिताप की बात नहीं कि हमारे देश की इस सांस्कृतिक 'देववाणी' के साहित्य का सांगोपांग विवेचन विदेशीय विद्वानों द्वारा तो किया जाय, किन्तु यहाँ घर में ही 'दीपक तले अँधेरा' वाली उक्ति चरितार्थ हो? संस्कृत पठन-पाठन की जो शैली हमारी पाठशालाओं में प्रचलित है, उसमे साहित्य की गहराई तो नापी जाती है, किन्तु व्युत्पत्ति के प्रसार पर कम ध्यान दिया जाता है। हमें यह न भूलना चाहिए कि यदि 'मेधा' का विकास पांडित्य है, तो प्रज्ञा का प्रकाश व्युत्पत्ति है। संस्कृत साहित्य के इतिहास का अनुशीलन अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का अनुशीलन है। हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी में भी अपनी प्राचीन परम्परागत संस्कृति से अपरिचित या अल्प-परिचित रहकर अपने समुचित विकास का आदर्श नहीं निर्धारित कर सकती।

संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखने की परिपाटी का श्रीगणेश पाश्चात्य विद्वानों ने किया। विदेशी भाषाओं में—मुख्यत: जर्मन और अंग्रेजी में—इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। भारतीय विद्वानों ने भी संस्कृत साहित्य के विषय में प्रायः अंग्रेजी में ही विवेचन किया है। इधर हाल में हिन्दी में भी संस्कृत साहित्य के इतिहास पर दो-चार छोटी-मोटी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, किन्तु वे या तो एकदेशीय हैं अथवा परिचयात्मक मात्र। उनमें से कुछ तो ऐसी है जो पाश्चात्य विद्वानों की कृतियों के अनुकरण पर ही लिखी गई हैं—उनमें एकमात्र पाश्चात्य दृष्टिकोण का ही अनुसरण किया गया है, और कुछ ऐसी हैं जिनमें वैदिक लौकिक समग्र संस्कृत साहित्य का समावेश होने के कारण कवियों अथवा कृतियों का विशद विश्लेषणात्मक विवेचन नही हो पाया है।

प्रस्तुत पुस्तक वेदोत्तरकालीन (Classical) संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त समीक्षात्मक अध्ययन अथवा इतिहास है। इसमें संस्कृत वाङ्मय के उन प्रमुख अंगों का

ही विवेचन किया गया है, जिनका पण्डित-समाज अथवा विद्यार्थियों में अधिक प्रचार या पठन-पाठन है। विवेचन करते समय जहाँ पाश्चात्य दृष्टिकोण का उल्लेख किया गया है, वहाँ भारतीय दृष्टिकोण की रक्षा करने का भी पूर्ण प्रयास किया गया है। ग्रन्थकारों की आलोचना करते समय उनके स्थितिकाल तथा रचनाओं का उल्लेख मात्र करके सन्तोष नहीं कर लिया गया है, प्रत्युत उनकी शैली की समीक्षा करके उनकी कृतियों से उद्धरण भी दिये गये हैं। प्रायः सर्वत्र उन उद्धरणों की सरल सुबोध भाषा में व्याख्या भी कर दी गई है। कालिदास, बाण, भवभूति जैसे प्रमुख एवं शीर्ष-स्थानीय महाकवियों की अपेक्षाकृत विशद एवं विस्तृत आलोचना की गई है।

इस 'रूपरेखा' की रचना का प्रमुख श्रेय मेरे परम उदीयमान शिष्य श्रीयुत शान्तिकुमार व्यास, एम० ए० को है, जिन्होंने परम परिश्रमपूर्वक इस पुस्तक के लिए समस्त सामग्री संकलित की और प्रेस के लिए कापी प्रस्तुत की। मैंने केवल मार्ग-प्रदर्शन, परामर्श-प्रदान, परिष्कार और यत्र-तत्र परिवर्तन-परिवर्धन कर इसे अन्तिम रूप-मात्र दिया है। अतः मेरी सम्मति में मुझे इसके कर्तृत्व का वही तक श्रेय प्राप्त है जहाँ तक सांख्यशास्त्र में बुद्धितत्त्व के क्रिया-कलापों का आत्मा को—'फलभाजि समीक्ष्योक्त बुद्धेर्भोग इवात्मनि।'

हर्ष की बात है कि इस पुस्तक की उपादेयता एवं गुणों से प्रभावित होकर पंजाब विश्वविद्यालय ने भी अपने यहाँ की बी० ए० परीक्षा पाठ्यक्रम मे इसे स्वीकार कर लिया है। आगरा यूनिवर्सिटी ने तो इसे पहले से ही बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए निर्धारित कर रखा है।

नागपंचमी सं० २००१ | चन्द्रशेखर पाण्डेय

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

द्वितीय संस्करण में अनेक आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्धन भी कर दिये गये हैं, जिनसे इसकी उपादेयता बढ़ गई है। इस संस्करण में जो मुख्य-मुख्य परिवर्तन-परिवर्धन किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) प्रथम संस्करण में अश्वघोष का स्थितिकाल कालिदास के पूर्व स्वीकार किया गया था। यह मत बहुत कुछ पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्त पर अवलम्बित था। किन्तु अब अनेक भारतीय विद्वानों ने प्रायः निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया है कि कालिदास अश्वघोष के पूर्ववर्ती थे। अतः प्रस्तुत संस्करण में कालिदास का स्थितिकाल अश्वघोष के पूर्व ही स्वीकार किया गया है।

(२) भास के उनके स्थितिकाल, नाटकों और शैली का अधिक विशद रूप से नवीनतम शोधों के आधार पर विवेचन किया गया है।

(३) हरिचन्द्र, शूद्रक, दिङ्नाग, दामोदर मिश्र और घटकर्पर के काल-निरूपण पर फिर से विचार किया गया है तथा यथास्थान आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये हैं।

(४) हरविजय, मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञान-शाकुन्तल, प्रियदर्शिका, मालती-माधव, उत्तररामचरित, वेणीसंहार, कादम्बरी, गाथा-सप्तशती, गीतगोविन्द, नवसाहसांकचरित तथा विक्रमांकदेवचरित के विवेचन में भी अपेक्षाकृत विस्तार हुआ है। देवीचन्द्रगुप्त, कौमुदीमहोत्सव तथा सुभाषित संग्रहों का विवेचन और जोड़ दिया गया है।

(५) गीति-काव्य और नाटक की विशेषताओं तथा ऐतिहासिक काव्यों का विवेचन भी अधिक विशद कर दिया गया है।

इनके अतिरिक्त स्थल-स्थल पर भाव, भाषा एवं तथ्य-सम्बन्धी और भी अनेक आवश्यक न्यूनाधिक परिवर्तन-परिवर्धन किये गये हैं। नवीनतम खोजों के परिणामों का समुचित उपयोग किया गया है। संक्षेप में, पुस्तक को अधिक से अधिक उपयोगी, प्रामाणिक एवं अद्यतन बनाने की पूर्ण चेष्टा की गई है।

सनातनधर्म कालिज, कानपुर।
नागपंचमी, सं० २००५ वि०

चन्द्रशेखर पाण्डेय

विषय-सूची

१

संस्कृत साहित्य का महत्त्व

"संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।"

संस्कृत भाषा की एक अमूल्य एवं अनुपम निधि है। अनादि काल से हमारे देश के जातीय जीवन पर उसका अपरिमित प्रभाव पड़ा है। भारतीय साहित्य और संस्कृति उससे पूर्णतया अनुप्राणित हैं। 'देववाणी' पद से विभूषित होकर वह आज भी भारतीय जनता के हृदय में श्रद्धा का संचार करती है। ऐसी देशप्राण भाषा को 'मृत' कहना उसके प्रति घोर अन्याय करना है। जो लोग संस्कृत को 'पुराने जमाने की चीज' कहकर उसे अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं, वे वास्तव में उसके महत्त्व को नहीं जानते। यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि आज भी संस्कृत ग्रीक और लैटिन की अपेक्षा कहीं अधिक जीवित है। अंग्रेजी की अपेक्षा संस्कृत हम भारतीयों के जीवन को अधिक स्पर्श करती है। हमारा धार्मिक जीवन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। 'वेदों' और 'उपनिषदों', 'रामायण' और 'महाभारत', 'गीता' तथा 'भागवत' का आज भी देशव्यापी प्रचार है। हमारे देवालयों तथा तीर्थस्थानों में उसका प्रभाव आज भी अक्षुण्ण है। हमारे उपनयन, विवाह आदि समस्त संस्कार तथा अन्य अगणित धार्मिक कृत्य संस्कृत में ही सम्पन्न होते हैं। साधारण शिक्षा-प्राप्त भारतीय भी संस्कृत के दो-चार श्लोक अवश्य जानता है। भले ही संस्कृत का बाजार में या अदालत में प्रयोग न होता हो, फिर भी वह हमारी सांस्कृतिक भाषा है; हमारा धार्मिक साहित्य उसी में लिखा गया है। जैनों के अधिकांश ग्रन्थ संस्कृत में ही है। बौद्धों ने भी, जब प्राकृत-पाली की नवीनता नीरस हो चली, संस्कृत में ही अपने ग्रन्थ रचे। व्यावहारिक और सामाजिक जीवन पर भी उसका प्रभाव प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। सभी प्रान्तीय भाषाओं की आदि जननी संस्कृत ही है। तमिल और तेलुगु जैसी द्रविड़ भाषाओं पर भी संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। 'हिन्दू लॉ' की मूल भित्ति संस्कृत में लिखी स्मृतियाँ हैं। संस्कृत के आयुर्वेद और ज्योतिष-शास्त्र यदि सैकड़ों के जीविकोपार्जन के मार्ग हैं तो असंख्य दीन-दुखियों के स्वास्थ्य और सुख के साधन भी हैं। संस्कृत साहित्य में बिखरी हुई अनेक सूक्तियाँ व्यवहार में प्रतिदिन प्रयुक्त होती रहती हैं। संस्कृत साहित्य 'जीवित' साहित्य है और दूसरों को जीवन प्रदान करने की क्षमता रखता है। इसी साहित्य की उत्कृष्टता ने जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों के मनीषियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। पिछले दो वर्षों में इन

विदेशी विद्वानों द्वारा संस्कृत वाङ्मय का जो अनुशीलन एवं अनुसन्धान हुआ है, उसने संसार के सम्मुख इस साहित्य के महत्त्व को पूर्णतया प्रतिष्ठित कर उसके अध्ययन की अजस्र धारा बहा दी है।

'संस्कृत' बोलचाल की जीवित भाषा

कुछ लोग सन्देह करते हैं कि संस्कृत का अध्ययन केवल ग्रन्थों तक ही सीमित था, पठन-पाठन में ही उसका प्रयोग होता रहता है, बोलचाल में उसका उपयोग प्राचीन काल में भी नहीं होता था। पर वस्तुस्थिति का अवलोकन करने पर पता चलता है कि यह धारणा भ्रान्त है। रामायण-महाभारत-काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा के रूप में प्रचलित थी।[१] 'रामायण' में इल्वल राक्षस, ब्राह्मण का रूप धारण कर संस्कृत बोलकर ही ब्राह्मणों को निमन्त्रित करता था। हनुमान् ने भी सर्वप्रथम अशोक-वाटिका में पहुँचकर सीता से किस भाषा में वार्तालाप किया जाय, इस विषय में बड़ा सोच-विचार किया और अन्त में संस्कृत में ही भाषण करने का निश्चय किया।[२] प्राचीन व्याकरण-शास्त्रों से भी संस्कृत का प्रचार सिद्ध होता है। यास्क (७वीं शताब्दी ईस्वी पूर्व) ने वैदिक संस्कृत से इतर संस्कृत को 'भाषा' कहा है, जिससे उसका बोली जानेवाली भाषा होना सूचित होता है। पाणिनि (४०० ई० पू०) ने संस्कृत को 'लौकिक' अर्थात् 'इस लोक में व्यवहृत' कहा है। उन्होंने दूर से बुलाने, प्रणाम और प्रश्नोत्तर करने में कुछ स्वर-सम्बन्धी नियम भी बतलाये हैं, जिनसे संस्कृत का प्रचलित होना प्रमाणित होता है। यास्क और पाणिनि ने संस्कृत बोली की 'पूर्वी' और 'उत्तरी' विशेषताएँ बताई हैं। इससे मालूम होता है कि संस्कृत केवल साहित्यिक भाषा ही नहीं थी, भिन्न-भिन्न स्थानों में बोली जाने के कारण उसमें स्थानीय विशेषताएँ भी आ गई थीं। कात्यायन का भी यही कथन है। इन प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी में हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के मध्यवर्ती समूचे प्रदेश में संस्कृत बोली जाती थी।[३] ब्राह्मणों के सिवाय अन्य वर्णों में भी उसका प्रचार था। 'महाभाष्य' में एक सारथी एक वैयाकरण के साथ 'भूत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विवाद करता है। संस्कृत बोलने वाले 'शिष्ट' (सभ्य) कहलाते थे। न बोलने वाले भी उसे समझते अवश्य थे। नाटकों के निम्न पात्र प्राकृतभाषी होते हुए संस्कृत में कही हुई उक्तियों का उत्तर-प्रत्युत्तर देते हैं। संस्कृत नाटकों से भी प्रमाणित होता है कि ये नाटक तभी खेले जाते होंगे जब साधारण जनता संस्कृत समझती होगी। हाँ, यह अवश्य है कि प्राचीन काल में संस्कृत उसी प्रकार शिक्षित

---

१. Keith and Grierson, JBRAS, 1906

२. वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ।५।३०।१७

३. R. G. Bhandarkar, JBRAS. 1885

एवं शिष्ट वर्ग की भाषा थी, जैसे आजकल खड़ीबोली है। साहित्यिक प्रसंगों में संस्कृत व्यवहृत होती थी। राजकार्य में भी बहुधा उसी का व्यवहार होता था। भारत के अन्य उपनिवेशों में भी संस्कृत का प्रचार हो गया था। प्राचीन चम्पा उपनिवेश (आधुनिक हिन्दचीन) में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक संस्कृत राजभाषा के रूप में बरती जाती रही।[1] सारांश यह है कि उस समय संस्कृत राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन थी। आज भी दक्षिण के कई ब्राह्मण-परिवारों में संस्कृत बोली जाती है।

भारतीय संस्कृति का आगार

भारत के प्राचीन इतिहास का सम्यक् पर्यालोचन संस्कृत साहित्य के अध्ययन के बिना नहीं हो सकता। प्राचीन शिलालेख प्रायः सभी संस्कृत में हैं। भारतीय पुरातत्त्व के लिए संस्कृत का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। संस्कृत साहित्य का इतिहास केवल भाषा का इतिहास नहीं, वह तो प्राचीन भारत के आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, व्यावहारिक एवं राजनीतिक जीवन का ज्वलंत चित्रण है।

संस्कृत साहित्य का मूल्य आँकने के लिए उसके इतिहास से परिचित होना बड़ा आवश्यक है। कालिदास, माघ, भवभूति की रचनाओं के कुछ अंश पढ़कर ही संस्कृत के विस्तृत साहित्य का परिचय प्राप्त नहीं किया जा सकता। संस्कृत साहित्य अत्यन्त व्यापक है। लौकिक-पारलौकिक सभी विषयों का उसमें सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन है। 'साहित्य' शब्द के अन्तर्गत जिन-जिन बातों का समावेश होता है, वे सभी उसमें मौजूद हैं। सन् १८४० में एलफिन्स्टन महोदय ने हिसाब लगाकर देखा था कि संस्कृत साहित्य में जितने ग्रन्थ हैं, उनकी संख्या ग्रीक और लैटिन के ग्रंथों की मिली हुई संख्या से कहीं अधिक है। संस्कृत साहित्य की विशालता आर्य-जाति से बौद्धिक उत्कर्ष की परिचायक है। भारतीय प्रतिभा का यह परम रमणीय परिणाम है। इस महादेश की हजारों वर्षों की चिरन्तन साधना का सर्वोत्कृष्ट सार इस साहित्य में संचित है।'

संस्कृत साहित्य का इतिहास पिछले चार हजार वर्षों में हमारे पूर्वजों के मानसिक एवं बौद्धिक विकास का इतिहास है। 'उसका प्रसार आर्य-जाति का भौगोलिक प्रसार है, उसकी संस्कृति की प्रगति है। जहाँ-जहाँ आर्य जाति की संस्कृति और वैभव फैले हैं, वहाँ-वहाँ संस्कृत भाषा का विस्तार हुआ है। जब तक आर्य जाति पूर्णतया पंगु न हो गई, तब तक वह बराबर इसी भाषा मे अपने विचार लिखती गई। चार सहस्र वर्षों तक निरन्तर उस जाति ने अपनी विलक्षण बुद्धि का जादू इस भाषा में उतारा। इस लम्बी अवधि के बीच आर्यों में एक-से-एक उत्कृष्ट मेधावी हुए,

एक-से-एक प्रकाण्ड मनीषी जन्मे, सबने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से संस्कृत को सजाया। अनीश्वरवादी जैनों, बौद्धों और लोकायतों ने भी उसे अपनी सरस्वती से सरस किया।' यदि किसी देश का साहित्य उसकी संस्कृति का द्योतक है, तो संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का निर्मल दर्पण है। उसमें अपने अतीत गौरव की झाँकी कर हम आज भी गर्व से अपना मस्तक ऊँचा उठा सकते हैं। कुछ लोग कह सकते हैं कि 'यदि इस साहित्य का प्रभाव हमारे जीवन पर नहीं पड़ता तो लाभ ही क्या ? गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या फायदा ?' किन्तु वे इस बात का विचार नहीं करते कि किसी भी देश के भूत और वर्तमान में अटूट सम्बन्ध है। संस्कृत के ग्रंथ हमारे लिए किसी समय जीवित साहित्य थे। बचपन से हमारे कानों में उन्हीं की कहानियाँ सुनाई पड़ती रही हैं, खेलों में हम उन्हीं को खेलते थे, गीतों में हम उन्हीं को सुनते थे, नाटकों में हम उन्ही को देखते थे। प्राचीन काल में संस्कृत साहित्य की धारा अनवरत गति से चली आ रही है। संस्कृत साहित्य की सहस्रों वर्षो की धारावाहिक रचना के सामने अंग्रेजी के साहित्य की धारावाहिकता कितनी अल्प है! विद्याव्यसनियों के लिए तो हमारे शास्त्र, इतिहास, पुराण और काव्य अनुसन्धान के लिए अपार क्षेत्र उपस्थित करते हैं।

जिस साहित्य के ग्रंथों की संख्या, अधिकांश नष्ट हो जाने पर भी, पचास हजार से ऊपर चली गयी है, जिस साहित्य की रचना, पठन-पाठन और चिन्तन में भारत के एक-से-एक श्रेष्ठ मस्तिष्क शताब्दियों तक लगे रहे हैं और आज भी जिस साहित्य का भव्य आलोक पाने के लिये देश-विदेशों के मनीषिगण लालायित हैं, उस साहित्य के अध्ययन के लिए प्रत्येक भारतीय के हृदय में जिज्ञासा होनी ही चाहिए। प्रसन्नता की बात है कि भारत सरकार ने संस्कृत को पुनः महत्ता प्रदान की है। आकाशवाणी से संस्कृत में समाचार प्रसारित होते हैं और केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय के अन्तर्गत संस्कृत संस्थान की स्थापना की गई है।

इतिहास का विभाजन

संस्कृत साहित्य का इतिहास दो भागों में बाँटा जा सकता है **वैदिक संस्कृत-काल**, जिसका समय लगभग २५०० से ५०० ई० पू० था, और बाद का **लौकिक संस्कृत-काल**। वैदिक संस्कृत से तात्पर्य वेदों में प्रयुक्त संस्कृत से है। लौकिक संस्कृत से अभिप्राय उस भाषा से है जो वेदों के बाद रचे गये ग्रन्थों में पायी जाती है तथा जो पाणिनि-व्याकरण के नियमों का अनुसरण करती है। वैदिक और लौकिक संस्कृत में भाषा, व्याकरण, छन्द और स्वर की दृष्टि से बड़ा भेद है। स्वयं वैदिक साहित्य का इतना विस्तार है कि उस पर अंग्रेजी में कई स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य लौकिक संस्कृत का परिचय कराना है। लौकिक संस्कृत के काव्यों के अतिरिक्त व्याकरण, कोष, अलंकार, गणित, संगीत, ज्योतिष, दर्शन, आयु-

वेद, धर्मशास्त्र आदि वैज्ञानिक विषयों के ग्रंथ भी रचे गये हैं। किन्तु इन सब विषयों का विवेचन इस पुस्तक के लघु कलेवर में होना असम्भव है। अतएव लौकिक संस्कृत के काव्य-साहित्य की रूपरेखा का आभास कराना ही इस ग्रंथ का लक्ष्य है। 'काव्य-साहित्य' का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ मे किया गया है। उसके अन्तर्गत महाकाव्य, नाटक, गद्य-साहित्य, गीतिकाव्य, ऐतिहासिक काव्य, चम्पू, नीतिकाव्य आदि सभी का समावेश अभिप्रेत है। इस काव्य-साहित्य का श्रीगणेश 'रामायण' और 'महाभारत' से होता है। अतः पुस्तक का आरम्भ भी इन्हीं महाकाव्यों के विवेचन से किया जा रहा है।

२

रामायण और महाभारत

'रामायण' और 'महाभारत' हमारे प्राचीन इतिहास-पुराण (एपिक्स) है। प्रधान कथा के अतिरिक्त उनमें अनेक आख्यान भी हैं। 'महाभारत' में इन आख्यानों की संख्या 'रामायण' की अपेक्षा अधिक है। आख्यानों का मूल रूप ऋग्वेद-संहिता के संवादात्मक सूक्तों में पाया जाता है। 'आख्यान', 'इतिहास' और 'पुराण' ये शब्द 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में भी मिलते हैं। सूत्र-ग्रन्थों से पता चलता है कि श्रौत एवं गृह्य कृत्यों के समय इन वैदिक आख्यानों का प्रवचन तथा श्रवण हुआ करता था। अश्वमेध आदि दीर्घ सूत्रों के अवकाश-काल में कई देवताओं और वीरों के आख्यान सुनने की प्रथा प्रचलित थी।[1] समय पाकर इस प्रकार की कथाओं पर आख्यानों के कई संग्रह भी हो गये; उदाहरणार्थ, 'सुपर्णाख्यान', जिसमें कद्रू और विनता—सर्पों और गरुड़ की माताओं—की शत्रुता का आख्यान वर्णित है।

पंचम वेद—बाद के वैदिक ग्रन्थों मे इतिहास-पुराण 'पंचम वेद'[2] माने गये है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक काल में, संहिताओ के अतिरिक्त, ऐसे कई आख्यानों के संग्रह थे, जिनमें देवताओं, राक्षसों, नागों, ऋषियों तथा राजाओं की कथाएँ संकलित थी। किन्तु यह बताना कठिन है कि वे उस काल में लिपिबद्ध ग्रन्थों के रूप में थी अथवा केवल मौखिक रूप में प्रचलित थीं। इस प्रकार की कथाओं और आख्यानों को सुनानेवाले 'ऐतिहासिक' और 'पौराणिक' कहलाते थे।

गाथा नाराशंसी

इन आख्यानों और कथाओं का क्रमशः इतना विस्तार होता गया कि गौतम बुद्ध से पहले ही उसका बृहत् संग्रह हो चुका था। ये कथाएँ गद्य-पद्य दोनों में थीं। 'रामायण' और 'महाभारत', जैन और बौद्धों के पुराण तथा जातक ग्रन्थ इन्हीं कथाओं से भरे पड़े हैं। समय पाकर इन कथाओं में वीरों की स्तुतियाँ भी जोड़ दी गईं, जिन्हें 'गाथा नाराशंसी'[3] कहते हैं। वीरों की इन स्तुतियों का स्वरूप शीघ्र ही बृहत्कथा

---

१. शतपथ ब्राह्मण १३।४।३, शांखायन गृह्यसूत्र १।२२।११ आदि
२. छान्दोग्य उपनिषद् ७।१
३. शतपथ ब्रा० ११।५।६।८, आश्वलायन गृह्य० ३।३

हो गया, और इसी 'नाराशंसी' गाथाओं की प्रणाली का विकास 'रामायण', 'महाभारत' आदि ग्रन्थों में पाया जाता है।

'रामायण' और 'महाभारत' जब ग्रन्थ रूप में लिपिबद्ध हुए, उसके बहुत पहले से ही लोग कौरव-पाण्डव-युद्ध तथा रामचरित-सम्बन्धी गीतों को गाते रहे होंगे। यह भी सम्भव है कि इन विषयों के अतिरिक्त अन्य राजवंशों तथा वीरों की गाथाओं का गान भी होता रहा हो। इस प्रकार की अनेक कथाएँ स्वयं रामायण-महाभारत में ही पाई जाती है।

इन वीर-स्तुतियों के रचयिता तथा प्रचारक 'सूत' कहलाते थे। वे इनको उत्सवों पर राजाओं के सामने सुनाया करते थे। इन्ही सूतों की जाति-विशेष[1] में 'रामायण' और 'महाभारत' के आख्यानों की उत्पत्ति हुई। सूतों के अतिरिक्त एक ऐसा भी वर्ग था, जो इन स्तुतिया का कंठस्थ करके स्थान-स्थान पर जाकर उन्हें गाकर सुनाया करता था। यह वर्ग 'कुशीलव'[2] कहलाता था। इन्हीं कुशीलवों ने 'रामायण' और 'महाभारत' का जनता मे प्रचार किया।

किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि सूतों और कुशीलवों द्वारा गाई जाने वाली इन्हीं वीर-स्तुतियो का संग्रह करके किसी महान् कवि या संग्रहकार ने उन्हें 'रामायण' और 'महाभारत' का रूप दे डाला। वास्तव में 'रामायण' और 'महाभारत' कई शताब्दियों में रची जानेवाली कविताओं एवं वीर-स्तुतियों के संग्रह हैं, जिनमें समय-समय पर नाना प्रकार के प्रक्षेपों और परिवर्तनों का समावेश होता रहा है। 'रामायण' और 'महाभारत' में प्राचीन पौराणिक कथाओं का केवल विस्तृत रूप ही नहीं है, अपितु उनमें काव्य-कौशल, धर्म, राजनीति, सदाचार, दर्शन, इतिहास आदि सभी विषयों का बड़ा सूक्ष्म एवं सुन्दर विवेचन भी है। लौकिक संस्कृत साहित्य के वे प्रमुख आकर-ग्रन्थ हैं। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के समुज्ज्वल दीप-स्तम्भ हैं।

रामायण

वाल्मीकि-कृत 'रामायण' मे मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के जीवन का काव्यमय वर्णन है। उसकी वर्तमान-प्रति मे सात कांड हैं, जिनमें कुल २४,००० श्लोक हैं। यद्यपि 'वाल्मीकि-रामायण' का प्रचार सम्पूर्ण भारत में है, तथापि सब प्रान्तों में 'रामायण' का पाठ एक-सा नही है। पाठ-भेद के अतिरिक्त 'रामायण' की कुछ प्रतियों में कई ऐसे श्लोक, वृत्तान्त और सर्ग-के-सर्ग पाये जाते हैं, जिनका अन्य प्रतियों में अस्तित्व ही नहीं है। 'रामायण' के मुख्यतया तीन संस्करण हैं, जिनका

---

१. मनुस्मृति १०।११, ५७

प्रचार भारत के भिन्न-भिन्न भागों में है—(१) दाक्षिणात्य संस्करण जिनमें बम्बई और मद्रास से प्रकाशित रामायणें गिनी जाती हैं; (२) कलकत्ता से प्रकाशित बंगीय या गौड़ीय संस्करण तथा (३) होशियारपुर से प्रकाशित पश्चिमोत्तरीय संस्करण। प्रत्येक संस्करण में ऐसे अनेक श्लोक है जो अन्य संस्करणों में नही पाये जाते। जो श्लोक तीनों में पाये जाते हैं, उनमें दाक्षिणात्य पाठ ही अपेक्षाकृत प्राचीन और मौलिक माना जाता है। इन संस्करणों में पाठ-भेद का प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि 'रामायण' आरम्भ मे लिखित रूप में नही थी। स्तुति-पाठकगण 'रामायण' की कथा कंठाग्र ही सुनाते थे और सम्भव है कि इस प्रकार कई शताब्दियों बाद श्लोकों के क्रम में परिवर्तन हो गया हो। अतएव ग्रन्थ लिखने के समय रामायण के परस्पर भिन्न पाठ भी उसी रूप में लिख लिए गये हों जिस रूप में भिन्न-भिन्न प्रान्तों के स्तुति-पाठकगण उन्हें सुनाया करते थे। फिर भी मुख्य कथानक की दृष्टि से इन संस्करणों में मौलिक भेद नही है।

रामायण के प्रक्षिप्त अंश—लोकप्रिय होने के कारण 'रामायण' मे निरन्तर कुछ-न-कुछ प्रक्षेप होते हैं। उसके प्रायः सभी आलोचकों का मत है कि बालकांड और उत्तरकांड मूल ग्रन्थ में नहीं थे, वे बाद में जोड़ दिये गये। प्रो० याकोबी के मतानुसार, 'रामायण' के मूल पाठ में अयोध्याकांड से युद्धकांड तक पाँच ही कांड थे। युद्धकांड के अन्त में दी गई फलश्रुति से रामायण की समाप्ति वहीं पर स्पष्ट जान पड़ती है। उत्तरकांड की रचना-शैली अन्य प्रामाणिक कांडों की शैली से भिन्न है। उसकी आधी से अधिक सामग्री रामचरित से सम्बन्ध नहीं रखती, और जो सम्बन्ध रखती है उसमें, भी एकता नहीं है। उत्तरकांड में अन्य कांडों को देखते हुए पुनरुक्ति-दोष तथा विरोधी बातें भी मिलती हैं। उदाहरणार्थ, युद्धकांड के अन्तिम सर्ग में सुग्रीव, विभीषण आदि के चले जाने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है; फिर भी उत्तरकांड में पुनः उनके प्रस्थान का बर्णन किया गया है (सर्ग ४०)। उत्तरकांड के १७वें सर्ग में वेदवती की कथा आती है, जिसके अनुसार सीता अपने पूर्व जन्म में वेदवती ही थीं। यदि वह वृत्तान्त प्रक्षिप्त न होता तो उसका उल्लेख 'रामायण' के अन्य कांडों में, जहाँ सीता-जन्म का प्रसंग आया है, अवश्य किया जाता। साथ ही, यह भी उल्लेखनीय है कि महाभारत के 'रामोपाख्यान' में तथा संस्कृत के अनेक राम-काव्यों में उत्तरकांड की कथा वर्णित नहीं है।

बालकांड की शैली भी बहुत-कुछ उत्तरकांड की शैली जैसी है। उसका भी प्रायः आधा भाग रामचरित से सम्बन्ध नहीं रखता। उसकी भी अनेक उक्तियाँ बाद के पाँच कांडों से मेल नहीं खातीं। उदाहरणार्थ, बालकांड में लक्ष्मण और ऊर्मिला का विवाह वर्णित है, किन्तु अरण्यकांड में शूर्पणखा के प्रसंग में लक्ष्मण को अविवाहित

(अकृतदारः) बताया गया है। केवल बालकांड और उत्तरकांड में राम हमारे सामने विष्णु के अवतार के रूप में आते हैं। अन्य कांडों में, कुछ प्रक्षिप्त स्थानों को छोड़कर,[१] वे एक आदर्श मानवीय महापुरुष की भाँति ही चित्रित किये गये हैं। इन प्रक्षिप्त दो कांडों में महाभारत की भाँति, कथानक का स्वाभाविक प्रवाह भी आनुषंगिक आख्यानों से बहुधा अवरुद्ध हो गया है। अन्य कांडों में ऐसे आख्यानों की संख्या बहुत थोड़ी है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अयोध्याकांड से युद्धकांड तक प्रक्षिप्त अंश हैं ही नहीं। इन पाँचों कांडों में भी कई प्रक्षेप हैं, पर वे भिन्न प्रकार के हैं। इन प्रक्षेपों की सृष्टि सूतों और कुशीलवों द्वारा हुई, जिन्होंने इन कांडों के हृदयग्राही अंशों का विस्तार कर दिया। जब सहृदय श्रोतागण दशरथ, कौसल्या या सीता के करुण विलापों का वर्णन सुन नेत्रों से अश्रु विमोचन करने लगते, या राम-रावण के प्रचंड पराक्रमपूर्ण युद्ध-वर्णन से प्रभावित होने लगते, अथवा नीतियुक्त या शील-सौन्दर्य-परिचायक उक्तियों पर मंत्र-मुग्ध होने लगते, तब इन कुशीलवों को वाग्विस्तार और अपनी कल्पना के प्रसार का अच्छा अवसर मिल जाता। इस प्रकार 'रामायण' के प्रक्षेपो की सृष्टि हुई।

'महाभारत' की भाँति 'रामायण' का नियत रूप लेखबद्ध होने पर ही निर्धारित हो सका। परन्तु यह तभी हुआ होगा जब 'रामायण' इतनी प्रसिद्ध हो गई होगी कि उसका श्रवण और पारायण पुण्य-कर्म माना जाने लगा[२] और उसे लिपिबद्ध करने वाला स्वर्ग का अधिकारी समझा जाने लगा।[३] इसलिए 'रामायण' के प्रथम संग्रह-कर्त्ताओं तथा संपादकों के समक्ष जो कुछ भी 'रामायण' के नाम से निर्दिष्ट सामग्री प्रस्तुत की गई, उसका उन्होंने स्वागत किया और उसे आलोचक की दृष्टि से नहीं, अपितु भक्ति-भावनापूर्वक लिखित रूप दिया। यदि सम्पूर्ण भारतवर्ष के प्रचलित पाठ-भेदों को छोड़ दिया जाय तो 'रामायण' के मूल रूप का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसा करने से 'रामायण' के २४,००० श्लोकों में से केवल एक चौथाई शेष बच रहते हैं।

रामायण का समय—'रामायण' के कर्त्ता महर्षि वाल्मीकि भारतीय परम्परा और 'रामायण' के अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर राम के समकालीन थे और उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना राम के राज्यकाल में ही कर ली थी। पार्जिटर महोदय

---

१. उदाहरणार्थ—युद्धकांड के अन्त में सीता के अग्नि-प्रवेश करने पर सब देवता घटनास्थल पर आकर राम की विष्णु के रूप में स्तुति करते हैं।

२. आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।
यः शृणोति सदा लोके नरः पापात्प्रमुच्यते ॥ रा० ६।१२८।१०६

३. भक्त्या रामस्य ये चेमां संहितामृषिणा कृताम्।
ये लिखन्तीह च नरास्तेषां वासस्त्रिविष्टपे ॥ रा० ६।१२८।१२०

के अनुसार राम १६०० ई० पू० में हुए थे। किन्तु आधुनिक अन्वेषकों ने 'महाभारत' के द्रोणपर्व और शान्तिपर्व तथा अन्य निर्देशों से अनुमान लगाया है कि 'वाल्मीकि-रामायण' से पूर्व भी राम-कथा-सम्बन्धी आख्यान प्रचलित थे, जिनके आधार पर वाल्मीकि ने अपनी 'रामायण' की रचना की। उनके अनुसार प्रारम्भ में उसका कलेवर छोटा था और समय के प्रवाह में वह बढ़ता गया। इस कार्य में कई शताब्दियों का समय लगा होगा।

'रामायण' का रचना-काल निर्धारित करते समय उसके इन दो रूपों को स्पष्ट रूप से सामने रखना होगा—एक तो मौलिक 'रामायण' जो कि वाल्मीकि की प्रक्षेप-रहित प्रामाणिक रचना है और दूसरी वर्तमान प्रचलित 'रामायण' जिसमें अनेक प्रक्षिप्त अंश भी हैं। इन दोनों का अलग-अलग रचनाकाल था। अधिकांश यूरोपीय विद्वानों के अनुसार प्रचलित रामायण का रूप द्वितीय शताब्दी ईस्वी के बाद का नहीं है। मूल 'रामायण' की रचना के विषय में यह उल्लेखनीय है कि वाल्मीकि की प्रामाणिक कृति में बौद्ध धर्म की ओर संकेत नहीं मिलता। अतः उसकी रचना बुद्ध से पूर्व ही, अर्थात् पांचवी शताब्दी ईस्वी पूर्व में हो चुकी होगी। याकोबी मूल 'रामायण' का काल ८००-६०० ई० पू० मानते हैं। इसी समय के निकट परवर्ती ग्रन्थकार पाणिनि, भास, कौटिल्य और पतंजलि 'रामायण' के मुख्य कथानक से परिचित प्रतीत होते हैं। मूल 'रामायण' की रचना पाणिनि से भी पहले की जान पड़ती है, क्योंकि उसमें ऐसे अनेक आर्ष प्रयोग पाये जाते हैं जो पाणिनीय व्याकरण से मेल नहीं खाते। पाणिनि ने 'रामायण' में आये हुए कई नामों की व्युत्पत्ति भी समझाई।

जहाँ तक 'रामायण' और 'महाभारत' के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न है यह असंदिग्ध है कि 'रामायण' की कथा 'महाभारत' की कथा की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि 'रामायण' की भाषा और शैली परिष्कृत और अलंकृत है, जबकि 'महाभारत' की भाषा और शैली में ऊबड़खाबड़पन अधिक है। इससे विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'रामायण' मे एक पूर्ववर्ती कथानक को 'महाभारत' की अपेक्षा अधिक परवर्ती भाषा और शैली में चित्रित किया गया है।

'रामायण' में एक ही स्थल है जहाँ गौतम बुद्ध का उल्लेख[1] मिलता है पर वह प्रक्षिप्त है, अतः मान्य नहीं हो सकता। बेबर आदि कतिपय पाश्चात्य मनीषियों का यह मत कि 'रामायण' किसी बौद्ध पौराणिक गाथा के आधार पर रची गयी है, सर्वथा निर्मूल एवं भ्रान्त है। सम्पूर्ण 'रामायण' में बौद्ध प्रभाव खोजने पर भी नहीं

---

१. 'यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।' २.१०९।३४; यह श्लोक सब प्रतियों में नहीं पाया जाता।

मिलेगा। इसके विपरीत बौद्ध धर्म पर ही 'रामायण' का प्रभाव प्रमाणित होता है। जिन दिनों 'त्रिपिटक' (बौद्ध-ग्रन्थ) का संकलन हुआ था, उन दिनों राम की कथा अवश्य प्रचलित रही होगी। 'दशरथ-जातक' इत्यादि कथाओं में इसके प्रमाण है। पहली शताब्दी ई० के बौद्ध कवि अश्वघोष की रचनाओं में 'रामायण' से मिलते-जुलते अंश हैं। इसी समय के जैन कवि विमलसूरि ने 'रामायण' की कथा के आधार पर 'पउमचरिय' नामक प्राकृत-काव्य लिखा था।

आदि-काव्य रामायण—'रामायण' संस्कृत साहित्य का आदि-महाकाव्य है। ऐतिहासिक काल के अरुणोदय में रचे जाने पर भी यह ग्रन्थ अनुपम और अद्वितीय है। भारतीय साहित्य के इतिहास में वह शुभ दिन चिरस्मरणीय रहेगा जब तमसा के तट पर महर्षि वाल्मीकि के कण्ठ से यह करुणामयी वाग्धारा फूट पड़ी थी—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

भारतीय संस्कृति का जैसा समुज्ज्वल, सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्र इस महाकाव्य में अंकित हुआ है, वैसा संसार के किसी अन्य देश के 'महाकाव्य' में वहाँ की संस्कृति का चित्र शायद ही उतरा हो। 'मनुष्य के चूड़ान्त आदर्श की स्थापना के लिए ही महर्षि वाल्मीकि ने इस महाकाव्य की रचना की है। इस 'रामायण' की कथा से भारत के जनसाधारण, आबाल-वृद्ध-वनिता केवल शिक्षा ही नहीं पाते, आनन्द भी पाते हैं; केवल उसे शिरोधार्य ही नहीं करते, हृदय में भी रखते हैं और यह उनका केवल धर्मशास्त्र ही नहीं, काव्य भी है।'

'रामायण में महाकाव्यों के सभी प्रमुख लक्षण—विषय की उदात्तता, घटनाओं का वैचित्र्यपूर्ण विन्यास तथा भाषा का सौष्ठव—पाये जाते हैं। विद्वानों ने उसकी रचना-शैली, विचारों की मनोहरता तथा रमणीय दृश्यों के चित्रण के कारण अलंकृत शैली के काव्यों में 'रामायण' को प्रथम स्थान दिया है। 'रामायण' में होमर, वर्जिल और मिल्टन की अपेक्षा कहीं अधिक भाषा का गाम्भीर्य, छन्दों का औचित्य और रसों का परिपाक है। इस महाकाव्य में मानव अन्तःप्रकृति का जैसा स्वाभाविक सूक्ष्म एवं सुन्दर विश्लेषण हुआ है, वैसा ही बाह्य प्रकृति के दृश्यों का भी सजीव और यथातथ्य चित्रण हुआ है। मानव मनोवृत्तियों का जैसा व्यापक और विशद निरूपण उसमें हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय सभ्यता का वह इतिहास-ग्रन्थ भी है, किन्तु वह आधुनिक इतिहास ग्रन्थों के समान एकमात्र घटनावलियों या तिथियों का इतिहास नहीं अपितु भारतीय संस्कृति और सभ्यता का चिरन्तन आदर्श ग्रंथ है।

'रामायण' से पूर्व लौकिक छन्द का मानो अवतार ही नहीं हुआ था—'आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः'। 'वाल्मीकि-रामायण' हमारे देश के प्रायः प्रत्येक युग

के बड़े कवियों और नाटककारों का आदर्शभूत ग्रन्थ रहा है—'मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः'। संसार में इस प्रकार का लोकप्रिय काव्य-ग्रंथ मिलना कठिन है। सारा भारत उसे एक स्वर में पवित्र और आदर्श काव्य-ग्रन्थ स्वीकार करता है। भारतीय साहित्य इस महाकाव्य से अत्यधिक अनुप्राणित हुआ है। क्या कालिदास और भवभूति जैसे प्राचीन महाकवियों की रचनाओं पर, क्या मध्यकालीन गोस्वामी तुलसीदास के लोकसाहित्य पर और क्या समग्र भारतीय लोक-जीवन पर उसका प्रभाव अक्षुण्ण रूप से पड़ा है।

कवीन्दुं नौमि वाल्मीकिं यस्य रामायणीं कथाम्।
चन्द्रिकामिव चिन्वन्ति चकोरा इव साधवः॥

रामायण का सांस्कृतिक महत्त्व—जिस प्रकार 'रामायण' नैतिक आदर्शों का भंडार है, उसी प्रकार वह एक महत्त्वपूर्ण मानवीय समाज-शास्त्र भी है, जो सहस्रों वर्ष पूर्व के भारतीय आर्यों के जीवन-यापन का सजीव वर्णन उपस्थित करता है। उसके प्रत्येक पृष्ठ पर तत्कालीन युग की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बिखरी पड़ी है। उस समय आर्य तथा अन्य जाति के लोगों का आहार कैसा था? क्या वे मांस-मदिरा को त्याज्य समझते थे? उनकी वेशभूषा कैसी होती थी? लोग अपना मनोरंजन कैसे करते थे? उनके रीति-रिवाज क्या थे? नगर-निर्माण, शासन-व्यवस्था, युद्ध-संचालन, अस्त्र-शस्त्र, यातायात के साधन इत्यादि कैसे थे? किन कला-कौशलों का अनुशीलन होता था? समाज का संगठन कैसा था? विवाह और प्रेम का आदर्श क्या था? स्त्रियों के साथ समाज कैसा व्यवहार करता था? शिक्षा का क्या महत्त्व है और कितना विस्तार था? उसके लक्ष्य और आदर्श क्या थे? जीवन के प्रति लोगों का क्या दृष्टिकोण था? उनकी लौकिक एवं पारलौकिक महत्त्वाकांक्षाएँ क्या थीं? इन प्रश्नों का उत्तर यदि 'वाल्मीकि-रामायण' में ढूंढ़ा जाय तो निश्चय ही हमारा अध्ययन अत्यन्त रोचक, हृदयग्राही और ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा; 'रामायण' का एक सर्वथा मौलिक, नवीन, अद्भुत एवं सर्वजनप्रिय स्वरूप पाठकों के समक्ष उपस्थित होगा। समस्त संसार में कहीं भी किसी जाति ने अपने विषय में जानकारी की ऐसी विस्तृत सामग्री नहीं छोड़ी जैसी प्राचीन भारत के आर्यों ने छोड़ी है। अपनी संस्कृति के विषय में जो तथ्य उन्होंने वेदों, इतिहास-पुराणों, दर्शन-ग्रन्थों और काव्यों में लिपिबद्ध किये हैं, उनके आधार पर हमें उनके जीवन का जैसा सूक्ष्म, घनिष्ठ और विषद परिचय प्राप्त होता है वैसा अपने समकालीन व्यक्तियों का भी प्राप्त होना कठिन है।[1]

---

१. 'रामायणकालीन समाज और संस्कृति'

महाभारत

यह सभी जानते हैं कि 'महाभारत' में कौरवों और पांडवों के युद्ध का वर्णन है। किन्तु उन्होंने जिस महाग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़ा है, वे स्वीकार करेंगे कि 'महाभारत' केवल इस युद्ध की कहानी नहीं है। उसका बहुत-सा अंश कौरव-पांडव-युद्ध से किसी प्रकार भी सम्बद्ध नहीं है। समय के दीर्घ प्रवाह में मूल कथा के चारों ओर अनेक अन्य आख्यानों का एक बहुत बड़ा जमघट-सा लग गया। यह सब परिवर्तन-परिवर्धन किस प्रकार हुआ, इसकी चर्चा संक्षेप में पहले कर लेना आवश्यक है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है[1] कि 'महाभारत'-युद्ध का वर्णन पहले वीर-गीतों के रूप में प्रचलित रहा होगा। सम्भव है कि किसी महान् कवि ने इन गीतों का संग्रह करके उन्हें एक वीर-रसात्मक काव्य का स्वरूप दे डाला होगा। यही वीर-काव्य 'महाभारत' का मूल रूप या बीज कहा जा सकता है। किन्तु सैकड़ों वर्षों में इस वीर-काव्य के चारों ओर विभिन्न विषयों और वृत्तान्तों का जाल-सा बिछ गया। पहले तो 'महाभारत'-युद्ध के प्रधान पात्रों के आरम्भिक-जीवन का वृत्त तथा उनके अनेक पराक्रमों का विस्तृत वर्णन इसमें जोड़ दिया गया। इसी सिलसिले में और भी कई वीरों की गाथाओं का इसमें समावेश हो गया। ये गाथाएँ सूतों द्वारा गाई जाती थीं। इस प्रकार 'महाभारत' केवल वीर-काव्य ही नहीं रह गया वरन् प्राचीन चारण-गीतों का प्रकांड संग्रह भी बन गया।

भारत के प्राचीन साहित्य के निर्माण में ब्राह्मणों का बड़ा हाथ रहा है। इसलिए ज्यों-ज्यों इन वीर गाथाओं का सर्व-साधारण में प्रचार बढ़ता गया त्यों-त्यों ब्राह्मण भी उन्हें अपने साँचे में ढालने के लिए उत्सुक होते गये। उन्होंने इन लौकिक गाथाओं में अपने धार्मिक, नैतिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश कर इसे एक धार्मिक ग्रन्थ का रूप दे डाला। इस प्रकार देवी-देवताओं के आख्यानों, ब्राह्मण-वर्ग के उपदेशों तथा दार्शनिक चर्चाओं ने 'महाभारत' की कलेवर-वृद्धि की। समाज की श्रद्धा प्राप्त करने के उद्देश्य से ब्राह्मणों ने इसमें ऋषि-महर्षियों के इतिहास भी भर दिये। किन्तु यह कार्य वेद-पारंगत ब्राह्मण विद्वानों का नहीं था। यदि ऐसा होता तो 'महाभारत' में भी यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप की भरमार होती। वास्तव में यह कार्य पुरोहितों और राजाओं के सभा-पंडितों द्वारा सम्पन्न हुआ। इन अल्पशिक्षित ब्राह्मणों ने स्थानीय आख्यानों तथा विष्णु और शिव की भक्ति के उपाख्यानों को छन्दोबद्ध करके 'महाभारत' में सम्मिलित कर दिया। ब्राह्मण-पुरोहित के अतिरिक्त एक वर्ग और भी था जिसने 'महाभारत' के निर्माण में योग दिया। यह वर्ग साधु,

१. Winternitz : History of Indian Literature, Vol. I. p. 317

संन्यासी, भिक्षुकों का था। इनका अपना अलग साहित्य था। इस साहित्य में साधु-सन्तों के चरित्रों का वर्णन था। त्याग, वैराग्य, दया, क्षमा, उदारता, करुणा आदि गुणों का प्रचार करना ही इस साहित्य का लक्ष्य था। इन गुणों के दृष्टान्त-स्वरूप अनेक पशु-पक्षियों, देव-दानवों, भूत-प्रेतों की कहानियाँ गढ़ डाली गईं। यह 'सन्त-साहित्य' भी 'महाभारत' का एक अंग बन गया।

अतएव 'महाभारत' कोई एक ग्रन्थ नहीं है। यह एक प्रकांड संग्रह-ग्रन्थ है। यह इसके प्रत्येक पर्व की पुष्पिका[1] से ही प्रमाणित होता है, जिसमें इसके लिए 'संहिता' अर्थात् संग्रह-ग्रन्थ का प्रयोग हुआ है। 'यह कवि-रूपी माली का यत्नपूर्वक सँवारा हुआ उद्यान नहीं है, जिसके लता-पुष्प-वृक्ष अपने सौन्दर्य के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं, बल्कि यह अपने-आपकी जीवनी-शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओं का अयत्न-परिवर्धित विशाल वन है जो अपनी उपमा आप ही है।' महाकाव्य या पुराणमात्र कहने से इसकी व्यापकता का बोध नहीं हो सकता। वास्तव में यह एक विशाल विश्व-कोष है जिसमें प्राचीन भारत की ऐतिहासिक, धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक आदर्शों की अमूल्य निधि संचित है। स्वयं 'महाभारत' में ही लिखा है कि वह सर्वप्रधान काव्य, सब दर्शनों का सार, स्मृति, इतिहास, चरित्र-चित्रण की खान और पंचम वेद है। जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, औषधों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त इतिहासों में यह 'भारत' श्रेष्ठ है।'[2] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ 'महाभारत' में कहा गया है, वही अन्यत्र है; जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है -

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

महाभारत के कर्ता—प्रसिद्ध है कि 'महाभारत' में एक लाख अनुष्टुप् छन्द है तथा इसके रचयिता महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास हैं। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि 'महाभारत' की रचना कई शताब्दियों में अनेक कवियों की लेखनी से हुई। इस मत के समर्थन में यह कहा जाता है कि 'महाभारत' में भाव और भाषा की एक-रूपता नहीं पाई जाती। पाश्चात्य विद्वान् हमारे आर्ष-ग्रन्थों को श्रद्धालु भारतीय दृष्टि से नहीं, बल्कि साहित्य के आलोचक की दृष्टि से देखते हैं। स्वयं 'महाभारत' में कहा गया है कि 'व्यास ने तीन वर्ष तक लगातार परिश्रम करके इस अद्भुत आख्यान

---

१. 'इति श्रीमन्महाभारते वैयासिक्यां शतसाहस्र्यां संहितायां……।'
२. १।१।२६१-६३

'महाभारत' की रचना की।'[1] व्यासदेव ने 'महाभारत' की कथा वैशम्पायन नामक अपने शिष्य को सुनाई। इस कथा को वैशम्पायन ने अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय को सर्पसत्र में सुनाया। बाद में लोमहर्षण के पुत्र सौति ने इस कथा का शौनकादि ऋषियों को तीसरी बार सुनाया। इस प्रकार 'महाभारत' को तीन बार तीन वक्ताओं ने तीन प्रकार के श्रोताओं को सुनाया था। साथ ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जो प्रश्नोत्तर वैशम्पायन और जनमेजय के बीच हुए होंगे, उनके कारण व्यास का मूल ग्रंथ कुछ अवश्य परिवर्धित हो गया होगा। इसी प्रकार सौति और शौनकादि ऋषियों के बीच जो संवाद हुए होंगे, उनसे वैशम्पायन के ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि हुई होगी। अतः व्यास के ग्रन्थ को वैशम्पायन ने बढ़ाया और वैशम्पायन के ग्रंथ को सौति ने बढ़ाकर एक लाख श्लोकों का कर दिया।

इस प्रकार 'महाभारत' के तीन रूपान्तर हुए। आरम्भ में व्यास ने जिस ग्रंथ की रचना की, उसका नाम 'जय' था। वैशम्पायन ने इसी को बढ़ाकर 'भारत' का नाम दिया। अन्त में सौति ने पूर्ण परिवर्धन करके इसे 'महाभारत' बना दिया। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार व्यास के 'जय' ग्रथ में केवल ८,८०० श्लोक थे, यद्यपि यह संख्या 'महाभारत' में आये हुए कूट श्लोकों की है।[2] वैशम्पायन के 'भारत' में श्लोकों की संख्या २४,००० हो गई—'चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्'। सौति ने 'भारत' में और भी अनेक आख्यानों और उपाख्यानों को जोड़कर तथा अठारह पर्वों में विभाजित कर उसे एक विशालकाय 'महाभारत' का रूप दे डाला। साथ ही उसमे 'हरिवंश' नाम का एक बृहत् परिशिष्ट भी जोड़ दिया। इस प्रकार 'महाभारत' एक लाख श्लोकों से युक्त होकर प्रकाण्ड ग्रन्थ हो गया।

किन्तु 'महाभारत' के अनुसार वास्तविक श्लोक-संख्या हरिवंश-सहित ९६,२४४ है, क्योंकि अनुक्रमणिकाध्याय में दी हुई सूची के अनुसार 'महाभारत' में कुल १९२० अध्याय और ८४,२४४ श्लोक है। खिलपर्व हरिवंश के १२,००० श्लोक और जोड़ दिये जायँ तो कुल ९६,२४४ श्लोक होते है। यही वर्तमान महाभारत की श्लोक-सख्या है। आजकल की कई प्रतियों में पूरे एक लाख तथा इससे भी अधिक श्लोक मिलते हैं।

महाभारत में प्रक्षेप[3]—'महाभारत' की कथा शताब्दियों तक सूतों की रचना

---

१. त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम्॥
२. अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥
३. Winternitz : H.I.L. Vol. I., p. 454-462.

पर फूलती फलती रही। मुख्य युद्ध का वर्णन संजय ने धृतराष्ट्र के सामने किया था। संजय भी सूत थे और सौति भी सूत-पुत्र ही थे। ये सूत स्वभावतः अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिए उनके मनोनुकूल ही बात कहते थे। संजय कौरवों के आश्रित थे, अतः जो युद्ध-वर्णन उन्होंने किया, उसमे पाण्डव ही अन्याय तथा छल का आश्रय लेकर कौरवों का संहार करते हुए चित्रित किये गये हैं। किन्तु वैशम्पायन ने पाण्डवों के वंशज जनमेजय को जो कथा सुनाई है, उसमें स्पष्ट रूप से पाण्डवों की प्रशंसा की गई है। इस वैषम्य के कारण 'महाभारत' में कई स्थानों पर परस्पर विरुद्ध उक्तियाँ मिलती हैं। भाषा, शैली और छन्द की दृष्टि से भी 'महाभारत' के भिन्न-भिन्न भागों में बड़ा अन्तर है। वैदिक आर्ष प्रयोग, पौराणिक कथा-शैली और अलंकृत काव्य-शैली, गद्य-पद्य और गद्य-पद्य मिश्रित स्थल, वैदिक त्रिष्टुप् और लौकिक अनुष्टुप् छन्द आदि सभी अनूठी बातें 'महाभारत' में पाई जाती हैं। सारांश यह है कि महाभारत एक हाथ का अथवा एक ही समय मे लिखा हुआ नहीं प्रतीत होता। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि 'महाभारत के प्रथम दो अध्यायों में जो विषय-सूची दी गई है वह आगे वाले अंशों में से मेल नहीं खाती।

महाभारत का समय—सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में भारत या 'महाभारत' का कोई उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु 'ब्राह्मण' ग्रंथों मे और वेदों में भी कुरु और पांचाल नामक दो झगड़ने वाला जातियों का वर्णन मिलता है तथा कुरुक्षेत्र, परीक्षित, जनमेजय, दुष्यन्त-पुत्र भरत, धृतराष्ट्र का भी उल्लेख है। शांखायन श्रौतसूत्र[१] में कुरुक्षेत्र के युद्ध का उल्लेख है जिसमें कौरवों का नाश हो गया। पाणिनि[२] ने युधिष्ठिर, भीम, विदुर तथा महाभारत इन शब्दों की व्युत्पत्ति समझाई है और पतंजलि (१५० ई० पू०) ने तो 'महाभारत' के युद्ध का स्पष्ट उल्लेख ही किया है। अतः यह सिद्ध है कि 'महाभारत' के कुछ आख्यान तथा उसका मूल ऐतिहासिक कथानक उत्तर-वैदिक काल (लगभग १००० ई० पू०) में प्रचलित हो चुका था।

यूरोपीय विद्वानों का कथन है कि 'महाभारत' का वर्तमान रूप ईसा की चौथी शताब्दी तक निर्धारित हो चुका था। इसके समर्थन में वे कुछ शिलालेखों तथा साहित्यिक प्रमाणों का आश्रय लेते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक कुमारिल भट्ट (७०० ई०) ने 'महाभारत' को व्यास-रचित एक महान् स्मृति-ग्रन्थ माना है तथा अपने ग्रन्थों में प्रायः सभी पर्वों के उद्धरण दिये हैं। सुबन्धु और बाणभट्ट[३] (६००-६४० ई०) भी महाभारत के काव्य-रूप से परिचित हैं। कम्बोडिया के ६०० ई० के एक शिलालेख

---

१. १५।१६
२. ८।३।९५; ३।२।१६२; ६।२।३८
३. हर्षचरित के आरम्भ के पद्य ४-१०

से यह प्रमाणित होता है कि छठी शताब्दी में 'महाभारत' का प्रचार भारत के बाहर दूसरे देशों में भी हो चुका था। ४५०-५०० ई० के आसपास के कई दानपत्र मिलते हैं, जिनमें 'महाभारत' के श्लोक शास्त्रीय प्रमाण मानकर उद्धृत किये गये हैं। ४४२ ई० के गुप्तकालीन एक लेख में 'महाभारत' का उल्लेख 'शतसाहस्र्यां संहितायां' इस प्रकार किया गया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह कहा जाता है कि 'महाभारत' का वर्तमान रूप ४०० ई० पूर्व तक स्थिर हो चुका था।[1]

इसके विपरीत श्रीयुत चिन्तामणि विनायक वैद्य महोदय ने अपनी पुस्तक 'महाभारत-मीमांसा' में एक ऐसे प्रबल प्रमाण का उल्लेख किया है जिसके आधार पर महाभारत का रचना-काल और भी कई सौ वर्ष पहले का स्थिर होता है। वैद्य महोदय का कहना है कि हाप्किंस जैसे विद्वानों को डायो क्रायसोस्टोम नामक उस यूनानी लेखक के विषय में कुछ भी पता नहीं, जो सन् ५० ई० में दक्षिण के पांड्य देश में आया था। उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि भारत में एक लाख श्लोकों का 'इलियड' है। इसमें सन्देह नहीं कि इलियड से उसका अभिप्राय 'महाभारत' से ही है।[2] मलाबार जैसे सुदूर प्रान्त में उक्त यूनानी लेखक को इस एक लाख श्लोकों वाले महाग्रन्थ का पता चला, इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय 'महाभारत' का प्रचार समूचे भारत में हो चुका था तथा उसकी रचना ५० ई० के पूर्व हो गई थी। अतः 'महाभारत' के समय की नीचे की मर्यादा ईस्वी सन् के बाद की नहीं हो सकती। 'महाभारत' में बुद्ध और बौद्ध-धर्म सम्बन्धी कई सिद्धान्तों का तथा यवनों (यूनानियों) का भी उल्लेख कई बार आया है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'महाभारत' का रचना बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति और विस्तार तथा सिकन्दर के आक्रमण (३२० ई० पू०) के बाद ही हुई होगी। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'महाभारत' का एक लाख श्लोकों वाला वर्तमान रूप ३२० ई० पू० से लेकर ५० ई० के बीच में निर्धारित हो चुका था।

रामायण और महाभारत पर तुलनात्मक दृष्टि

'रामायण' और 'महाभारत' दोनों भारतवर्ष के प्राचीन पौराणिक ग्रन्थ हैं, जिनका देश के जातीय जीवन पर, जनता के धार्मिक और नैतिक विचारों पर तथा साहित्य के विभिन्न अंगों पर अपरिमित प्रभाव पड़ा है। दोनों के वीर महापुरुषों और

---

१. Hopkins in Cambridge History of India Vol. I, p. 258 and S. Levi in Journal Asiatique, 1915, p. 122.

२. विन्टरनिट्ज महोदय का यह अनुमान कि डायो का अभिप्राय इलियड के भारतीय अनुवाद से है, सर्वथा भ्रान्त एवं निराधार है।

वीरांगनाओं का ऐतिहासिक अस्तित्व हमारे देश में श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उसी निःसंदिग्ध रूप से मान लिया गया है, जिस प्रकार इस युग के राणा प्रताप, शिवाजी आदि व्यक्तियों का अस्तित्व ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर स्वीकृत हो चुका है। राम और कृष्ण की भक्ति ने करोड़ों भारतीय नर-नारियों को एकता के सूत्र में पिरो दिया है। 'अतएव शताब्दियों पर शताब्दियाँ बीतती चली जाती हैं, किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' का स्रोत भारत में शुष्क नहीं हुआ। भारतवर्ष की जो साधना, जो आराधना और जो संकल्प है, उन्हीं का इतिहास इन दोनों विशालकाय काव्य-प्रासादों के भीतर चिरकालिक सिंहासन पर विराजमान है।'

'रामायण' और 'महाभारत' की तुलना करने के लिए सर्वप्रथम दोनों ग्रन्थों की पारस्परिक समानताओं पर ध्यान देना आवश्यक है। 'महाभारत' का रामोपाख्यान 'रामायण' का ही संक्षिप्त रूप है। राम की कथा द्रौपदी के अपहरण के अवसर पर युधिष्ठिर को सान्त्वना देने के लिए सुनाई जाती है। जयद्रथ द्वारा द्रौपदी का अपहरण 'रामायण' के सीता-हरण के आधार पर रचा गया मालूम होता है। किन्तु जहाँ 'रामायण' के कथानक में सीता-हरण की घटना प्रमुख है, वहाँ 'महाभारत' के अन्तर्गत द्रौपदी-हरण का वृत्तान्त आनुषंगिक और गौण है। इसके अतिरिक्त राम और अर्जुन की वीरता में, चौदह तथा तेरह वर्ष के वनवास में, सीता और द्रौपदी के स्वयंवरों में तथा देवताओं से दिव्यास्त्रों की प्राप्ति में 'रामायण' और 'महाभारत' के कथांशों में समानता है। 'रामायण' में पाण्डवों का कहीं उल्लेख नहीं है, पर 'महाभारत' में राम की कथा का ही नहीं, बल्कि 'वाल्मीकीय रामायण' का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ तक कि 'महाभारत'[१] में 'रामायण' का एक श्लोक[२] भी उद्धृत किया गया है। अतः सम्भव यही है कि 'महाभारत' ने ही 'रामायण' से कुछ कथानक लिए हों, न कि 'रामायण' ने 'महाभारत' से।

दोनों ग्रन्थों की उत्पत्ति एक ही स्रोत से, अर्थात् चारण-गीतों से, बताई जाती है। इसके कई प्रमाण दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त होते हैं। यद्यपि 'महाभारत' के छन्द 'रामायण' के छन्दों की भाँति परिष्कृत नहीं हैं, तथापि यह स्पष्ट है कि 'महाभारत' के पिछले पर्वों के छन्द 'रामायण' के छन्दों के ही तुल्य हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' में कई कथाएँ तथा वंशावलियाँ एक-सी हैं। दोनों ग्रन्थों की भाषा की समीक्षा करने पर भी ज्ञात होता है कि उनमें कई उपमाएँ, श्लोकार्ध तथा लोकोक्तियाँ अक्षरशः समान हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि इन कथाओं और

---

१. ७।१४३।६६

२. न हन्तव्याः स्त्रियश्चेति तद्ब्रवीषि प्लवंगम।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्त्तव्यमेव तत ॥६।८१।२८

लोकोक्तियों का एक ही उद्गम था। रामायणकालीन सभ्यता महाभारतकालीन सभ्यता की अपेक्षा कहीं अधिक सुसंस्कृत है, फिर भी दोनों में पुरोहितों, शिष्ट पुरुषों, निम्न वर्गों तथा सेवकों की जीवनचर्या एक सी चित्रित है। इससे प्रतीत होता है कि 'रामायण' और 'महाभारत' की कथाओं का मूल आधार सूतों में प्रचलित कोई गीत संग्रह रहा होगा।

यद्यपि, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, दोनों ग्रन्थों मे अनेक समानताएँ है, तथापि सूक्ष्म अध्ययन से दोनों मे कई भेद भी दृष्टिगोचर होते हैं। 'रामायण' का कलेवर 'महाभारत' की अपेक्षा बहुत छोटा है। उसके काड तथा कथावस्तु सुसम्बद्ध है। 'रामायण' जहाँ एक व्यक्ति की कृति है, वहाँ 'महाभारत' में अनेक कर्त्ताओं की छाप है। इसी कारण जहाँ एक ओर 'रामायण' में भाव, भाषा और रचना-शैली की एकरूपता प्रायः समग्र ग्रन्थ में देख पडती है, वहाँ दूसरी ओर 'महाभारत' के भिन्न-भिन्न भागों में भाषा और रचना-शैली का भेद स्पष्ट लक्षित होता है। 'रामायण' में एकमात्र लौकिक छन्दों का प्रयोग हुआ है, 'महाभारत' में अनेक स्थलों पर वैदिक छन्द भी मिलेगे। 'रामायण' आदर्श की दृष्टि से लिखी गई है, 'महाभारत' वास्तविक घटनात्मक दृष्टि से। 'रामायण' के पात्र आदर्श हैं, उसमें नायक का पक्ष सर्वथा निर्दोष और प्रतिनायक का सर्वथा सदोष चित्रित किया गया है; किन्तु 'महाभारत' की कथा ऐसी नहीं। कौरव और पाडव दोनों पक्षों में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के पात्र हैं। 'रामायण' मे आदर्श भ्रातृ-प्रेम का चित्रण है तो 'महाभारत' की भित्ति ही भ्रातृ-द्रोह है। 'रामायण' 'राम+अयन' है, उसमें राम के चरित्र का ही प्राधान्य है तो 'महाभारत' उज्ज्वल चरित्रों का कानन या महाकांतार है। वह एक व्यक्ति की गुण-गाथा नहीं है। 'रामायण' साधारणतया ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धर्म का दिग्दर्शन कराती है; 'महाभारत' हिन्दू धर्म का बहुविध स्वरूप उपस्थित करता है। 'महाभारत' में अनेक असम्बद्ध विषयों के रहते हुए भी हमें उसमें उस समय की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का जैसा स्वाभाविक और सजीव चित्रण उपलब्ध होता है, वैसा 'रामायण' में नहीं।

संस्कृति का भेद—'रामायण' और 'महाभारत' मे सबसे बडा भेद संस्कृति का है। धर्म ही रामायणकालीन संस्कृति का प्राण था। 'महाभारत' का युग कर्मप्रधान था। 'रामायण' में करुणा और भावुकता, सरलता और संयम का साम्राज्य है; 'महाभारत' में दर्प और औद्धत्य, उग्रता और तेज का प्राधान्य है। 'रामायण' में पद-पद पर धर्म की दुहाई दी गई है, धर्म ही राम को वन जाने, अनेक कष्ट सहने, यहाँ तक कि सीता का परित्याग करने को बाध्य करता है। पर 'महाभारत' में स्वाभिमान का दर्प उसके पात्रों की रग-रग में भरा है—'गलती करनेवाला अपनी गलती पर

गर्व करता है, प्रेम करनेवाला प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करनेवाला अपनी घृणा का खुलकर प्रदर्शन करता है।' 'रामायण' पढ़ते समय हम भक्ति-रस में डूबने-उतराने लगते हैं, पर 'महाभारत' पढ़ते सम्य पाठक 'एक जादू भरे वीरत्व के अरण्य में प्रवेश करता है, जहाँ पद-पद पर विपत्ति है, पर भय नहीं; जहाँ जीवन की चेष्टाएँ बार-बार असफलता की चट्टान पर चूर-चूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करने वाला हतोत्साह नहीं होता।' यदि 'महाभारत' में राम जैसा मर्यादापुरुषोत्तम, भरत जैसे भाई, हनुमान् जैसे भक्त और सीता जैसी पतिव्रता नारी नहीं है, तो 'रामायण' में भी भीष्म जैसे तेजस्वी और ज्ञानी, बलराम जैसे फक्कड़, कुन्ती और द्रौपदी जैसी तेजोद्दप्त नारियाँ और श्रीकृष्ण जैसे प्रत्युत्पन्नमति और गम्भीर तत्त्वदर्शी पात्र दुर्लभ हैं।

'महाभारत' की संस्कृति रामायणकालीन संस्कृति के समान समुन्नत एवं सुसंस्कृत नहीं प्रतीत होती। कहाँ रामचन्द्रजी का परम पावन एवं आदर्श आचरण और कहाँ युधिष्ठिर का द्यूत आदि कर्मों मे प्रवृत्त होना; कहाँ लक्ष्मण-भरतादि का वह भ्रातृ-स्नेह और कहाँ युधिष्ठिर के प्रति भीम और अर्जुन द्वारा अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग; कहाँ राम और भरत की राज्य के प्रति अनिच्छा और कहाँ दुर्योधन की यह राज्य-लिप्सा—'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव'—इस प्रकार दोनों के सांस्कृतिक आदर्शों में महान् अन्तर देख पड़ता है। 'रामायण' की प्रजा राज्यकार्य में अधिक योग देती थी और अन्याय का विरोध करने में नहीं हिचकती थी; पर 'महाभारत' की प्रजा कठोर शासक वर्ग के विरुद्ध चूँ तक नहीं कर सकती थी। सीता को कैकेयी द्वारा तपस्विनी के वस्त्र दिये जाने पर जहाँ प्रजा एक साथ चिल्ला उठती है—'धिक् त्वां दशरथम्', वहाँ धृतराष्ट्र की राजसभा में द्रौपदी की दुर्दशा होने पर भी भीष्म और द्रोण जैसे वयोवृद्ध पुरुष भी कुछ नहीं बोलते। एक ओर रामचन्द्रजी के वन-गमन के समय अयोध्यावासी उनके साथ चलने के लिए उद्यत हो जाते हैं, दूसरी ओर युधिष्ठिर के दो बार हस्तिनापुर से निकाले जाने पर नगर-निवासी कौरवों के भय से खुलकर शोक भी नहीं प्रकट कर सकते। वैवाहिक जीवन की दृष्टि से भी दोनों संस्कृतियों में भेद है। कहाँ सती साध्वी सीता का पातिव्रत और श्रीराम का पत्नीव्रत और कहाँ सत्यवती और कुन्ती की कुमारावस्था में ही सन्तानोत्पत्ति, पांडवों के बहु-विवाह और द्रौपदी के पाँच पति! युद्ध के आदर्शों में भी परिवर्तन हो गया था। युद्धक्षेत्र में रावण के घायल हो जाने पर राम कहते हैं कि घायल का वध करना धर्म-विरुद्ध है, तो 'महाभारत' में शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोण का वध, रथ से उतरे हुए कर्ण का वध, सोते हुए धृष्टद्युम्न, शिखंडी और द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का वध किया जाता है। राम-रावण या लक्ष्मण-मेघनाद के युद्ध में वह क्रोधोन्मत्त, घृणासूचक संलाप पाया जाता जो भीम और दुर्योधन, अर्जुन और कर्ण के बीच होता है।

राजनीतिक अवस्था—'रामायण' के समय की राजनीतिक अवस्था 'महाभारत' के समय से भिन्न थी। 'रामायण' के समय में भारत पर वैदेशिक प्रभाव नहीं पड़ा था, क्योंकि उसमें विदेशियों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। दो-चार स्थलों पर यवनों के प्रति जो संकेत किया गया है, उससे राजनीति में विदेशियों का कोई हस्तक्षेप नहीं लक्षित होता। पर 'महाभारत' के समय देश में विदेशियों (म्लेच्छों) का पर्याप्त प्रसार हो चुका था। लाक्षागृह का निर्माता पुरोचन म्लेच्छ था। म्लेच्छों की अपनी म्लेच्छ-भाषा भी थी—विदुर पाडवों को लाक्षागृह का कपट रहस्य म्लेच्छ-भाषा मे ही समझाते हैं। द्रोण-पर्व में स्पष्ट उल्लेख है कि 'महाभारत' युद्ध में कई म्लेच्छ राजाओं ने भी भाग लिया था। वाल्मीकि के अनुसार दक्षिण भारत में कोई समृद्ध राज्य नहीं थे और वहाँ विराध, कबन्ध जैसे भयानक राक्षसों का ही निवास था; किन्तु 'महाभारत' के समय दक्षिण में राजनीतिक प्रगति पर्याप्त हो चुकी थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दक्षिण भारत के भी कई नृपति आमन्त्रित किए गए थे।

नैतिक नियम—धार्मिक विश्वास और नैतिक नियमों में भी परिवर्तन हो गया था। रावण सीता का बलात् अपहरण करता है, पर जब हनुमान सीता को राम के पास अपनी पीठ पर बैठाकर ले जाना चाहते हैं, तब सीता पर-पुरुषस्पर्श के भय से यह प्रस्ताव अस्वीकार कर देती हैं। रावण-वध के अनन्तर सीता को अपनी पवित्रता का प्रमाण देने के लिए अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है। किन्तु काम्यक् वन में जब जयद्रथ द्रौपदी का बलात् अपहरण करता है, तब उसके पतिगण द्रौपदी के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ भी संदेह नहीं करते। इससे प्रतीत होता है कि राम के समय पातिव्रत की भावना अधिक कठोर थी तथा नैतिक आदर्श अत्युच्च था।

निष्कर्ष – उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'महाभारत' मे वर्णित सभ्यता अशान्तिमय एव अव्यवस्थित है, किन्तु 'रामायण' की सभ्यता अपेक्षाकृत अधिक शिष्ट, सुसंस्कृत एवं आदर्श है। इस आधार पर पाश्चात्य विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि महाभारतकालीन संस्कृति रामायणकालीन संस्कृति की अपेक्षा प्राचीनतर है। उनके मतानुसार महाभारत की विषम एवं अव्यवस्थित संस्कृति कालान्तर में 'रामायण' की मर्यादित एवं सुव्यवस्थित सभ्यता में परिवर्तित हो गई। किन्तु पाश्चात्यों के इस अनुमान के मूल में उनका विकासवाद का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार मनुष्य उत्तरोत्तर अधिक सभ्य एवं शिष्ट बनता जाता है। हमारा भारतीय दृष्टिकोण इसके विपरीत है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का क्रम मनुष्य की उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुखी प्रकृति का ही परिचायक है। 'रामायण' सत्ययुग की झाँकी कराती है तो 'महाभारत' कलियुग के आगमन की सूचना देता है। 'रामायण' सुख, शान्ति, समृद्धि और व्यवस्था के युग का प्रतिनिधित्व करता है; 'महाभारत' प्रचंड सक्षोभ, विप्लवकारी परिवर्तन तथा संहारकारी युद्ध के युग का दिग्दर्शन कराता है।

३

महाकाव्य

संस्कृत काव्य-साहित्य के मुख्यतः दो भेद है—दृश्य और श्रव्य । दृश्य-काव्य अथवा नाटकों का विवेचन अगले अध्याय में होगा । श्रव्य-काव्य के तीन उपभेद हैं—पद्यकाव्य तथा चम्पू, जिसमें गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग होता है । पद्यकाव्य के पुनः तीन उपभेद है—महाकाव्य, खंडकाव्य तथा मुक्तक । गद्यकाव्य के भी दो प्रमुख उपभेद है—कथा और आख्यायिका । इस अध्याय में केवल महाकाव्यों का विवेचन होगा ।

महाकाव्य की उत्पत्ति तथा विकास

संस्कृत काव्य की झलक सबसे पहले हमें 'ऋग्वेद' में मिलती है । 'ऋग्वेद' में ऐसे कई मन्त्र हैं जिनमें उनके रचयिता प्रार्थना के स्तर को त्यागकर कवि-प्रतिभा का भी परिचय देते हैं; किन्तु जिसे हम वास्तविक काव्यशैली कहते हैं, उसका पूर्ण परिपाक वैदिक काल में नहीं माना जा सकता । 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में कुछ स्थलों पर तथा इतिहास-पुराण-काल में 'सुपर्णाध्याय' नामक आख्यान में भी काव्य की आभा स्पष्ट प्रतीत होती है । पर वस्तुतः संस्कृत का आदि-महाकाव्य वाल्मीकि-कृत 'रामायण' ही है । यही उस काव्यधारा का उद्गम है जो भास, कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ आदि विभिन्न स्रोतों में विभक्त होकर संस्कृत काव्य-कानन को चिरकाल से सींचती चली आई है । 'रामायण' की सरल मनोहर एवं अलंकृत काव्य-शैली ने कालिदास और अश्वघोष जैसे महाकवियों को पूर्णतया प्रभावित किया तथा परवर्ती कवियों के समक्ष महाकाव्य का आदर्श उपस्थित किया । 'रामायण' की भाँति 'महाभारत' में भी कहीं-कहीं काव्य-शैली लक्षित होती है; किन्तु उसका मुख्य विषय काव्य नहीं अपितु इतिहास है । रुद्रट-कृत 'काव्यालंकारसूत्र' के टीकाकार नमिसाधु लिखते हैं कि स्वयं पाणिनि (४०० ई० पू०) ने 'पाताल विजय' और 'जाम्बवती-विजय' नामक दो काव्यों की रचना की थीं । पतंजलि (१५० ई० पू०) अपने 'महाभाष्य' में काव्य-साहित्य से पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं । एक ओर वे अपना 'भारत' से परिचय प्रकट करते हैं तो दूसरी ओर वे 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक नाटकों का निर्देश करते हैं । जहाँ वे 'वररुचकाव्य' और 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' आख्यायिकाओं का उल्लेख करते हैं, वहाँ वे काव्य-शैली में रचित पद्यों की कतिपय पंक्तियाँ भी उद्धृत करते हैं । यद्यपि ये रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी

उनके नामोल्लेख से यह सिद्ध होता है कि ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के बहुत पहले काव्य-साहित्य की समस्त शाखाओं—महाकाव्य, गीतिकाव्य, लोककथा, नीतिकथा तथा नाटक—का पूर्ण प्रसार था ।

शिलालेखों में अलंकृत काव्य—ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास के कुछ शिलालेख मिलते हैं, जिनकी भाषा और शैली देखने से पता चलता है कि उस समय तक काव्य-साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था । रुद्रदामन का गिरनारवाला शिलालेख (१५० ई०) अलकृत काव्य-शैली का नमूना है । उसके '**स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य**' समास से यह विदित होता है कि लेखक किसी प्राचीन अलंकार-शास्त्र से परिचित था । लगभग इसी समय के पुलुमायी के नासिकवाले प्राकृत शिलालेख से भी यही बात सिद्ध होती है ।[१] प्रयाग के अशोक-स्तम्भ पर खुदी हरिषेण कृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति की शैली इस बात की स्पष्ट सूचना देती है कि उसके पूर्व अनेक महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी । गुप्तकाल के अन्य उपलब्ध शिलालेखों[२] से प्रमाणित होता है कि काव्य की प्रगति अखण्ड रूप से तथा अबाध गति से होती आई है । यदि दीर्घकाल तक किसी काव्य का पता ही हमें नहीं चलता तो इसका अर्थ यह नहीं कि काल में काव्य की प्रगति रुक गई थी । वास्तव में उसका कारण यह है कि कुछ काव्यों की प्रसिद्धि इतनी अधिक हुई कि उनसे पहले के कम प्रसिद्ध काव्य विस्मृत हो गये ।

महाकाव्य के लक्षण—दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श'[३] में महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षण बतलाये हैं—महाकाव्य की कथा-वस्तु कवि-कल्पना-प्रसूत न होकर किसी प्राचीन आख्यान अथवा ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर होनी चाहिये । नायक धीरोदात्त प्रकृति का होता है । उसमें नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, जल-क्रीड़ा, उद्यान-विहार, विवाह, यात्रा, युद्ध, विजय-प्राप्ति आदि विषयों का वर्णन उपयुक्त स्थलों पर होना चाहिये । प्रतिनायक के गुण भी उदात्त हो सकते हैं । महाकाव्य अति संक्षिप्त नहीं होना चाहिये । उसमें शृङ्गार अथवा वीर-रस प्रधान रहता है और दूसरे रस गौड़ रूप में चित्रित होते हैं । संपूर्ण काव्य सर्गों में विभाजित रहता है । सर्ग बहुत बड़े नहीं होने चाहिए । प्रतिसर्ग में एक ही वृत्त के श्लोक रहते हैं, किन्तु सर्ग के अन्त में भिन्न वृत्त होना आवश्यक है । मङ्गलाचरण आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक अथवा वस्तु-निर्देशात्मक होना चाहिये ।

महाकाव्यों के इन लक्षणों का विधान उस समय किया गया जब कि संस्कृत

---

१. Bombay Gazeteer, Vol. 16, p. 550
२. Fleet : Gupta Inscriptions.
३. १।१४-१९

में अनेक महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी, क्योंकि लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माण के बाद ही लक्षण-ग्रन्थों की रचना होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी ने अपने पूर्ववर्ती वाल्मीकि, कालिदास, अश्वघोष आदि महाकवियों की कृतियों को लक्ष्य में रखकर ही उपर्युक्त लक्षणों की सूची संकलित की होगी। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि महाकाव्य के ये साधारण लक्षणमात्र हैं, जिनका अक्षरशः पालन सभी महाकाव्यों में कदापि सम्भव नहीं।

यहाँ हम संस्कृत के प्रमुख महाकाव्यों का कालक्रमानुसार वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

महाकवि कालिदास

स्थितिकाल—संस्कृत महाकाव्यों के रचयिताओं में महाकवि कालिदास का स्थान अग्रगण्य है। उनके स्थितिकाल का प्रश्न भारतीय साहित्य का एक अत्यन्त जटिल और विवादग्रस्त प्रश्न रहा है। भारतीय जनश्रुति के आधार पर कालिदास महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों[1] मे थे। कालिदास के नाटकों से भी इस बात की पुष्टि होती है। अपने द्वितीय नाटक 'विक्रमोर्वशीय' के नाम द्वारा तथा उसकी कतिपय उक्तियों[2] द्वारा कालिदास स्पष्टतया अपने आश्रयदाता सम्राट् विक्रमादित्य का ही नाम व्यंजित करते हैं। अतः कालिदास के स्थितिकाल का प्रश्न सम्राट् विक्रमादित्य के स्थितिकाल से पूर्णतया सम्बद्ध है।

इन विक्रमादित्य का समय विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न कालों में निर्धारित कर कालिदास का स्थितिकाल छठी शताब्दी ईस्वी से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पू० तक दोलायमान कर रखा है। उनके स्थितिकाल के विषय में मुख्यतया तीन मत हैं—

छठी शताब्दी ई० का मत—फर्गुसन महोदय का कथन है कि उज्जयिनी के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने ५४४ ई० में शकों को कहरूर की लड़ाई में हराकर इस विजय के उपलक्ष्य में विक्रम-संवत् चलाया। इस संवत् को प्राचीन एवं चिरस्मरणीय बनाने के लिए उसने उसे ६०० वर्ष पूर्व से चलाकर उसका आरम्भ ५७ ई० पू० में माना। अतः इस मत के अनुसार कालिदास का समय छठी शताब्दी प्रकट होता है। इस मत की पुष्टि में यह दिखलाया जाता है कि कालिदास के ग्रन्थों में यवन, शक, पल्लव, हूण आदि जातियों के नाम आते हैं। हूणों ने ५०० ई० में भारतवर्ष पर आक्र-

---

१. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

२. दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्; अनुत्सेकः खलुविक्रमालङ्कारः।

मण प्रारम्भ किया। अतः इसका उल्लेख करने वाले कालिदास का समय इसके पश्चात् होना चाहिये।

इस मत के विरुद्ध ये आपत्तियाँ हैं—(१) हर्ष विक्रमादित्य द्वारा प्रचलित संवत् का प्रारम्भ ६०० वर्ष ही पूर्व क्यों ढकेल दिया गया, इसका समाधान फर्गुसन के पास नहीं है। इसके अतिरिक्त ५४४ ई० से पहले मालव-संवत् ५२६ तथा विक्रम-सवत् ४३० के प्रयोग मिलते हैं, अतः फर्गुसन का यह कल्पित मत पूर्णतया धराशायी हो जाता है। (२) 'रघुवंश' में हूणों अथवा अन्य जातियों का वर्णन विदेशी विजेताओं के रूप में नहीं आता। रघु ने अपने दिग्विजय से उनको भारत की सीमा के बाहर पराजित किया था। चीन तथा मध्य एशिया के इतिहास से प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी में हूण पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे। (३) ४७३ ई० की मन्दसोरवाली वत्सभट्टि-रचित प्रशस्ति में 'ऋतुसहार' और 'मेघदूत' के कितने ही पद्यों की साफ झलक देख पड़ती है। ऐसी दशा में कालिदास को छठी शताब्दी ई० में मानना कहाँ तक न्यायसंगत है ? यह सिद्धान्त भारतीय जनश्रुति के भी प्रतिकूल है। अतः आधुनिक समय में इस मत का समर्थक कोई नहीं है।

गुप्तकालीन मत—यूरोपीय विद्वानों ने गुप्त-नरेशों के समुन्नत साम्राज्यकाल में कालिदास का स्थितिकाल माना है। कीथ महोदय इस मत के समर्थक हैं कि शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले, विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले तथा अपने पूर्व के मालव-संवत् को विक्रम-संवत् के नाम से प्रचारित करने वाले द्वितीय गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३८५-४१३ ई०) थे। उनके मतानुसार भारतीय इतिहास के इसी स्वर्णयुग में महाकवि कालिदास ने अपनी कीर्ति-कौमुदी का प्रसार किया था। इस मत के समर्थन में यह कहा जाता है कि कालिदास के 'कुमार सम्भव' नामक महाकाव्य की रचना सम्भवतः चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म को लक्ष्य में रखकर की गई है; कालिदास के 'गुप्' धातु का बारम्बार प्रयोग किया है; चौथी शताब्दी ई० का हरिषेण-कृत प्रयाग वाली प्रशस्ति में किये गये समुद्रगुप्त (३३६-३ ५ ई०) के विजय वर्णन में तथा 'रघुवंश'[1] में वर्णित रघु के दिग्विजय में घटनाओं का बड़ा साम्य देख पड़ता है; कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित सुख-शान्ति का समृद्ध-काल गुप्तकाल का ही सूचक है; कालिदास-कृत इन्दुमती के स्वयंवर-वर्णन में 'ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रि', 'इन्दू नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै' आदि उक्तियों में 'चन्द्रमा' तथा 'इन्दु' शब्द चन्द्रगुप्त के ही द्योतक हैं, कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र' नाटक वाकाटक के राजा रुद्रसेन द्वितीय और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता के विवाहोत्सव पर लिखा या खेला गया होगा। उसमें जिस अश्वमेध का उल्लेख किया गया है, उससे

१. रघुवंश १-५५, २-२४, ४-२०, ४-२६

भी समुद्रगुप्त द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ की ओर ही संकेत जान पड़ता है। अतः कालिदास गुप्तकाल में, विशेषतः चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में, हुए होंगे।

इस मत के विरुद्ध प्रधान आपत्तियाँ ये है—(१) यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे पराक्रमी नरेश ने स्वयं अपना संवत् न चलाकर अपने से पूर्व प्रचलित मालव-संवत् को अपने नाम से जारी किया हो। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वयं 'गुप्त-संवत्' प्रचारित किया था। क्या चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पितामह के संवत् को अस्वीकार करके अपना अलग संवत् चलाने की धृष्टता की होगी ? चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा जारी किया गया तथाकथित विक्रम संवत् उनके बाद की शताब्दियों में कहीं उल्लिखित नहीं है। स्वयं चन्द्रगुप्त के पौत्र स्कन्दगुप्त के गिरिनार वाले शिलालेख में विक्रम-संवत् का उल्लेख न होकर गुप्त-संवत् का ही उल्लेख हुआ है (गुप्तप्रकाले गणना विधाय)। विक्रम-संवत् का उल्लेख नवीं शताब्दी से पूर्व कहीं नहीं पाया जाता। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा नवीन संवत् चलाये जाने की अथवा किसी पूर्वकालीन संवत् को अपना नाम देने की घटना ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाती। इस कारण कालिदास के स्थितिकाल के गुप्तकालीन मत का मौलिक आधार ही प्रमाणित हो जाता है। (२) कालिदास ने 'कुमार' शब्द का प्रयोग 'सुत', आत्मज की भाँति साधारण अर्थ में ही किया है, किसी विशेष प्रयोजन से नहीं; 'मालविकाग्निमित्र' में जिस अश्वमेध का तथा यवनों की पराजय का उल्लेख हुआ है, उसका वस्तुतः सम्बन्ध शुंगवंश के प्रवर्तक से है; कालिदास-कृत रघु का दिग्विजय-वर्णन ऐतिहासिक होता हुआ भी एक कवित्व-पूर्ण वर्णन है, वह बहुत कुछ पुराणों मे पाये जाने वाले वर्णनों के ही समान है, उसकी ऐतिहासिकता के विषय में अभी और छानबीन की आवश्यकता है; कालिदास के ही ग्रन्थों में जिन उक्तियों में चन्द्रगुप्त द्वितीय की झलक देख पड़ती है तथा समुद्रगुप्त-काल की झाँकी दिखाई पड़ती है, उनमें भी मतैक्य नहीं। व्याख्या के विशेष ढंग से अनेक नाना प्रकार के अर्थ लगाये जा सकते हैं। (३) किसी गुप्त-सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय चन्द्रगुप्त की उपाधि विक्रमादित्य थी, उपाधि प्रचलित होने के लिए यह आवश्यक है कि उस नाम का कोई लोकप्रसिद्ध व्यक्ति हो चुका हो, जिसके अनुकरण पर बाद के महत्त्वाकांक्षी लोग उस नाम की उपाधि धारण करें। रोम में भी सीजर उपाधिधारी राजाओं के पहले सीजर नामक सम्राट् हो चुका था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी द्वितीय चन्द्रगुप्त के पूर्व विक्रमादित्य नामधारी कोई शासक अवश्य हुआ होगा। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय स्वयं विक्रमादित्य नहीं थे और न उनके समय में कालिदास की स्थिति ही मानी जा सकती है।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत—भारत में यह बात लोक-प्रसिद्ध है कि महाराज विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे, जिन्होंने शकों को परास्त कर अपनी

विजय के उपलक्ष्य में ५७ ई० पू० के विक्रमीय संवत् का प्रवर्तन किया। 'कथासरित्सागर' में (जो प्रथम शताब्दी ई० की गुणाढय-कृत 'बृहत्कथा' पर आश्रित है) परमार-वंश के विक्रमादित्य का वर्णन आता है, जो उज्जयिनी के राजा थे तथा जिनके विषय में अनेक लोक-कथाएँ गढ़ी गईं। 'कथासरित्सागर' का वृत्तान्त ऐतिहासिक और प्रामाणिक माना जा सकता है, क्योंकि उसके मूल लेखक गुणाढय विक्रमादित्य के समय के अत्यधिक निकट थे। 'कथासरित्सागर' के अनुसार यह विक्रमादित्य परमारवंशी उज्जयिनी नरेश महेन्द्रादित्य के पुत्र थे, जिन्होंने म्लेच्छों का उन्मूलन, नास्तिक सम्प्रदायों का उच्छेद तथा वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया। वे एक परम शैव तथा उज्जैन के महाकाल-मन्दिर के निर्माता थे। इन्हीं विक्रमादित्य ने शकों को उनके प्रथम आक्रमण मे पराजित कर इस क्रान्तिकारी घटना के उपलक्ष्य में प्रथम शताब्दी ई० पू० में 'मालवगणस्थिति' नामक संवत् का प्रवर्तन किया, जो आगे चल कर विक्रम-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ये परमारवंशी विक्रमादित्य स्वयं बड़े काव्य-मर्मज्ञ थे तथा कालिदास जैसे कवियों और कलाकारों के अवश्य आश्रयदाता रहे होंगे, क्योंकि कालिदास जो अपनी रचनाओं में स्पष्टतः शिव के प्रति अधिक आस्था प्रकट करते हैं, गुप्तवंश के वैष्णव राजाओं की अपेक्षा मालवा के शैव राजाओं के ही आश्रित अधिक प्रतीत होते है। इसके अतिरिक्त, गुप्तनरेश पाटलिपुत्र के अधीश्वर थे। किन्तु कालिदास के आश्रयदाता उज्जयिनी के सम्राट् थे। नवीनतम ऐतिहासिक खोज के अनुसार उज्जयिनी के महेन्द्रादित्य के पुत्र, उक्त परमारवंशी विक्रमादित्य ही मौलिक विक्रमादित्य थे, जिनके शासनकाल में महाकवि कालिदास का आविर्भाव हुआ था। इसकी पुष्टि कालिदास के ग्रन्थों के अन्तरंग प्रमाणों से भी होती है। अपने नाटक 'विक्रमोर्वशीय' के नाम द्वारा कवि संभवतः अपने आश्रयदाता के नाम को ही अमर करना चाहता था। 'इन्द्र' के पर्यायवाची शब्दों में से कवि 'महेन्द्र' शब्द का ही बार-बार प्रयोग करता है और इस प्रकार अपनी अनेक उक्तियों में विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य की ओर संकेत करता है। उज्जयिनी की जनता को, जिसके समक्ष उक्त नाटक का अभिनय किया गया होगा, निम्नांकित उक्तियों[1] का संकेत एवं सन्दर्भ समझने में कठिनाई नहीं पड़ी होगी, जिनमें पिता और पुत्र दोनों का साथ-साथ नामोल्लेख किया गया है। सम्भवतः 'विक्रमोर्वशीय' वृद्ध-नरेश महेन्द्रादित्य के अवकाश-ग्रहण और राजकुमार विक्रमादित्य के राज्यारोहण के अवसर पर अभिनीत किया गया हो।

---

१. दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।
प्रथमं पुत्रदर्शनेन विस्मृतास्मि। इदानीं महेन्द्रसंकीर्तनेन स्मारितः समयो मम हृदयमायासयति।
रम्भे उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः।

'रघुवंश' में भी कालिदास ने सूर्यवंशी राजाओं को अपना चरितनायक स्यात् इसीलिए बनाया, क्योंकि महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य भी सूर्यवंशी थे। साथ ही, 'रघुवंश' के दिलीप और रघु के वर्णन में तथा 'कथासरित्सागर' के महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य के वर्णन में पर्याप्त साम्य है। 'मेघदूत' के ३० वें पद्य में वत्सराज उदयन के विषय में उज्जैन में प्रचलित लोकश्रुति के प्रति जो ऐतिहासिक संकेत किया गया है, उससे तथा 'मालविकाग्निमित्र' के अन्तर्गत प्रमाणों से भी यह पुष्टि होती है कि कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० में उज्जैन के परमारवंशी सम्राट् विक्रमादित्य के राज्यकाल में रहा होगा।

कुछ ऐतिहासिकों की धारणा है कि ईसा की पार्श्ववर्ती शताब्दियों में वैदिक धर्म और संस्कृत साहित्य संकटापन्न हो गये थे। गुप्तों के राज्यारोहण के बाद हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के साथ संस्कृत साहित्य का भी पुनरुत्थान हुआ। ऐसे समय में ही कालिदास जैसे विश्ववन्द्य काव्यकार का होना सम्भव था। किन्तु संस्कृत साहित्य के 'पुनरुत्थान' का यह कल्पित मत, जिसके मुख्य प्रवर्तक मैक्समूलर थे, बाद के ऐतिहासिक खोजों से सर्वथा असिद्ध हो गया और यह प्रमाणित हो चुका है कि ईसा के पहले की शताब्दियों में ही संस्कृत साहित्य के प्रायः समस्त अंगों का पर्याप्त प्रचार एवं प्रसार हो चुका था। इस कारण प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदास के नाटकों और काव्यों की रचना पूर्णतः सम्भव जान पड़ती है।

कालिदास के ग्रन्थों में ज्योतिष के अनेक संकेत आये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि कुषाण-काल के पश्चात् भारतीयों ने ज्योतिष के बहुत से सिद्धान्त यूनान और रोम से सीखे थे। अतः कालिदास का समय इसके बाद का ही होना चाहिये। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि स्वयं यूनानियों ने ईसा से कई शताब्दी पूर्व बैबीलोनिया के लोगों से ज्योतिषशास्त्र सीखा था, और भारत, जो चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में फारसवालों के सम्पर्क में आ चुका था, बैबीलोनिया ज्योतिष सीधे सरलता से सीख सकता था। यूनानियों से भी भारत का सम्बन्ध चौथी शताब्दी ई० पू० में स्थापित हो चुका था, और कालिदास के समय में अर्थात् प्रथम शताब्दी ई० पू० में, तथाकथित यूनानी ज्योतिष सिद्धान्तों का उपयोग होना सर्वथा सम्भव था।

कालिदास के काव्यों में तथा बौद्ध कवि अश्वघोष की रचनाओं में अनेक स्थलों पर अत्यधिक साम्य देख पड़ता है (उदाहरणार्थ, 'रघुवंश' ७।५ और 'बुद्धचरित' ३।११)। अवश्य ही कालिदास की रचना दोनों में श्रेष्ठ है, किन्तु कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि संस्कृत काव्य के विकास में अश्वघोष पहले हुए तथा कालिदास ने उनका अनुकरण कर अपनी शैली का परिष्कार एवं परिमार्जन किया। अश्वघोष कुषाण-सम्राट् कनिष्क (प्रथम शताब्दी ई०) के समकालीन थे, अतएव

कालिदास का समय सम्भवतः गुप्तकाल में होना चाहिये। किन्तु यह कथन उपयुक्त नहीं। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य पाली प्राकृत में लिखा गया था। बाद में संस्कृत साहित्य के प्रभाव और उसकी उपयोगिता के कारण बौद्ध लेखकों ने संस्कृत को अपने साहित्य और दर्शन का माध्यम बनाया। अतः संस्कृत की काव्य-शैली के प्रचलित एवं परिष्कृत हो जाने पर ही उन्होंने उसका अनुसरण किया। इस कारण अश्वघोष द्वारा ही कालिदास की शैली का अनुकरण किया गया और कालिदास अश्वघोष के पूर्ववर्ती हैं।

कालिदास का काल—विश्व-विश्रुत महाकवि कालिदास भी भारतीय परम्परा के अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अपने विषय में अपने किसी भी ग्रन्थ से कोई संकेत नहीं दिया है। आज उनके काल, जन्म-स्थान आदि को लेकर जितना विवाद और मत-वैविध्य है, उतना सम्भवतः अन्य किसी साहित्यकारों के सम्बन्ध में नहीं है।

यदि कहीं आज उन्हें जन्म ग्रहण करना पड़े तो अपने सम्बन्ध में इस विवाद को देखकर वे स्वयं घबरा उठें और सम्भवतः वे स्वयं भी यह बतला न सकें कि वे किस काल में उत्पन्न हुए थे। कालिदास के समय का आकलन ईसा की प्रथम शती पूर्व से लेकर ११वीं शती तक किया जाता है। लगभग एक सहस्र और दो शतकों की यह दीर्घ अवधि एक ओर तो उन्हें अग्निमित्र और विक्रमादित्य की राजसभा का रत्न घोषित करती है तो दूसरी ओर उन्हें धारानगरी (मालवा) के राजा भोज का प्रिय मित्र और राजकवि।

किन्तु अब तो प्राप्त प्रमाणों और आधारों से यह निश्चित हो चुका है कि कालिदास को किसी प्रकार भी ६३४ ई० से बाद का सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस समय तक कालिदास की कीर्ति सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो चुकी थी और उन्हें वरिष्ठ कवियों की प्रथम पंक्ति में स्थान मिल चुका था। 'ऐहोल' (Aihole) में प्राप्त रविकीर्ति के शिलालेख में 'कालिदास' और 'भारवि' का वर्णन इस प्रकार आया है—

येनायोजि नवेऽश्म स्थिरमर्थ विधौ
विवेकिना जिन वेश्म।
सः विजयतां रविकीर्त्तिः कविताश्रित
कालिदास भारवि कीर्त्तिः॥

यह शिलालेख ६३४ ई० का है। अतः कालिदास का इससे पूर्ववर्ती होना निर्विवाद सिद्ध है। यही नहीं बाण ने भी अपने 'हर्षचरित' में कालिदास के सम्बन्ध में यह सूक्ति दी है—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रास मंजरीष्विव जायते॥

हर्ष का काल ६०६ ई० से ६४७ तक माना जाता है। बाण हर्ष के राजकवि थे। अतः कालिदास का ६ठा शती पूर्व होना विवाद का विषय नहीं रह जाता।

बल्कि उनका यह काल और भी पीछे चला जाता है जब कि दशपुर (वर्तमान मन्दसोर, मालवा) के वत्सभट्टि के ४७२ ई० के शिलालेख में हम उसकी कविता को कालिदास से पूर्णतया प्रभावित पाते हैं। दोनों के उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

चलत्पताका न्यबलासनाथान्यत्यर्थ शुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिता भ्रकूट तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र॥

— वत्सभट्टि, १०

विद्युत्वन्तं ललित वनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्ध गम्भीर घोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमय भुवः तुङ्ग मभ्रं लिहाग्राः
प्रासादास्त्वं तुलयितुमलं यत्र तैस्तैं विशेषैः॥

—उत्तरमेघ, ६६

स्मरवंशगत तरुण जनवल्लभाङ्गना विपुल कांत पीनोरु-
स्तनजघनघनालिङ्गन निर्भर्त्सित तुहिन हिमपातैः॥

—वत्सभट्टि, ३३

पयोधरैं कुंकुम राग पिंजरैः
सुखोपसेव्यैं नव यौवनोष्मभिः।
विलासिनीभिः परिपीडितो रसः
स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः॥

—ऋतुसंहार, ५, ८

उक्त उद्धरणों की समानता बताती है कि वत्सभट्टि ने अपने किसी श्रेष्ठ कवि से ही प्रेरणा ग्रहण की है। नहीं तो ऐसा साम्य सहज नहीं है, और वह प्रेरणा स्रोत और कोई नहीं कविकुल-चूडामणि कालिदास ही हैं।

इसी प्रकार की बात बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के विषय में कही जाती है। उसे कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी और विरोधी कहा जाता है। इसका उल्लेख मल्लिनाथ ने ही मेघदूत के १७वें श्लोक 'दिङ् नागानां पथि हरिहरन् स्थूल हस्तावलेपान्' के आधार पर किया है। पर ऐतिहासिकों ने दिङ्नाग का समय छठी शती निर्णीत किया है। अतः कालिदास का दिङ्नाग का समकालीन होना ही असम्भव है, फिर विरोध की 'कुन्दमाला' के लेखक दिङ्नाग से भी प्रतिद्वन्द्विता और विरोध

की कोई गुञ्जाइश नहीं है । हाँ, इससे कालिदास का छठी शती पूर्व होना आवश्यक सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास का काल अब लगभग दो शतियों के दोल पर झूलने लगता है । इस काल के भी दो मत प्रमुख हैं । पहला मत इन्हे प्रथम शती ई० पूर्व का घोषित करता है तो दूसरा उन्हें गुप्तकालीन (३५७-४१२) कहलाता है । पहले मत के समर्थक सर्वश्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, के० सी० चट्टोपाध्याय, वरदाचारी प्रभृति विद्वान् हैं तो दूसरे के संरक्षक सर्वश्री आर० जी० भंडारकर, कीथ, स्मिथ, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय और डॉ० भोलाशंकर व्यास जैसे पंडितजन है । दोनों के पास ऐसे तर्क हैं, जिन्हें सहज ही नहीं काटा जा सकता । यह कहना कठिन ही है कि कौन-सा काल ठीक है ।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत : समीक्षा—पहले मत को हम दो भागों में विभाजित कर सकते है । पहले भाग में वे लोग आते है जो कालिदास को विदिशा-नरेश अग्निमित्र का समकालीन और उसका आश्रित कवि मानते हैं । डा० कुन्हन राजा इसी मत के हैं । अग्निमित्र शुङ्गवंशीय राजा कालिदास ने अपने 'मालविकग्निमित्र' के भरत वाक्य में उसका उल्लेख किया है । अग्निमित्र का समय लगभग द्वितीय शती ई० पू० है । परन्तु कालिदास के ग्रन्थो से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसे जो आशक्ति उज्जयिनी से है, वह विदिशा से नही है । 'मेघदूत' में विदिशा और उज्जयिनी के सम्बन्ध में आये वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है । विदिशा का उल्लेख कालिदास 'तेषां दिक्षु प्रथित विदिशा लक्षणां राजधानीम्' कहकर ही आगे बढ़ जाते हैं, जब कि उज्जयिनी के वर्णन में वे लगभग १०-१२ पद्यों का प्रयोग करते हैं और उसकी प्रत्येक वस्तु के वर्णन में अपनी अभिरुचि दिखाते हैं । दूसरे भारतीय जनश्रुति भी इसके पक्ष में नहीं है । तीसरे भरत वाक्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमें समकालीन नृप का ही उल्लेख हो । चौथे यदि कालिदास अग्निमित्र का आश्रित कवि होता भी तो अग्निमित्र उसके नाटक का पात्र बनना कभी अंगीकार न करता ।

दूसरा मत अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । यह मत भारतीय जनश्रुति की परम्परा पर आधारित है । इसके अनुसार कालिदास विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में से एक थे । ज्योतिष के एक ग्रन्थ ''ज्योतिर्विदाभरण' से इसकी पुष्टि हो जाती है—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु-
वैतालभट्टघटकर्परकालिदासाः
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

अव प्रश्न यह होता है कि यह विक्रमादित्य कौन हैं ? ऐसे राजा जिनका नाम या उपाधि विक्रमादित्य हो; अग्रलिखित हैं —

१—उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य जिन्होंने २६ ई० पूर्व विक्रम-संवत् की स्थापना की।

२—चन्द्रगुप्त द्वितीय (३५१ से ४१३ ई०)

३—कुमारगुप्त प्रथम (४१३ से ४५५ ई०)

४—कश्मीर का विक्रमादित्य (५०० ई०)

५—हर्ष विक्रमादित्य (६०० ई०)।

अन्तिम तीनों को कोई भी विद्वान् विक्रम-संवत् के प्रवर्तक के रूप में स्वीकार नहीं करता। विवाद प्रथम दो को लेकर ही है।

भारतीय परम्परा विक्रम-संवत् का प्रचलन उज्जयिनी-नरेश विक्रमादित्य द्वारा ही मानती है, किन्तु पाश्चात्य और कतिपय भारतीय विद्वान् भी इसका श्रेय चन्द्रगुप्त द्वितीय को देते हैं।

पहले इस विक्रमादित्य को विद्वान् एक काल्पनिक व्यक्तित्व ही मानते थे। किन्तु कुछ प्रमाणों के आधार पर उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानना प्रारम्भ हो गया है।

सोमदेव-कृत 'कथासरित्सागर' में जो गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' पर आधारित है, परमारवंशीय सम्राट् विक्रमादित्य का वर्णन आता है, जो उज्जयिनी के राजा थे। इनके विषय में अनेक लोक-कथाएँ निर्मित हुईं। 'कथासरित्सागर' के अनुसार यह महेन्द्रादित्य के पुत्र थे। इन्होंने विदेशी आक्रान्ता को परास्त कर विजयोपलक्ष में 'मालवगणस्थिति' नामक नये संवत् का प्रवर्तन किया। इन्हीं के समय में ब्राह्मण संस्कृति का पुनरुदय हुआ। यह परम शैव थे और कहा जाता है कि उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर का निर्माण भी इन्होंने कराया था।

प्रथम शती की ही हाल की गाथासप्तशती में किसी विक्रम राजा का उल्लेख आता है। अतः ई० शती पूर्व विक्रमादित्य का होना सम्भव हो जाता है।

कालिदास के काव्यों में भी इन दोनों पुत्र पिता के संकेत मिल जाते हैं। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में विक्रम नाम इसी विक्रमादित्य के विक्रम की अनुशंसा ही है। ऐसे ही विक्रम के पिता महेन्द्र का नाम भी इन्द्र के अन्यान्य पर्यायों के रहते हुए प्रायः प्रयुक्त किया गया है, बल्कि निम्न उद्धरणों में तो यह सम्बन्ध और भी मुखर हो गया है—

(क) दिष्ट्या महेन्द्रोपकार पर्याप्तेन विक्रम महिम्ना वर्धते भवान्।

(ख) प्रथम पुत्रदर्शनेन विस्मृतास्मि। इदानीं महेन्द्रसंकीर्तनेन स्मारितःसमयो मम हृदय मायासमेति। —विक्रमोर्वशीय अङ्क ५

(ग) रम्भे उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः। —विक्रमोर्वशीय

उक्त पदावलियों की सांकेतिक व्यंजना स्पष्ट है। संभव है, यह नाटक विक्रम के राज्यारोहण पर अभिनीत भी किया गया हो।

सूर्यवंशी 'रघुवंश' को अपने काव्य का आधार बनाना भी सप्रसंग ही है। परमारवंशी विक्रम भी सूर्यवंशी थे। इसके साथ ही ये राजा शैव थे और कालिदास का शिव के प्रति मोह भी उल्लेखनीय है।

उनके अतिरिक्त अन्य प्रमाण भी हैं जो कालिदास को ई० शती पूर्व का सिद्ध करने के लिये दिये जाते हैं—

(१) अश्वघोष को पूर्ववर्ती न मानकर उन पर कालिदास का प्रभाव आरोपित किया जाता है। अश्वघोष का समय ईसा की पहली शती है।

(२) दाश्वान, विश्रामहेतो, पेलव, त्रियम्बक आस आदि शब्दों के प्रयोग पुरातन हैं। ऐसे ही कुछ धातुओं के लिट् को दो भागों में विभक्त करना भी पूर्वकालिक है— 'तं पातयां प्रथममास पपात् पश्चात्।'

ये प्रयोग पाणिनि के अनुसार शुद्ध नहीं हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि कालिदास तक पाणिनि के नियम पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित नहीं हुए थे।

(३) 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का धीवर-अपराध-दण्ड प्रसंग भी याज्ञवल्क्यानुसार न होकर मधु और आपस्तम्ब के अनुसार कठोर है। याज्ञवल्क्य का काल तीसरी शती माना जाता है।

गुप्तकालीन मत : समीक्षा—यह मत प्रथम शती ई० पू० का प्रतिद्वन्द्वी है। कीथ, स्मिथ, भंडारकर, डॉ० भगवतशरण, डॉ० भोलाशंकर आदि विद्वान् इसी मत के हैं। उनके अनुसार कालिदास निश्चय ही गुप्तकाल की विभूति हैं। इस मत के समर्थन में निम्नलिखित प्रभाव उपस्थित किये जा सकते हैं—

(१) चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' विरुद धारण करना ऐतिहासिक प्रमाणों पर सिद्ध है। पाटलिपुत्र से अपनी राजधानी हटाकर उज्जयिनी बनाना उसके अवन्तिनाथ को सार्थक कर देता है। 'रघुवंश' के छठे सर्ग में आई 'तत्र हुणावरोधानां भर्तृसु व्यक्त विक्रमम्' वाली पंक्ति इस प्रसंग से सटीक बैठ जाती है।

(२) कालिदास और गुप्तों के शिलालेखों की भाषाओं के बीच अभिव्यंजना का पूर्ण साम्य है। कहीं-कहीं तो कवि के वाक्यांश भी शिलालेखों में प्राप्त हो जाते हैं। कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के सातवें अंक में आये 'पुरा सप्तद्वीपं जयति वसुधामप्रतिरथः' का निम्नलिखित मुद्रांकित भाषाओं में साम्य द्रष्टव्य है :—

(अ) समरशत वितत विजयो जितपुरजितो दिवं जयति।

(आ) राजाधिराजः पृथ्वी विजित्वा जयं जयत्यावृत वाजिमेधः।

(इ) क्षितिमवाजत्य सुचरितै दिवं जयति विक्रमादित्यः।

(३) गुप्तों की मुद्राओं पर अंकित मयूरासीन कार्तिकेय संभवतः गुप्तों का कुलदेवता रहा होगा। इसी मुद्रांकित मयूरासीन 'कुमार' को वह 'मयूरपृष्ठा श्रमिणा गुहेन' जैसी काव्यमय शब्दावली में चित्रित करते हैं। मुद्राओं पर अंकित इस चिह्न का उल्लेख भी कालिदास करते हैं।

(४) कवि के काव्यों में वर्णित सुख, शांति, समृद्धि और विलासी जीवन का आमोद-प्रमोद भी यही ध्वनित करता है कि कालिदास भारत के स्वर्णयुग को हो थी हैं।

(५) कालिदास द्वारा वर्णित मूर्तिकला, शिल्पकला आदि का जो वर्णन आया है उससे भी यह सिद्ध होता है कि वे गुप्तकाल की हैं। कवि ने 'शाकुन्तल' में भरत की अँगुलियों का उल्लेख 'जालग्रथितांगुलिकरः रूप में किया है। प्रथम तो इस प्रकार की मूर्तियाँ उपलब्ध नहीं होतीं और जो उपलब्ध भी होती हैं वे गुप्त-काल की हैं। लखनऊ संग्रहालय में रखा हुआ 'मानकुँवर प्रस्तर बुद्ध' का उदाहरण इस सम्बन्ध में उल्लेख्य है।

(६) नख-शिख और रूप-सौंदर्य तथा विलास-वैभव के जो चित्रण कालिदास में प्राप्त होते हैं, वे सभी वात्स्यायन से प्रभावित हैं। वात्स्यायन का काल ईसा की तृतीय शती है। 'शाकुन्तल' की नायिका की सखियों अनुसूया और प्रियम्वदा का दुष्यन्त के साथ संलाप कामसूत्र के 'कन्यासंप्रयुक्तक' अधिकरण से, कण्वाशीर्वाद भार्याधिकरण से प्रभावित प्रतीत होता है। 'मालविकाग्निमित्र' और 'शाकुन्तल' के नायकों का इरावती और शकुन्तला के पैरों पड़ना भी 'तत्र युक्तरूपेण साम्ना पाद पतनन वा प्रसन्नमनास्तामनु नयन्नुप क्रम्य' से सादृश्य रखता है। 'रघुवंश' का 'दूती प्रसंग' भी वात्स्यायन के दूती कर्म से प्रभावित है।

(७) कवि द्वारा वर्णित पौराणिक परम्पराओं का प्रचार और प्रसार भी गुप्त-काल में ही हुआ है। हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों और मंदिरों का निर्माण इस काल में आशातीत रूप से हुआ। कवि प्रायः अपने ग्रन्थों में 'देव-प्रतिमा' कहकर इनका उल्लेख करता है। इस काल से पूर्व यक्ष और बुद्ध की प्रतिमाओं के प्रचार का ही बाहुल्य था। 'कुमारसम्भव' के सातवें सर्ग के ४२वें श्लोक में कालिदास चामर लिए गंगा और यमुना का उल्लेख करते हैं। समुद्रगुप्त की व्याघ्रांकित मुद्राओं के दूसरी ओर 'चामर-कमल-धारिणी' गंगा का चित्र द्रष्टव्य है।

(८) रघु द्वारा हूणों को पराजित करना कालिदास ने वर्णित किया है। पराजित होकर ये आक्सस प्रदेश में बस गये। यह काल लगभग ४२५ ई० के आसपास बैठता है। उनके पराजित होने पर ही पारस और उनके देश की मध्य सीमा आक्सस बनाई गई थी।

(९) अन्तःसाक्ष्यों के और प्रमाणों में रघुदिग्विजय को समुद्रगुप्त का दिग्विजय

माना जा सकता है। 'विक्रमोर्वशीय' के नाम में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का संकेत हो सकता है। 'मालविकाग्निमित्र' का अश्व चन्द्रगुप्त के अश्वमेध का व्यंजक हो सकता है। गुम धातु का बहुशः प्रयोग भी गुप्त राजाओं से निकट सम्बन्ध ध्वनित करता है।

(१०) ज्योतिष के पारिभाषिक शब्दों के आदान-प्रदान और साहित्य में उनके सामान्य प्रयोग के लिए जो अवधि ई० शती पूर्व में हमें प्राप्त होती है, वह कम है। चौथी शती तक आते-आते यह शब्द कालिदास के काल में प्रायः ज्ञात हो चुके होंगे। तभी कवि ने इनका प्रयोग भी किया है, अन्यथा इनका सामान्य प्रयोग सम्भव नहीं है।

निष्कर्ष—यद्यपि कालिदास के समय के विषय में अनेक प्रकार की धारणाएँ विद्वत्समाज में प्रचलित एवं मान्य हैं, किन्तु कालिदास के द्वारा ईसा पू० की प्रथम शती गौरवान्वित हुई थी, मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इस धारणा की पुष्टि निम्नलिखित सबल प्रमाणों में स्वतः हो जाती है—

(१) इतिहास से व्यक्त होता है कि शकों के निहन्ता तथा विद्वानों को प्रचुर द्रव्य प्रदान कर समादृत करनेवाले उज्जयिनी-नरेश विक्रमादित्य प्रथम शती ई० पू० में हुए हैं, जिनकी सभा मे महाकवि कालिदास विद्यमान थे।

(२) हाल की 'गाथासप्तशती' ५६४ तथा मेरुतुङ्गाचार्य (जैन) विरचित 'पद्यावली' से भी उपर्युक्त विक्रमादित्य का पर्याप्त समर्थन होता है।

(३) बौद्ध-कवि अश्वघोष का समय निश्चित है। अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी उत्तरार्द्ध है। सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन से प्रो० शारदारंजन रे तथा के०सी० चट्टोपाध्याय ने यह सिद्ध किया है कि कालिदास अश्वघोष से पूर्ववर्ती थे।

(४) उपर्युक्त विक्रमादित्य शैव था। उसके प्रिय कवि कालिदास भी शैव थे। गुप्तवंशीय नरेश परम वैष्णव थे। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' की संस्कृति से यह ज्ञात होता है कि वे बौद्ध-धर्म प्रभावित युग के कवि थे। पुनः वैदिक धर्म उत्थान ले रहा था अर्थात् शुङ्ग नरेशों के कुछ काल पश्चात् ही कालिदास का काल था।

(५) कालिदास ने 'रघुवंश' षष्ठ सर्ग में पांड्य-नरेशों का वर्णन किया है। यह पांड्य-राज्य प्रथम शती में विद्यमान था, न कि चतुर्थ शती में।

इन उपर्युक्त आधारों पर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, प्रो० चट्टोपाध्याय, डॉ० राजबली पांडेय, प्रो० जी० सी० झाला आदि विद्वानों ने कालिदास का समय ई० पू० प्रथम शती स्वीकार किया है, जो कि अत्यन्त उपयुक्त है।

कालिदास के महाकाव्य

महाकवि कालिदास ने दो महाकाव्य लिखे—'कुमारसम्भव' और 'रघुवंश'। 'कुमारसम्भव' के १७ सर्गों में शिव-पार्वती के विवाह, कार्तिकेय के जन्म तथा

तारकासुर के वध की कथा का वर्णन है। अनेक विद्वानों की धारणा है कि 'कुमार-सम्भव' के आरम्भ के आठ सर्ग ही कालिदास के रचे हुए हैं, क्योंकि मल्लिनाथ ने आरम्भ के आठ सर्गों पर ही टीका लिखी है। किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि अंतिम ८ सर्गों के बिना 'कुमारसम्भव' में महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण नहीं घटित हो पाते और इन सर्गों की भाषा और शैली भी प्रारम्भिक सर्गों से भिन्न नहीं है। विशेष आपत्ति का कारण तो 'कुमारसम्भव' का आठवाँ सर्ग है, जिसमें शिव-पार्वती की रतिक्रीड़ा का वर्णन है। किन्तु यह सर्ग भी वमन (८०० ई०) के समय में विद्यमान था और इसलिए ऐसा कोई बहिरंग प्रमाण उपलब्ध नहीं है जो इन सर्गों को कालि-दास की रचना न सिद्ध करता हो।

'कुमारसम्भव' कालिदास की कला की सुन्दर सृष्टि है। अपनी सुन्दर भाव-व्यंजना, उदात्त एवं कोमल कल्पना तथा प्रांजल पद-विन्यास के कारण वह आधु-निक रुचि के विशेष अनुकूल है। कालिदास की वर्णन-शक्ति 'कुमारसम्भव' में चारु रूप से प्रकट हुई है। कहीं बसन्त का स्निग्ध, मनोहर वर्णन है; कहीं विवाहित सौख्यों का आनन्द प्रसार पा रहा है; कहीं प्रियतम की वियोग-जन्य ज्वाला चित्त को दग्ध और संसार को शून्य कर रही है। बाह्य प्रकृति का मनोरम चित्रण इस काव्य की विशेषता है। आरम्भ में हिमालय का संश्लिष्ट, बिम्बग्राही वर्णन, तीसरे सर्ग में आकस्मिक वसन्त के आगमन पर वन-श्री का वर्णन, चौथे सर्ग में रति-विलाप, पाँचवें सर्ग में बटुवेषधारी शिव तथा तपस्विनी पार्वती का संवाद—ये विषय बहुत ही उत्कृष्ट प्रसादपूर्ण शैली में अंकित किये गये हैं। कवि का लक्षणा शक्ति भी इसमें खूब प्रस्फुटित हुई है। शिव-पार्वती का विवाह केवल रति-सुख के लिए नहीं था। उनके समागम से तारकासुर का संहार करने वाले परम तेज-पुंज कार्तिकेय का जन्म होता है। शिव-पार्वती का दैवी विवाह और प्रेम, मानवीय विवाह और प्रेम का प्रतिरूप है, जो वंश की वृद्धि और गृह की सुरक्षा के लिए परमावश्यक है। कालि-दास की सभी कृतियाँ प्रायः शृङ्गार-रसप्रधान हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे वासना-जन्य प्रेम के पक्षपाती थे। मदन का भस्म हो जाना तथा पार्वती का शिव को अपने सौन्दर्य-पास में बाँधने में असफल होना यह सिद्ध करता है कि कवि बाढ़ की तरह आनेवाली, बाह्य आकर्षणों तक ही सीमित रहनेवाली वासना का घोर विरोधी है। वासनाजनित क्षणभंगुर प्रेम का फल दुःख और क्लेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं। काम-वासनाओं को बिना जलाये सच्चे स्नेह की उपलब्धि नहीं हो सकती, बिना तपस्या के स्नेह कभी परिनिष्ठित नहीं हो सकता—यही 'कुमारसम्भव' का अमर संदेश है।

'रघुवंश'—कालिदास के सब काव्यों में ही नहीं, अपितु समस्त संस्कृत

साहित्य में 'रघुवंश' एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसके १९ सर्गों में सूर्यवंश के राजाओं का यशोगान किया गया है। प्रथम ९ सर्गों में राम के चार पूर्वजों—दिलीप, अज, रघु और दशरथ—का वर्णन है; १० से १५ सर्ग तक रामचरित का तथा अन्तिम ४ सर्गों में राम के वंशजों का वर्णन है।

'रघुवंश' में कालिदास की परिपक्व प्रज्ञा और प्रौढ़ प्रतिभा का परिचय मिलता है। १९ सर्गों मे ऐसे प्रशस्त एवं रुचिर काव्य की सृष्टि करना, अनुरूप घटनाओं का उसमे स्वाभाविक रूप से समावेश करना, आकर्षक चरित्र-चित्रण और विषद वर्णनों में उसकी शोभा मे वृद्धि करना और इन सब के उपरान्त, समग्र ग्रन्थ में रस-व्यंजना तथा उदात्त शैली का उचित समन्वय करना—ये कार्य कवि की सर्वातिशायिनी प्रतिभा से ही सम्पादित हो सकते है। इन्दुमती का स्वयंवर, अज का विलाप, राम तथा सीता का विमानयात्रा, निर्वासित होने पर लक्ष्मण द्वारा सीता का सन्देश भेजना, शून्य अयोध्या का उसकी अधिष्ठात्री देवी द्वारा कुश के स्वप्न मे वर्णन—इसमें प्रत्येक घटना इतनी स्वाभाविक और सुन्दर शैली में वर्णित हुई है कि पाठक पर वह अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है। प्रायः सभी मुख्य रसों का परिपाक 'रघुवंश' में हुआ है। अग्निवर्ण के विलास-वर्णन में शृङ्गार का; रघु, अज और राम के युद्ध-प्रसंगों में वीर का; अज-विलाप में करुण का; वसिष्ठ और वाल्मीकि के आश्रम तथा सर्वस्वत्यागी रघु के वर्णन में शान्त-रस का प्राधान्य है। अलंकारों का प्रयोग भी भाव या दृश्य के चित्र को अधिक चटकीला बनाने के लिए ही हुआ है। भाषा इतनी सुबोध है कि साधारण संस्कृत जानने वाले भी उसका आनन्द उठा सकते हैं। संस्कृत के अनेक ग्रंथ-कारों और सुभाषितकारों ने कालिदास का 'रघुकार' नाम से ही उल्लेख किया है—'क इह रघुकारे न रमते।' इससे 'रघुवंश' की सर्वप्रियता और उत्कृष्टता का पता चलता है। आदर्शों की अनुपम सृष्टि के लिए, रम्य और ललित कथोपकथन के लिए, सरस एवं स्पष्ट भाव-व्यंजना के लिए तथा कोमल और मधुर रसोत्पत्ति के लिए 'रघुवंश' कालिदास की कीर्ति-पताका को सतत परिस्फुरित करता रहेगा।

विस्तार-भय से इन महाकाव्यों में से सभी उत्कृष्ट उदाहरण नहीं दिये जा सकते। सच तो यह है कि कालिदास के सर्वाङ्गसुन्दर काव्यों में से किस स्थल का उदाहरण दिया जाय और किस स्थल को छोड़ दिया जाय, यह निर्णय करना ही कठिन है। फिर भी एक दो उदाहरण पाठकों के सम्मुख रखे जाते हैं। भारतीय सौन्दर्य का आदर्श कवि ने 'कुमारसम्भव' के पाँचवें सर्ग में उपस्थित किया है—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः। ५।२४

इसमें पार्वती की अनिन्द्य सुन्दरता का प्रकारान्तर से अत्यन्त मनोहर वर्णन

है। जब पार्वती खुले स्थान पर बैठकर तपस्या करती थीं, तब वर्षा की बूंदें किस प्रकार उनके ललाट-स्थल से नाभि तक टकराती, बल खाती पहुँचती थीं, इसका कवि ने बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। उनकी बरौनियाँ घनी थीं, अतः जल की बूंदें कुछ देर तक उनमें अटक जाती थीं, किन्तु कुछ ही क्षण तक, जिससे यह प्रतीत होता है कि घनी होने के साथ ही वे स्निग्ध भी थीं। तत्पश्चात् वे बूंदें उनके अधरों में होती हुई उनके वक्षःस्थल से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाती थीं, जिसका तात्पर्य यह है कि पार्वती के उरोज कठोर एवं उन्नत थे। फिर उदर की त्रिवली में चक्कर काटती हुई वे बूंदें अन्त में नाभि के नयनाभिराम प्रदेश में प्रवेश करती है। पार्वती के अवयवों का कैसा चारु चित्रण है।

पर कालिदास ने नारी-सौंदर्य का केवल स्निग्ध एवं शृंगारिक रूप ही नहीं चित्रित किया है, अपितु उसके सगर्व स्वाभिमान का भी चित्र उपस्थित किया है—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥ रघु० १४।६१

परित्यक्ता सीता लक्ष्मण से कहती हैं कि 'तुम मेरी ओर से उन राजा (राम) से यह सन्देश कहना—लंका विजय के बाद देवताओं, वानरों, राक्षसों तथा स्वयं आपके सामने अग्निदेवी ने मेरी पवित्रता का प्रमाण दिया था। क्या उनमें भी आपकी श्रद्धा नहीं? लोगों के निराधार प्रवाद को सुनकर ही आपने अपनी वाग्दत्ता पत्नी का परित्याग कर दिया। क्या वह आचरण आपकी विद्वत्ता अथवा कुल के अनुरूप है?' 'स राजा' क्या ही चुभता हुआ व्यंग्य है! राम पहले राजा हैं, पति बाद में।

कालिदास की शैली—कालिदास की कृतियों में संस्कृत काव्य-शैली का चारुतम रूप प्रस्फुटित हुआ है। उनकी कविता के जिन गुणों ने संसार को उनका भक्त बना दिया है उसमें उनकी मौलिकता अद्वितीय है। उन्होंने अपना विषय भले ही प्राचीन आख्यानों से लिया हो, पर किस प्रकार वे अपने सृष्टि-नैपुण्य से उसे कुछ-का-कुछ बना देते हैं, किस प्रकार वे नीरस और सर्वप्रसिद्ध कथानक को अति रोचक और मनोमुग्धकारी बना देते हैं—यह दर्शनीय है। मौलिकता नई सृष्टि रचने में उतनी नहीं होती जितनी पुरानी सृष्टि को नूतन चमत्कार प्रदान करने में। कालिदास की सभी रचनाएँ इस कसौटी पर खरी उतरती हैं।

कालिदास की सर्वतोमुखी प्रतिभा उन्हें विश्व-साहित्य में असाधारण स्थान प्रदान करती है। उन्होंने महाकाव्य, गीतिकाव्य तथा नाट्य-रचना सभी में अपनी प्रखर प्रतिभा का समान रूप से परिचय दिया है। कोई भी एक कवि इन सब में उनकी बराबरी नहीं कर सकता। सम्भव है कि शेक्सपियर एकमात्र नाट्य-नैपुण्य अथवा चरित्र-चित्रण में कालिदास से कुछ बढ़कर हो, किन्तु भारतीय आदर्शों के अनु-

सार काव्य की अन्तरात्मा —'रस'—की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति कालिदास के काव्यों में हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

कालिदास की लोकप्रियता का प्रधान कारण है, उनकी प्रसादपूर्ण लालित्ययुक्त और परिष्कृत शैली। उन्होंने अपने सभी ग्रन्थ वैदर्भी रीति में लिखे हैं—'वैदर्भीरीति-सन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते।' दण्डी ने वैदर्भी-रीति की उद्भावना सर्वप्रथम कालिदास द्वारा ही मानी है।[1] वैदर्भी-रीति का लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार दिया है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते॥

ललित पदविन्यास के माधुर्य से तथा क्लिष्टता और कृत्रिमता के सर्वथा परिहार से कालिदास की रचनाएं स्वाभाविक और सहज-सुन्दर हैं, सर्वत्र सरल, सुबोध एवं प्रसादयुक्त हैं।

किसी भाव का चित्रण करते समय कालिदास एक अनूठी शैली का उपयोग करते हैं। वे उसे स्पष्ट शब्दों में कहने की अपेक्षा व्यंजना-वृत्ति का आश्रय ले—उसकी ओर सूक्ष्म संकेत कर देना पर्याप्त समझते हैं—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥ कु० ६।८४

जब अंगिरा ऋषि गिरिराज हिमालय से शंकर के लिए पार्वती की मँगनी की प्रार्थना कर रहे थे, उस समय पास हो बैठी हुई पार्वती की मानसिक दशा का इसमें चित्रण है। इस श्लोक में एक भी अलंकार नहीं है, तथापि कवि ने कमल-पत्र की गिनती के वर्णन से पार्वती की सहज लज्जाशीलता, आन्तरिक प्रेम तथा आनन्दातिरेक के गोपन की प्रवृत्ति की बड़ी रुचिर एवं मार्मिक व्यंजना की है। जहाँ बाण और भवभूति किसी रमणीय कल्पना का अति-विस्तृत वर्णन करते हैं, वहाँ कालिदास कतिपय चुने हुए शब्दों में ही उसकी बाँकी झाँकी दिखा देते हैं। कालिदास का शब्द-लाघव उनकी कलात्मक अभिरुचि का परिचायक है। उनकी कवि-कल्पना नित्य-नूतन चित्रों की सृष्टि करने में निपुण है। उनकी रसमयी रुचिर रचनाओं पर 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' वाली लोकोक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है।

कोमल एवं सुकुमार भावों की व्यंजना में कालिदास अद्वितीय हैं। इसीलिए 'प्रसन्नराघव' के कर्ता कालिदास को 'कविताकामिनी का विलास' कहते हैं। शृंगार-रस के सम्भोग एवं विप्रलम्भ, इन दोनों पक्षों का जैसा सूक्ष्म एवं मार्मिक उद्घाटन

---

1. लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विवदा गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्॥

कालिदास ने किया है, वैसा संसार के किसी और कवि ने किया होगा, इसमें सन्देह है। उनका करुण-रस भी कम मार्मिक नहीं। 'कुमारसम्भव' का रति-विलाप तथा 'रघुवंश' का अज-विलाप उनके करुण-रस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पति के भस्मीभूत शरीर तो देखकर रति विलाप कर रही है—

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमेव दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम्॥ कु० ४।३०

'हे वसन्त, तुम्हारे वे प्रिय सखा (कामदेव) हवा के झोंके से बुझे दीपक की भाँति, कभी न लौटने के लिए, चले गये और देखो, मैं उस बुझे दीपक की काली वत्ती के समान असह्य शोकान्धकार से आवृत बची हुई हूँ।' पत्नी के वियोग पर अज की कैसी दशा हो गई है—

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु॥ रघु० ८।४३

'अज अपना सहज धैर्य छोड़कर सिसकियों से अवरुद्ध हुई वाणी से फूट-फूटकर विलाप करने लगे। अधिक ताप से लोहा भी पिघल जाता है, फिर शरीरधारियों की तो बात ही क्या ?' इसके विपरीत नव-वधू के प्रेम का क्या ही मनोरम चित्र कवि ने खींचा है—

आत्मानमालोक्य च शोभामनमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः॥ कु० ७।२२

'जब पार्वती ने अपने दीर्घ नेत्रों से दर्पण में अपना रमणीय रूप देखा तब वह शीघ्रता से शिव के समीप पहुँचने के लिए आतुर हो गईं, क्योंकि स्त्रियों के लावण्य की सफलता प्रियतम की स्नेहसिक्त दृष्टि में ही निहित है।' करुण एवं शृङ्गार, इन दोनों रसों की व्यंजना में कवि के पद्यों का नाद-सौंदर्य और सुकुमार वर्ण-विन्यास विशेष सहायक हुए हैं।

अलंकारों के प्रयोग में कवि ने अपनी सूक्ष्म मर्मज्ञता का परिचय दिया है। उनकी कविता अत्यधिक अथच अनावश्यक अलंकारों के भार से आक्रान्त कामिनी की भाँति मंद-मंथर गति से चलनेवाली नहीं है, अपितु 'स्फुटचन्द्रतारका विभावरी' की भाँति अपने सहज-सौन्दर्य से सहृदयों के चित्त को आकृष्ट करनेवाली है। उनके अनुप्रास उनकी काव्यधारा में सर्वत्र अप्रयास ही आ गये हैं, कहीं भी जबरदस्ती ठूँस-ठूँसकर नहीं बैठाये गये हैं, जैसे—'प्रजाः प्रजानाथ पितेवपासि', 'मायूरी मदयति-मार्जना मनांसि', 'निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु' आदि। यमक के रस-भंग होने की आशंका रहती है, इसलिए कवि ने उसका क्वाचित् ही उपयोग किया है, जैसे 'अधाय बध्यस्य

शरं शरण्यः', 'मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम्'। श्लेष के अधिक प्रयोग से काव्य में क्लिष्टता या कृत्रिमता आ जाती है, अतः कवि ने उसका कम ही प्रयोग किया है। उन्होंने शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों पर विशेष ध्यान दिया है। स्वभावोक्ति में वे सिद्धहस्त हैं। उनके शाब्दिक चित्र सजीव एवं स्वाभाविक हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों के प्रयोग में उनकी बहुश्रुतता एवं व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है।

उपमा कालिदासस्य—कालिदास की उपमाओं की विलक्षणता तो विश्व-विख्यात है—'उपमा कालिदासस्य'। वास्तव में उनकी उपमाएँ अद्वितीय हैं। अनु-रूपता, सरसता तथा अपूर्वता की दृष्टि से वे बेजोड़ हैं।[1] नन्दिनी गाय राजा दिलीप और सुदक्षिणा के बीच वैसी ही शोभा पा रही है जैसी दिन और रात के मध्य में होने वाली रक्तवर्णा सन्ध्या—'दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या'। पौर-स्त्रियाँ राजकुमार अतिथि का अपने द्वारा उसी प्रकार अनुसरण कर रही थीं, जिस प्रकार चमकते हुए तारोंवाली शरद्-ऋतु की रात्रियाँ ध्रुव-नक्षत्र का अनुगमन करती हैं—'शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिवि-भावर्य इव ध्रुवम्।' रमणीय होने के साथ ही कालिदास की उपमाएँ यथार्थ हैं—स्वयंबर के समय इन्दुमती जिस राजा को छोड़ती जाती है, उसके चेहरे पर निराशा की ऐसी कालिमा छा जाती है जैसी राजमार्ग के उन महलों पर जिन्हें रात्रि के समय आगे बढ़नेवाली दीपशिखा पीछे छोड़ती चली जाती है। उपमाओं की विविधता भी दर्शनीय है। मदन-दाह के उपरांत शोक से व्याकुल रति की, पानी सूख जाने पर तालाब में अकेली बची शोभाहीन कमलिनी से, मूर्त उपमा दी गई है। शास्त्रीय उपमाएँ भी कई मिलती हैं—ब्राह्म सरोवर से निकलनेवाली सरयू सांख्य-शास्त्र के अव्यक्त मूल-प्रकृति से उत्पन्न होने वाले बुद्धि-तत्त्व की तरह है। नन्दिनी के पीछे चलनेवाले दिलीप की, श्रुति का अनुसरण करनेवाली स्मृति से, उपमा आध्यात्मिक है—'श्रुतेरिवार्थस्मृतिरन्वगच्छत्।' अमूर्त कल्पनाओं से भी कवि ने उपमाएँ ली हैं—माता की गोद को शोभित करनेवाले भरत की उपमा लक्ष्मी को शोभा बढ़ानेवाले विनय से दी गई है। व्यवहार और अनुभव से सूझी हुई उपमाएँ भी मिलती हैं—दुष्यन्त को सौंपी गई शकुन्तला सुपात्र शिष्य को दी गई विद्या के समान है। सभी उपमाएँ स्वा-भाविक और अपने-अपने प्रसंग के सर्वथा अनुकूल हैं—पेटू विदूषक चन्द्रमा को मक्खन का गोला समझता है।

सुन्दर उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण 'मेघदूत' में भरे पड़े हैं। पके पीले आमों के

1. P. K. Gode : Psychological Study of Kalidasa's उपमा 's, Proceedings of the Ist Oriental Conf. 1919, Vol. II, p. 205.

वृक्षों से आच्छादित आम्रकूट पर्वत की चोटी पर जब काले मेघ छा जाते हैं, तब वह पर्वत ऐसा दिखाई पड़ता है मानो 'मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपांडुः' हो; अर्थात् वसुन्धरा के गौरवर्ण उन्नत उरोज के मध्य भाग में श्यामवर्ण में कुचाग्र शोभित हो रहा हो। इसी प्रकार कैलास पर्वत की शुभ्र धवल हिमाच्छादित चोटियाँ ऐसी शोभित हो रही हैं मानो भगवान् शंकर के प्रतिदिन अट्टहास की राशियाँ इकट्ठी हों। दृष्टान्त भी कवि का प्रिय अलङ्कार है—'सागरमुज्झित्वा क्व वा महानद्यवतरति', 'क इदानीं सहकारमुज्झित्वाऽतिमुक्तलतां पल्लवितां सहते'—दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम को लक्ष्य में रखते हुए दृष्टांत बड़े ही अनुरूप हैं। अर्थान्तरन्यास में कवि का व्यावहारिक ज्ञान बड़े रसीले रूप में प्रकट हुआ है—'किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्', 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते', 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता', 'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्'—इत्यादि।

अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति के कारण कालिदास अपने शब्द-चित्रों को बड़ी खूबी से खींच सके हैं। वे मानव-हृदय की कोमल भावनाओं के, उसकी उत्सुकता और विह्वलता के, उसके विविध भावावेशों के सच्चे पारखी थे। अन्तर्जगत् के साथ बाह्य जगत् के भी वे सूक्ष्म मर्मज्ञ थे। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का, उसके अनुपम दृश्यों का, सच्चा चित्र उनके काव्यों में सर्वत्र मिलेगा।

चरित्र-चित्रण में भी कालिदास अद्वितीय हैं। 'दीपशिखा' के तुल्य इन्दुमती, 'कृशांगयष्टि' सीता, 'संनतगात्री' पार्वती, 'तन्वी श्यामा' यक्षपत्नी, 'मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' शकुन्तला के जीते-जागते चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। उनके पात्रों का व्यक्तित्व अपनापन लिए हुए है। वे हमारी कल्पना-नगरी में हजारों वर्षों से निवास करते हुए भी नित्य-नूतन एवं चिर-सुन्दर हैं। भारतीय साहित्य में उनका स्थान अमर हो गया है।

कालिदास की कृतियों में कहीं-कहीं अश्लीलता, च्युत-संस्कृति, औचित्य-भंग एवं रस-दोष की त्रुटियाँ पाई जा सकती हैं, पर 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' के अनुसार वे सर्वथा नगण्य एवं उपेक्षणीय हैं। प्रसाद की प्रचुरता, माधुर्य का समुचित सन्निवेश, भावों का सौष्ठव, अलङ्कारों की अपूर्वता एवं रमणीयता तथा भाषा का लालित्य—इन सब गुणों ने कालिदास की कविता को विश्ववन्द्य बना दिया है। कालिदास के विषय में किसी आलोचक की उक्ति है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

'प्राचीन काल में कवियों की गणना करने का प्रसंग आने पर कालिदास का नाम सर्व-

प्रथम कनिष्ठिका अँगुली पर रखा गया। किन्तु कालिदास की बराबरी करनेवाले अन्य किसी कवि के न होने के कारण दूसरी अँगुली पर किसी का नाम पड़ा ही नहीं, इसीलिए उस अँगुली का नाम अनामिका पड़ा। आज भी कालिदास के समकक्ष कोई और कवि न होने के कारण उस अँगुली का 'अनामिका' नाम सर्वथा सार्थक हो रहा है।'

बाणभट्ट पूछते हैं कि कविवर कालिदास की आम्र-मंजरी के समान सरस मधुर सूक्तियों को सुनकर किसके हृदय में आनन्द का उद्रेक नहीं होता ?—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते ॥

प्रसिद्ध अलङ्कारिक आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक' में एक स्थान पर कहा है—'अस्मिन्नति विचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदास-प्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवयः इति गण्यन्ते' अर्थात् इस संसार में अनेक कवि पैदा होते हैं, फिर भी उनमें से कालिदास के समान दो, तीन या अधिक-से-अधिक पाँच-छः व्यक्तियों को ही 'महाकवि' की उपाधि दी जा सकती है। पीयूषवर्ष जयदेव ने कालिदास को 'कविकुलगुरु' पद से विभूषित किया है। सोड्ढल ने 'रघुवंशकार' की प्रशंसा इस प्रकार की है—

ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य ।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः ॥

'धन्य हैं वे कवि कालिदास जिनकी कीर्ति उनकी कविता के समान ही निर्दोष, अमृत-तुल्य एवं मधुर है। जिस प्रकार उनकी वाणी सूर्यवंश का पूरा वर्णन कर सकी वैसे ही उनकी कीर्ति भी समुद्र के पार पहुँची है।' श्रीकृष्ण कवि अपने 'भरत-चरित' के आरम्भ में कालिदास की भाषा का इस तरह वर्णन करते हैं —

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

'कमलिनी की तरह अस्पृष्ट दोषवाली (रात में विकास न पानेवाली, दूसरे पक्ष में दोषरहित), मुक्ताहार की तरह गुणसमूहयुक्त (अनेक सूत्रोंवाली, दूसरे पक्ष में गुण-समुदाय से युक्त), प्रिया की गोद की तरह विमर्द से (संवाहन से, परीक्षण से) आह्लाद-कारक भाषा कालिदास के सिवा अन्य किसी कवि की नहीं है।' गोवर्धनाचार्य ने भी कालिदास की प्रशंसा करते हुए कहा है कि उनकी सूक्ति साभिप्राय, मधुर तथा कोमल रति-विलासिनी के कंठ-स्वर की तरह है, जो शिक्षा देते समय भी हमें आनन्द से विभोर कर देती है—

साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये ।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीलाकालिदासोक्ति ॥

मम्मट का यह कथन कि कविता कान्ता के कोमल उपदेशों के समान शिक्षा देती है—'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'—कालिदास की कविता पर पूर्णतया घटित होता है।

अश्वघोष : सौन्दरनन्द और बुद्धचरित

संस्कृत के बौद्ध-कवियों में अश्वघोष का स्थान सबसे ऊँचा है। परम्परा के अनुसार ये ईसा की प्रथम शताब्दी में राजा कनिष्ठ (७८ ई०) के गुरु और आश्रित-कवि थे। इनका जन्म साकेत (अयोध्या) में हुआ था। इनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। इनके महाकाव्यों में वेद और शास्त्रों की अनेक बातें मिलती हैं, जिनसे इनका एक सुशिक्षित ब्राह्मण-कुल में जन्म लेना सिद्ध होता है। बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने पर अश्वघोष ने बौद्ध-धर्म के प्रचार में अपनी सारी शक्ति लगा दी। उन्होंने साधारण जनता को बौद्ध-धर्म के गूढ़ रहस्यों को काव्य की मधुर भाषा में समझाने का बीड़ा उठाया। दार्शनिक होने के साथ ही अश्वघोष एक उच्चकोटि के कवि तथा संगीतज्ञ भी थे।

पाश्चात्य विद्वानों ने अश्वघोष को ही संस्कृत का सर्वप्रथम महाकवि स्वीकार किया है। 'सौन्दरनन्द' उनका प्रथम महाकाव्य है। इसमें १८ सर्ग हैं। इसमें बुद्ध के उपदेश से उनके छोटे भाई नन्द अपनी प्रिय पत्नी सुन्दरी तथा सांसारिक सुखों को त्याग कर बौद्ध-धर्म की दीक्षा लेते हैं। किन्तु वास्तव में कवि का उद्देश्य रोचक काव्य-शैली द्वारा जनता को बौद्ध-धर्म के उच्च सिद्धान्तों को समझाना तथा ऐहिक भोगों का त्याग करवाकर पूर्ण वैराग्य को ओर उन्मुख करना था। इस काव्य की शैली शुद्ध वैदर्भी है। भाषा की सरलता, भावों की कोमलता तथा वर्णन की सजीवता दर्शनीय है। उदाहरण के लिए दो पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

> तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः।
> द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभेतान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ॥ ४।७

इसमें सुन्दरी और नन्द के वियोग की तुलना रात्रि और चन्द्रमा के वियोग से की गई है।

> तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
> सोऽनिश्चयात् नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः॥ ४।४२

नन्द की अवस्था का क्या ही स्वाभाविक चित्रण है! 'एक ओर वे बुद्ध के उपदेशों से आकृष्ट हो रहे हैं तो दूसरी ओर उनका पत्नी-प्रेम उन्हें अपनी ओर खींच रहा है। इस अनिश्चय के कारण वे न तो वहाँ से जा सकते थे और न रुक ही सकते थे, ठीक वैसे ही जैसे कि नदी की धारा के विरुद्ध तैरता हुआ हंस न तो आगे ही बढ़ता है और न पीछे ही हट सकता है।'

'बुद्धचरित' उनका दूसरा महाकाव्य है। इसके २८ सर्गों में से केवल १७ सर्ग उपलब्ध होते हैं। पर सम्पूर्ण ग्रन्थ का एक चीनी अनुवाद (४०४ ई०) और एक तिब्बती अनुवाद (८०० ई०) अवश्य उपलब्ध होता है। उसमें गौतम बुद्ध के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। भाषा-शैली अत्यन्त सरल तथा मधुर है। उपमाएँ बड़ी सुन्दर और रोचक हैं। स्थान-स्थान पर प्राकृतिक वर्णन अत्यन्त सजीव हैं। अश्वघोष की यह कृति सचमुच एक कलाकार की कृति है। कथा की उत्कृष्टता एवं उसके निर्वाह में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। कथा के प्रभाव में बीच-बीच में बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का आकर्षक रूप से प्रतिपादन किया गया है। हाँ, कहीं-कहीं गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों को काव्यरूप में प्रस्तुत करने के फलस्वरूप शैली में शिथिलता एवं दुरूहता आ गई है। नीचे दिए दो पद्यों में इनकी रचना-चातुरी का परिचय मिलेगा—

विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तसितांशुका शयना।
ऋजुषट्पदपंक्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव॥

एक सोती हुई सुन्दरी का चित्र है। 'उसके हाथ एक वीणा पर पड़े हुए थे। उसका श्वेत अंचल उसके वक्षःस्थल से खिसक गया था। जान पड़ता था कि मानो वह एक ऐसी नदी है जिसकी फेनिल तरंगों से तट हास्य का प्रसार कर रहे हों तथा जिसकी कमल-श्रेणियों पर भ्रमरों की पंक्ति शोभित हो रही हो।' यशोधरा वन में गये अपने पति की चिन्ता कर रही है कि—

शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः।
कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले॥

राजसी वैभव में पले वे वनवास की कठोर यातनाओं को किस प्रकार सह सकेंगे।

ये अश्वघोष के ग्रन्थ निश्चय ही संस्कृत-काव्य के भूषण हैं। कालिदास के पूर्व के काव्य-ग्रन्थ जहाँ लोगों की अभिरुचि न प्राप्त कर सकने के कारण समय के प्रवाह में लुप्त हो गये, वहाँ अश्वघोष की कृतियाँ, सुरक्षित रहीं। उनके काव्य जनता के लिए अधिक हृदयग्राही सिद्ध हुए। उनके ग्रन्थ यह प्रमाणित करते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी में संस्कृत काव्य का इतना विकास हो चुका था कि अश्वघोष जैसे बौद्ध-धर्म के आचार्य भी संस्कृत मे रचना करने के लिए बाध्य हुए। कुछ पाश्चात्य विद्वान् तो यहाँ तक कहते है कि कविकुलगुरु कालिदास ने भी अश्वघोष के भावों को अपनाया है। किन्तु आधुनिक भारतीय मत के अनुसार कालिदास का ही प्रभाव अश्वघोष पर पड़ा है। कथानक की सृष्टि, वर्णन-शैली, अलङ्कार-प्रयोग तथा छन्दों के चुनाव में अश्वघोष, कालिदास से अवश्य प्रभावित हुए हैं।

अश्वघोष के काव्यों की शैली शुद्ध वैदर्भी है। उनकी वर्णन-शैली स्वाभाविक

और प्रभावोत्पादक है। माधुर्य और प्रसाद गुणों से युक्त उनकी कविता धारा-प्रवाह से प्रवाहित होती है। रूखे-सूखे दार्शनिक तत्त्व मधुर भाषा में घरेलू परिचित दृष्टान्तों के द्वारा समझाये गये हैं। अतः वे अनायास ही हृदयंगम हो जाते हैं। युक्तियों की अपूर्वता, उपमाओं की अनुरूपता, उदाहरणों की अनुकूलता, भावों की सुन्दरता तथा भाषा की मधुरता—इन सब गुणों के कारण उनके काव्य आकर्षक और रोचक हुए हैं। मानव-मनोभावों का सूक्ष्म वर्णन उनके प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण के समान ही मनोमुग्धकारी हुआ है। शृङ्गार के साथ करुण-रस का पुट होने के कारण उनकी कविता सहृदयों को अधिक आकृष्ट करती है, किन्तु उनके काव्यों में शान्त-रस प्रधान है। यद्यपि अश्वघोष की रचनाओं में कालिदास की-सी रोचकता और चारुता पाई जाती है तथापि उनमें वह निखरा हुआ वाग्विलास और प्रबन्ध की प्रौढ़ता नहीं पाई जाती। फिर भी कालिदास की अपेक्षा उनकी शैली अधिक सरल है। शब्दालंकारों के उपयुक्त प्रयोग से जो पद-लालित्य उत्पन्न हो जाता है, वह अश्वघोष की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है।

कालिदासोत्तर प्रमुख महाकाव्य

कालिदास तथा अश्वघोष के बाद जिन महाकाव्यों की रचना हुई उनका कथानक अधिकतर 'रामायण' अथवा 'महाभारत' से लिया गया है। इन काव्यों में शृङ्गार-रसात्मक वर्णन की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई। धीरे-धीरे भाषा ने अपनी सरलता छोड़कर क्लिष्ट शब्दों और दीर्घ समासों का आश्रय लिया। इनमे कालिदास और अश्वघोष की-सी सरलता और स्वाभाविकता की कमी है। इन उत्तरकालीन कवियों ने काव्य का उद्देश्य बाह्य शोभा–अलंकार, श्लेष-योजना एवं शब्द-विन्यास-चातुरी—तक ही सीमित कर दिया। अलंकार-कौशल का प्रदर्शन करना तथा व्याकरण आदि शास्त्रों के नियमों के पालन में अपनी निपुणता सिद्ध करना ही उनका प्रधान लक्ष्य हो गया। काव्य का विषय गौण हो गया तथा भाषा और शैली को अलंकृत करने की कला प्रधान हो गई। अलंकृत बृहत्त्रयी में भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपालवध और श्रीहर्ष का नैषध नामक तीन महाकाव्य हैं।

इन काव्यों के रचयिता प्रायः राजाओं के आश्रित हुआ करते थे। राजा स्वयं साहित्यिक रुचि के व्यक्ति होते थे और उनमें वास्तविक गुणों की परीक्षा करने की क्षमता होती थी। राजसभाओं के इस प्रभाव के कारण तत्कालीन संस्कृत महाकाव्यों पर राजकीय जीवन की—उसकी विलासिता तथा कृत्रिमता की—स्पष्ट छाप देख पड़ती है। भाव-प्रदर्शन का स्थान वैदग्ध्य-प्रदर्शन ने ले लिया, तथा कल्पना ने रस को आक्रान्त कर लिया।

राजकीय प्रभाव के साथ ही इन काव्यों पर दो अन्य शास्त्रों—काम-शास्त्र तथा अलङ्कार-शास्त्र—का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वात्स्यायन-कृत 'कामसूत्र' से कवियों को नायक और नायिका का आदर्श प्राप्त हुआ। नायक-नायिका के आहार-विहार, हाव-भाव, कटाक्ष-भ्रूविलास आदि समस्त शृङ्गारिक विषय कवि के लिए 'कामसूत्र' में प्रस्तुत हैं। अलङ्कार-शास्त्र ने काव्य-सम्बन्धी नियमों को निर्धारित किया।

महाकवि कालिदास ने अपनी लेखनी तथा कल्पना को कामशास्त्र और अलंकार-शास्त्र की संकीर्ण परिधि में नियन्त्रित नहीं रखा; दुनिया को अपनी आँखों से देखने का कार्य बन्द नहीं कर दिया। तभी उनकी कृतियाँ कलात्मक हैं और पाठक उनको पढ़ने में वैरस्य का कभी अनुभव नहीं करता। किन्तु उत्तरकालीन कृतियों में भावों का वह सुन्दर गुम्फन नहीं, स्वाभाविकता, सरसता तथा नवीनता नहीं। नियमों की शृङ्खला में आबद्ध होकर उनके रचयिता काव्य के प्रमुख प्रयोजन, रस की अभिव्यक्ति से पराङ्मुख हो गये। शास्त्रीय सिद्धान्त की प्रधानता ने इन परवर्ती कवियों को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना शक्ति के प्रति अतिरिक्त सावधान बना दिया। उन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अन्तःप्रेरणा या स्वानुभूति को गौड़ मान लिया, इसीलिए स्वाधीन चिन्ता के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया।

उपर्युक्त कारणों से कालिदास के अनन्तर रचे गये काव्यों में सच पूछिये तो सूक्तियाँ अधिक हैं, काव्य कम। 'जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु अथवा तथ्य की मार्मिक भावना से लीन कर दे वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह है सूक्ति।'

भारवि : किरातार्जुनीय

महाकाव्यकारों में कालिदास और अश्वघोष के बाद भारवि का नाम लिया जाता है। इनके समय का ज्ञान हमें बहिरंग प्रमाणों से मिलता है। भारवि के काव्य में कालिदास की रचनाओं का बहुत-कुछ अनुकरण है जिससे भारवि का कालिदास के बाद में होना सूचित होता है। माघ (७०० ई०) पर भारवि का प्रभाव स्पष्ट है। बाण (६५० ई०) अपने 'हर्षचरित' में भारवि का उल्लेख नहीं करते, अतः अनुमान होता है कि उनके समय में भारवि की विशेष प्रसिद्धि नहीं हुई थी। ऐहोल के ६३४ ई० के शिलालेख में चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी द्वितीय की प्रशस्ति है। इसमें भारवि के नाम का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

इस उल्लेख से पता चलता है कि भारवि का स्थितिकाल ६३४ ई० से पूर्व का है तथा उस समय वे दक्षिण भारत मे प्रसिद्ध हो चुके थे। अवन्तिसुन्दरी-कथा' के आधार पर भारवि दक्षिण भारत के रहनेवाले थे और पुलकेशी द्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन के सभा-पंडित थे। कुछ विद्वानों ने भारवि को त्रावणकोर प्रदेश का निवासी सिद्ध किया है।[1] विष्णुवर्धन का शासनकाल ६१५ ई० के लगभग था। अतः भारवि का समय ६०० ई० के आस-पास होना चाहिए।

भारवि की कीर्ति उनके सुप्रसिद्ध महाकाव्य **'किरातार्जुनीय'** पर अवलम्बित है। उनका यही एकमात्र ग्रन्थ है। महाकाव्य में आलंकारिकों ने जिन-जिन वस्तुओं के वर्णन को आवश्यक माना है, उन सबका वर्णन इसमें है। 'किरातार्जुनीय' का कथानक 'महाभारत' के वनपर्व से लिया गया है। द्यूतक्रीडा में हारकर पांडव द्वैतवन में रहने लगे। उनका एक गुप्तचर आकर दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन का वर्णन करता है। इस पर भीम और द्रौपदी युधिष्ठिर को युद्ध के लिए उत्तेजित करते हैं; परन्तु धर्मराज ने प्रतिज्ञा तोड़कर समर छोड़ने की बात स्वीकार नहीं की। महर्षि वेदव्यास के परामर्श से अर्जुन पाशुपतास्त्र पाने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर गये। उनकी कठोर तपस्या को सुरांगनाएँ भी भग न कर सकी। अन्त में अर्जुन ने किरातवेशधारी शिव से युद्ध करके उन्हें अपने बाहुबल और साहस से प्रसन्न किया तथा उनसे पाशुपत नामक दिव्यास्त्र प्राप्त किया। यही इस काव्य की कथा का सार है।

'किरातार्जुनीय' महाकाव्य ने अपने प्रशस्त गुणों के कारण संस्कृत साहित्य में विशिष्ट पद प्राप्त कर लिया है। संस्कृत महाकाव्यों की 'वृहत्त्रयी' (किरात, माघ और नैषध) में इसका प्रमुख स्थान है। समस्त संस्कृत साहित्य में 'किरातार्जुनीय' के समान दूसरा कोई ऐसा ओजःपूर्ण तथा उग्र काव्य नहीं मिलता। इसमें १८ सर्ग हैं। बीच के कई सर्गों में भारवि ने महाकाव्य के लक्षणानुसार ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त, जल-क्रीड़ा आदि का वर्णन करके काव्य का बहुत विस्तार कर दिया है। अर्जुन की तपस्या, सुरांगना-बिहार, किरात-अर्जुन-युद्ध आदि के विशद वर्णन से उनकी अद्भुत वर्णन-शक्ति सिद्ध होती है। 'किरात' में प्रधान रस वीर है, जिसकी अभिव्यक्ति करने में कवि को अद्वितीय सफलता मिली है। शृंगार तथा अन्य रस गौण रूप से वर्णित हैं। 'किरात' का आरम्भ 'श्री' शब्द (श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीम्) से होता है तथा प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग हुआ है।

भारवि का काव्य अपने 'अर्थ-गौरव' के लिए—अल्प शब्दों में विपुल अर्थ के

1. N. C. Chatterji: Home of Bharavi, Proceedings of Or. Conf. 1944.

वेश के लिए—प्रसिद्ध है—'भारवेरर्थगौरवम्' । कृष्णकवि ने ठीक ही कहा है—

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना ।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या ॥

भारवि ने अपने काव्य को रुचिर अलंकारों से विभूषित करने में बड़ी कुशलता दिखाई है । चतुर्थ सर्ग में शरद् ऋतु का जो नैसर्गिक और हृदयग्राही वर्णन है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । उपमा, श्लेष, यमक आदि अलंकारों का प्रयोग भी उचित मात्रा में किया गया है । चरित्र-चित्रण अतिशय प्रभावपूर्ण है । अपमान की ज्वाला से जलती हुई द्रौपदी, प्रचंड पराक्रमी भीम, शांतिमूर्ति युधिष्ठिर, अप्रतिम वीर अर्जुन आदि सभी प्रधान पात्र बड़ी सजीवता से चित्रित किये गये हैं । व्यास, गुप्तचर, दूत आदि गौण पात्र भी वास्तविक प्रतीत होते हैं । भारवि की काव्य-शैली के कुछ नमूने देखिये—

मुखैरसौ विद्रुमभंगलोहितैः शिखाः पिशंगीः कलमस्य बिभ्रती ।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुः श्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥४।३६

शरद् का सुहावना समय है । 'शिरीष-पुष्प की भाँति कोमल हरे तोतों की पाँति मूँगे के टुकड़ों के समान लाल-लाल चोंचों में धान की पीली बालियों को लेकर आकाश में उड़ रही है । शुकों का हरा शरीर, उनकी लाल चोंचें, उन चोंचों में पीली बालियाँ—इन रंगों की मिलावट से प्रतीत होता है कि आकाश में इन्द्रधनुष उगा हो ।' कैसी नई एवं संश्लिष्ट रूपयोजनात्मक कल्पना है ! जल-क्रीड़ा करती हुई अप्सराओं का कैसा चारु चित्रण है—

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः ।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥८।४७

'जल में अवगाहन करते समय उन दिव्य ललनाओं की दीर्घ केशराशि ने अस्त-व्यस्त हो जाने के कारण उनके मुख को ढक लिया । ऐसा प्रतीत होता था कि उनके वे मुख मानो भ्रमर-पंक्ति से आच्छादित कमल हों ।' भारवि ने दीर्घकाय समासों का प्रयोग नहीं किया है । दुर्योधन के प्रति लोगों की राजभक्ति का कैसा सुबोध वर्णन है—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥१।१९

'तेजस्वी, स्वाभिमानी, ऐश्वर्यवान्, धनुर्धारी, रणशूर तथा राजभक्त योद्धा अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी दुर्योधन का प्रिय कार्य करने के लिए उत्सुक हैं ।'

किन्तु भारवि किसी स्थान पर अनावश्यक अलंकारप्रियता का प्रदर्शन भी कर बैठते हैं । उदाहरणार्थ, चित्र-काव्य लिखने में अपना कौशल दिखाने के लिए उन्होंने एक समग्र सर्ग (पन्द्रहवाँ सर्ग) ही लिख डाला है । उसमें सर्वतोभद्र, यमक,

विलोम तथा अन्यान्य चित्र काव्य की शैली के नमूने पाये जाते हैं। भारवि ने एक ही अक्षर वाला भी एक श्लोक लिखा है जिससे एकमात्र 'न' व्यंजन वर्ण का ही प्रयोग हुआ है—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुम् ॥१५।१४

नीच मनुष्य द्वारा घायल किया जाने वाला पुरुष पुरुष नहीं और न वही पुरुष कहलाने योग्य है जो नीच मनुष्य को घायल करता है। यदि स्वामी को किसी प्रकार की क्षति न पहुँची तो घायल पुरुष भी वास्तव में अक्षत है। बुरी तरह से घायल मनुष्य को मार डालनेवाला भी अपराधी नहीं है।' एक ही अक्षर मे भारवि ने क्या ही अनूठे विचार भर दिए है! किन्तु साथ ही यह स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार के चित्र-काव्य के प्रयोग से उनका काव्य कठिन-सा हो गया है। आरम्भ के तीन सर्ग विशेष कठिन है, इसलिए वे 'पाषाणत्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतएव मल्लिनाथ ने भारवि के काव्य को नारिकेल फल के समान बतलाया है, जिसका वाह्य रूप रूक्ष तथा विषम है; पर अन्तर में काव्य का मधुर रस निहित है—

नारिकेलफलसंमितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

अंतिम चार सर्गों मे युद्ध-वर्णन के विस्तार के कारण कहीं-कहीं पुनरुक्ति दोष भी आ गया है। अप्सराओं की क्रीड़ा के वर्णन में तथा अर्जुन को मोहित करने के लिए उनके प्रयत्नों के वर्णन में भी यही दोष प्रवेश कर गया है।

इन त्रुटियों के होते हुए भी भारवि की कविता मे एक विचित्र चमत्कार है। उनका अर्थ-गाम्भीर्य पाठकों के हृदय को अपनी ओर बरबस खींच लेता है। संवादों की सहायता से कथानक को आगे बढ़ाने का उनका ढंग अनूठा है। 'किरातार्जुनीय' का अधिकांश भाग रोचक संवादों से भरा पड़ा है। भारवि नीति-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र तथा व्याकरण-शास्त्र के पूर्ण पंडित थे। क्षेमेन्द्र ने उनके वंशस्थवृत्त की बड़ी प्रशंसा की है।[1] उनके पूरे काव्य में नीति-विषयक सूक्तियाँ भरी पड़ी हैं—'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः', 'न वंचनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः', 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः', 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्', 'सुदुर्लभा सर्व-मनोरमा गिरः', 'गुरुतां नयन्ति हि गुणाः न संहतिः', 'गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः' इत्यादि। राजनीति का भी विशिष्ट वर्णन 'किरातार्जुनीय' में उपलब्ध होता है। द्वितीय सर्ग में भीम और युधिष्ठिर का संवाद राजनीति के गूढ़ तत्त्वों से भरा पड़ा है। युधिष्ठिर भीम के भाषण की प्रशंसा करते हैं—

---

१. वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता ।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता ॥

स्फुटता न पदैरपाकृता न च स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ।।२।२७

ये ही शब्द भारवि की कविता के विषय में भी अक्षरशः चरितार्थ होते है ।

'किरातार्जुनीय' कहीं-कहीं काव्यमय होने की अपेक्षा पांडित्यपूर्ण भले ही हो, पर हमारे लिए तो वह साहित्य-सौन्दर्य का आगार ही है तथा कालिदास और अश्वघोष के काव्यों के पश्चात् आदरणीय स्थान पाने के सर्वथा योग्य है। उसमें अर्थ-गाम्भीर्य के साथ रुचिर एवं परिष्कृत पदावली का प्रयोग मणिकांचन-संयोग का आदर्श उपस्थित करता है।

महाकाव्यों के इतिहास में भारवि अलंकृत काव्य-शैली के प्रवर्तक माने जाते हैं। काव्य को अलंकारों, प्राकृतिक वर्णनों तथा शाब्दिक चमत्कारों से भूषित करने की पद्धति के सर्वप्रथम दर्शन 'किरातार्जुनीय' में ही होते है। कथानक लघु होने पर भी कवि उसमें चमत्कार, कमनीयता और व्यापकता का समावेश कर देता है। इस अलंकृत वर्णन-शैली का अनुसरण भारवि के परवर्ती कवियों ने बहुलता से किया है।

भट्टि : भट्टिकाव्य

'रावणवध' अथवा '**भट्टिकाव्य**' के लेखक भट्टि के कथनानुसार इस महाकाव्य की रचना श्रीधरसेन के राज्यकाल में सौराष्ट्र की वलभी नगरी मे हुई; पर शिलालेखों में इस नाम के चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम श्रीधरसेन का काल ५०२ ई० है और अंतिम राजा का ६४१ ई० है। श्रीधरसेन द्वितीय के ६१० ई० के शिलालेख में किसी भट्टि नामक विद्वान् को कुछ भूमि देने का उल्लेख है। अतएव भट्टि का समय ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्ध तथा सातवीं शताब्दी का आरम्भ सिद्ध होता है।

'**भट्टिकाव्य**' में २२ सर्ग और १,६२४ श्लोक हैं। इसमें विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण के जाने की घटना से आरम्भ करके 'रामायण' की कथा वर्णित है। पर भट्टि का मुख्य लक्ष्य रामकथा-वर्णन के साथ व्याकरण के जटिल नियमों का उदाहरण भी उपस्थित करना था। इस प्रकार यह एक 'शास्त्र-काव्य' है। व्याकरण जाननेवालों के लिए यह ग्रन्थ दीपक की भाँति है, पर व्याकरण न जाननेवालों के लिए यह उसी प्रकार है जैसे अंधे के हाथ में दर्पण—

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ।।२२।२३

भट्टि अपने समय के अलंकार-शास्त्र से पूर्ण परिचित हैं। उनके काव्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का खूब प्रयोग हुआ है। एक सुन्दर यमकावली देखिये—

न गजा नगजा दयिता दयिता विगतं विगतं ललितं ललितम् ।
प्रमदा प्रमदामहता महतामरणं मरणं समयात् समयात् ।

आग से जलती हुई लंका का वर्णन है। 'पर्वतों में उत्पन्न होने वाले इन प्यारे हाथियों की रक्षा कोई भी नहीं कर रहा है। ये विशालकाय हाथी अग्नि में भस्म हो रहे हैं। पक्षियों का आनन्द-खेल अब नष्ट हो गया। प्यारी वस्तुयें पीड़ित देख पड़ती हैं। स्त्रियों का मद अब नष्ट हो गया है तथा वे आम (रोग) से पीड़ित हैं। बिना युद्ध के ही बड़े-बड़े योद्धाओं का मरण-काल आ पहुँचा है।' पद्य का चमत्कार दर्शनीय है।

कुछ आलोचकों ने भट्टिकाव्य पर कृत्रिमता और आडम्बर की अधिकता का दोषारोपण किया है। पर उनके काव्य के विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि उसमें वास्तविक काव्य के गुणों की कमी नहीं। पहले तो उन्हें व्याकरण के जटिल से जटिल नियमों के उदाहरण उपस्थित करने थे और दूसरे अपने काव्य से सर्वजनविदित कथानक में मौलिकता का सन्निवेश करना था। इसमें संदेह नहीं कि इन उभय उद्देश्यों का एक साथ निर्वाह करना किसी भी कवि के लिए नितान्त कठिन कार्य है। इस कठिनाई के रहते हुए भी भट्टि ने २२ सर्गों का जो विपुलकाय महाकाव्य प्रस्तुत किया है, उसमें रोचकता, मधुरता और काव्योचित सरसता का अभाव नहीं है। उनके प्रभावशाली संवाद, प्राकृतिक दृश्यों के मनोरम चित्रण, प्रौढ़ व्यंजना-प्रणाली तथा वस्तु-वर्णन उत्कृष्ट कोटि के हैं। उनके वस्तु-विन्यास में प्रबन्धात्मक प्रौढ़ता की न्यूनता होते हुए भी उनकी भाषा में प्रसाद और प्रांजलता है—

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः ॥२।१९

'इस सुहावनी शरद् ऋतु में ऐसा कोई सरोवर नहीं है, जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों। ऐसा कोई कमल नहीं जिस पर भ्रमर न बैठे हों। ऐसा कोई भौंरा नहीं जो गूँज न रहा हो और ऐसी कोई गुञ्जार नहीं जो मन को हर न लेती हो।' एकावली अलंकार का कैसा सुन्दर उदाहरण है।

निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः।
उपारुरोदेव नदत्पतंगः कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनादौ ॥२।४

'प्रभात का आरम्भ होते ही चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर बेचारी कुमुदिनी संकुचित हो गई है। उसकी दुःखद अवस्था अचेतन जड़ या वृक्ष को भी रुला रही है। वृक्ष की आँखें उनकी कोमल पत्तियाँ हैं। उनकी कोरों से टपकती ओस की बूंदें आँसुओं की तरह मालूम होती हैं। चहकती हुई चिड़ियों की आवाज मानो वृक्ष के रोने का स्वर है। इस प्रकार यह तीरस्थ वृक्ष पक्षियों के कलरव के व्याज से मानो कुमुदिनी की दयनीय दशा पर करुण क्रन्दन कर रहा है।'

कुमारदास : जानकीहरण

कुमारदास-रचित 'जानकीहरण' भी संस्कृत का एक अनति-प्रसिद्ध महाकाव्य

है। सिंहल की जनश्रुति के अनुसार कुमारदास ५१७-५२६ ई० तक वहाँ के राजा थे। इतना तो निश्चित है कि कुमारदास-कृत 'जानकीहरण' पर कालिदास की कृतियों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। 'जानकीहरण' में कई स्थलों पर कालिदास के रघुवंश की स्पष्ट छाप देख पड़ती है। एक ओर तो कुमारदास पाणिनीय व्याकरण की प्रसिद्ध टीका 'काशिकावृत्ति' (६५० ई०) से अपना परिचय प्रकट करते हैं, दूसरी ओर वामन (८०० ई०) ने अपने ग्रन्थ में इनके 'जानकीहरण' के उद्धरण दिये हैं। अतः उनका स्थितिकाल ६५० से ७५० के बीच माना जा सकता है।

'जानकीहरण' से २५ सर्गों में केवल १५ सर्ग उपलब्ध हैं। इसमें चिरपरिचित रामायण की कथा वर्णित है। फिर भी कुमारदास ने इस पुरानी कथा को नवीन कलेवर प्रदान करने का प्रयास किया है। मौलिकता अधिक न रहते हुए भी उनकी वर्णन-शैली सुन्दर है। कालिदास की भाँति वे वैदर्भी-रीति का अनुसरण करते हैं। अनुप्रास कवि का प्रिय अलंकार है। प्रसाद और सुकुमारता कुमारदास की कृति के विशेष गुण हैं। शब्द-सौष्ठव तथा छन्दों के नाद-सौन्दर्य के कारण इनकी कविता में अपूर्व माधुर्य का संचार हुआ है। उदाहरण के लिए उनके दो पद्य नीचे दिये जाते हैं। प्रेम की शिथिलता का वर्णन देखिये—

तस्य हस्तमबला व्यपोहितुं मेखलागुणसमीपसंगिनम् ।
मन्दशक्तिररतिं न्यवेदयल्लोलनेत्रगलितेन वारिणा ॥

शिशिर के उपरान्त वसन्त-ऋतु में रात छोटी क्यों होने लगती है तथा दिन बड़ा हो जाता है, इस पर कवि कुमारदास की कल्पना देखिये—

प्रालेयकालप्रियविप्रयोगग्लानेव रात्रिः क्षयमाससाद ।
जगाम मन्दं दिवसो वसन्तक्रूरातपश्रान्त इव क्रमेण ॥

'अपने प्रियतम शिशिर के वियोग से दुखी होकर बेचारी रात्रि क्रमशः क्षीण होती जा रही है। उधर वसन्त की कठोर धूप से थककर दिन भी अब रुक-रुककर चलने लगा।' राजशेखर (९०० ई०) ने कुमारदास की प्रशंसा इस प्रकार की है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः ॥

'रघुवंश के मौजूद रहते जानकीहरण करने की क्षमता या तो रावण में थी या कवि कुमारदास में।'

माघ : शिशुपालवध

सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपालवध' के रचयिता माघ अपने विषय में केवल यही कहते हैं कि उनके पिता दत्तक सर्वाश्रय थे और उनके पितामह सुप्रभदेव वर्मलात नामक राजा के मन्त्री थे। माघ के समय-निरूपण में बड़ा मतभेद है। कोई उन्हें

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानता है तो कोई आठवीं शताब्दी के मध्य में। नीचे दिये प्रमाणों के अनुसार पहला समय अधिक समीचीन जान पड़ता है।

माघ के समय की नीचे की सीमा बहिरंग प्रमाणों के आधार पर निर्धारित होती है। सोमदेव अपने 'यशस्तिलकचम्पू' (९५९ ई०) में माघ का उल्लेख करते हैं। श्री आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने अपने 'ध्वन्यालोक' में 'शिशुपालवध' के दो श्लोकों (३।५३, ५।२६) को उदाहरण रूप में उद्धृत किया है। इसके पहले, राष्ट्रकूटों के राजा नृपतुंग (८१४ ई०) ने अपने कन्नड़ी भाषा के ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' में माघ को कालिदास का समकक्ष स्वीकार किया है। इससे यह स्पष्ट है कि नृपतुंग के समय में, अर्थात् नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, माघ ने साहित्य-जगत् में प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर लिया था। अतएव यह निश्चित है कि माघ का आविर्भाव-काल ८०० ई० के बाद का नहीं हो सकता।

६२५ ई० के एक शिलालेख के आधार पर माघ का समय लगभग १०० वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है। यह शिलालेख वर्मलात राजा का है, जो माघ के पितामह सुप्रभदेव के आश्रयदाता थे। अतः सुप्रभदेव का समय ६२५ ई० के आसपास का था और उनके पौत्र माघ का समय ६५०—७०० ई० तक रहा होगा।

माघ का समय निर्धारित करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण अन्तरंग प्रमाण मिलता है। वह 'शिशुपालवध' के द्वितीय सर्ग का नीचे लिखा श्लोक है, जिसमें श्लेष के द्वारा राजनीति की समता शब्द-विद्या (व्याकरणशास्त्र) से की गई है

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥२।११२

इस श्लोक में 'काशिकावृत्ति' और 'न्यास' नामक दो व्याकरण-ग्रन्थों की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। मल्लिनाथ और वल्लभदेव दोनों टीकाकारों ने इस संकेत का स्पष्ट उल्लेख किया है। 'काशिकावृत्ति' की रचना वामन और जयादित्य ने ६५० ई० में की थी। अतः यह निश्चित है कि माघ इस समय के बाद ही हुए होंगे। किन्तु उक्त श्लोक में 'न्यास' शब्द से जिस ग्रन्थ-विशेष की ओर संकेत है, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। पाठक[1] महोदय का कहना है कि उक्त 'न्यास' से अभिप्राय 'काशिकावृत्ति' को जिनेन्द्रबुद्धि-रचित 'न्यास' नामक टीका से है, जिसकी रचना लगभग ७०० ई० में हुई। उनके मतानुसार माघ का समय इस आधार पर ७५० ई० के आसपास सिद्ध होता है। पर यह कहना उचित नहीं है कि माघ उक्त श्लोक में जिनेन्द्रबुद्धि के ही 'न्यास' ग्रन्थ की ओर संकेत कर रहे हैं। जिनेन्द्रबुद्धि के पहले भी 'न्यास'

१. Ind. Ant 1912, p. 235 and JBBRAS, Vol. 23, p. 18.

नामक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। काणे[1] महोदय ने दिखाया है कि बाण (६२० ई०) ने अपने 'हर्षचरित' में 'न्यास' का उल्लेख किया है (कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि)। सम्भव है कि बाण के समान माघ ने भी इसी 'न्यास' की ओर संकेत किया हो, न कि जिनेन्द्रबुद्धि के 'न्यास' की ओर। अतः माघ का समय जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०) के पीछे नहीं माना जा सकता और सम्भवतः वे सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही हुए थे।

माघ के महाकाव्य की गणना बृहत्त्रयी' में होती है। 'शिशुपालवध' को छोड़ कर माघ की किसी अन्य रचना का अभी तक पता नहीं लगा है। सूक्ति-संग्रहों में अवश्य कोई एक ऐसे पद्य[2] माघ के नाम से दिये गये हैं, जो 'शिशुपालवध' मे नहीं मिलते। सम्भव है कि माघ की और भी कोई रचना रही हो जो अब उपलब्ध नही होती।

माघ का आदर्श भारवि-कृत 'किरातार्जुनीय' था, यह बात दोनों ग्रन्थों की पारस्परिक तुलना करने से स्पष्ट विदित हो जाती है—

(१) दोनों महाकाव्यों की मुख्य कथा महाभारत से ली गई है। (२) दोनों ग्रन्थों का आरम्भ 'श्री' शब्द से होता है। 'किरात' के आरम्भ में 'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीम्' है तो माघ के प्रारंभ में 'श्रियः पतिः श्रीमति शासतु जगत्' है। (३) दोनों के प्रथम सर्ग में संदेश-कथन है, 'किरात' में वनेचर के द्वारा युधिष्ठिर के प्रति, माघ में नारद के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति। (४) 'किरात' के द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर, भीम और द्रौपदी के बीच राजनीति-विषयक संवाद होता है तो 'शिशुपालवध' के द्वितीय सर्ग में बलराम, श्रीकृष्ण और उद्धव के बीच इसी सर्ग पर परामर्श होता है। (५) 'किरात' में महर्षि वेदव्यास पांडवों को मार्ग सुझाते है तो माघ में देवर्षि नारद ऐसा ही उपदेश करते हैं। (६) 'किरात' में अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के लिए जाते हैं तो माघ में श्रीकृष्ण रैवतक के समीप ठहरते हैं। (७) 'किरात' में यदि हिमालय का यमकालंकारों के द्वारा वर्णन हुआ है तो माघ में इसी प्रकार रैवतक का वर्णन है। (८) दोनों में अप्सराओं के विहार का चारू-चित्रण है। (९) 'किरात' में किरातवेशधारी शिव, अर्जुन का अपमान करने के लिए दूत भेजते हैं तो माघ में शिशुपाल, श्रीकृष्ण का अनादर करने के लिए दूत भेजता है। (१०) 'किरात' के १३वें तथा १४वें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में वाद-विवाद हुआ है तो माघ में १६वें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत और सात्यकि में हुआ है। (११) 'किरात' में १५वें और माघ के ११वें सर्ग में चित्र-बन्धों

१. History of Alankara Literature, p. 36.

२. **बुभुक्षितैः व्याकरणं न भुज्यते न पीयते काव्यरसः पिपासितैः।**
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः॥
(औचित्यविचारचर्चा)

द्वारा युद्ध वर्णन है। (१२) दोनों में संध्याकाल, रात्रि, चन्द्रोदय, ऋतुओं एवं यात्रा का यथास्थान वर्णन हुआ है। (१३) भारवि ने 'किरात' में प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है तो माघ ने भी इसी प्रकार अपने काव्य के सर्गान्त पद्यों में 'श्री' का प्रयोग किया है। (१४) दोनों के वर्णन-क्रम में भी समानता है। (१५) दोनों काव्यों में द्वन्द्व-युद्ध के पूर्व विपक्षियों की सेनाओं में संघर्ष होता है।

शिशुपालवध में २० सर्ग और १,६५० श्लोक हैं। उसकी कथा का सार इस प्रकार है। देवर्षि नारद इन्द्र की ओर से श्रीकृष्ण को देवताओं के विरोधी शिशुपाल का नाश करने के लिए प्रेरित करते हैं। बलराम तुरन्त युद्ध छेड़ने का परामर्श देते हैं और उद्धव युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जाने का। श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान करते हैं। मार्ग में उनका सारथी दारुक रैवतक पर्वत का वर्णन करता है। रात्रि हो जाने पर सेना पड़ाव डाल देती है। यादव लोग अपनी स्त्रियों के साथ जल-क्रीड़ा और वनविहार में मग्न हो जाते हैं। सूर्योदय होने पर सेना-सहित यमुना पार करके श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ पहुँचते हैं। युधिष्ठिर उनकी अग्रिम पूजा करके उन्हें सम्मानित करते हैं। शिशुपाल इसका विरोध करता है और लड़ाई के लिए सेना तैयार करता है। अपने दूत द्वारा दर्पपूर्ण संदेश भेजकर शिशुपाल युद्ध को अवश्यंभावी बना देता है। दोनों सेनाओं मे युद्ध होता है। अन्त में श्रीकृष्ण सुदर्शनचक्र से शिशुपाल का सिर काट डालते है, और उसका तेज उनमें लीन हो जाता है।

माघे सन्ति त्रयो गुणाः—माघ वास्तव में उच्च कोटि के कवि हैं। उनका सारा काव्य प्रौढ़ उदात्त शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रत्येक वर्णन, प्रत्येक भाव साधारण शब्दों में न होकर अलंकारों में विभूषित भाषा में प्रगट किया गया है। इस कारण संपूर्ण काव्य आदि से अन्त तक अत्यन्त प्रभावोत्पादक हो गया है। शैली की असाधारणता सर्वत्र झलकती है। प्रत्येक सर्ग में ओजोगुणमयी कविता का विकास दिखाई पड़ता है। प्रायः प्रत्येक सर्ग में कुछ ऐसे पद्य हैं जो वर्णन-सौंदर्य, भाव-सौष्ठव अथवा विचार-गाम्भीर्य की दृष्टियों से अद्वितीय कहे जा सकते हैं।

माघ-काव्य के वर्णन बड़े सजीव एवं सालंकार हैं। माघ की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति अद्भुत एवं प्रभावपूर्ण है। उनके प्रकृति के शब्द-चित्र बड़े ही मनोरम हैं। रैवतक पर्वत को क्या ही विशाल हाथी का रूप दिया गया है—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघंटाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥४।१०

रैवतक पर्वत की प्रातःकालीन सुषमा का यह वर्णन है। 'ऊपर फैली हुई रज्जुरूपी किरणों से युक्त सूर्य एक ओर उदय हो रहा है और दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त होने

जा रहा है। जान पड़ता है कि यह रैवतक उस गजेन्द्र की शोभा धारण कर रहा है, जिसके दोनों ओर दो उज्ज्वल घंटे लटक रहे हों।' इसी कल्पना के कारण माघ को घंटा-माघ कहा गया है।। एक और कल्पना की बहार देखिये—

उदयशिखरिशृङ्गप्रांगणेष्वेव रिंगन्
सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥११।४७

'जैसे कोई बालक आँगन में खेल रहा है, स्नेहशील मा उसे पुकार रही है और वह हँसते हुए अपने कोमल हाथ फैलाकर उसकी गोद में जा गिरता है, उसी प्रकार यह बालसूर्य उदयाचल के शिखर-रूपी आँगन में थिरकता हुआ, खिले कमलमुखों से हँसती हुई पद्मिनियों के देखते-देखते अपने कोमल करों (किरणों) को फैलाकर, पक्षियों के कलरव के व्याज से पुकारती हुई अपनी आकाश-रूपी माता की गोद में लीलापूर्वक उचक रहा है।'

माघ के संवाद बड़े ही सरल एवं ओजपूर्ण होते हैं। किस कटुता तथा ओजस्विता के साथ शिशुपाल, श्रीकृष्ण को सर्वप्रथम सम्मानित करने के कारण, युधिष्ठिर से अपना विरोध प्रदर्शित कर रहा है—

अनृतां गिरं न गदसीति जगति पटहैर्विघुष्यते।
निन्द्यमथ च हरिमर्चयतः तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता ॥१५।१६

'डंके की चोट से संसार में घोषणा की जाती है कि तुम असत्य भाषण नहीं करते, पर इस निन्दनीय कृष्ण की पूजा नवीनता अपने असत्याचरण का खुला विज्ञापन कर रहे हो।'

माघ की कविता की सरसता, अलङ्कारों की नवीनता, श्लेष की उपयुक्तता तथा चित्रालंकारों की विचित्रता दर्शनीय है। माघ ने अपने काव्य में स्थान-स्थान पर मुग्धकारिणी स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि का समुचित सन्निवेश किया है। रैवतक पर्वत के वर्णन में कैसी सुन्दर उत्प्रेक्षा व्यवहृत हुई है—

अपशंकमंकपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥४।४

कन्या की बिदाई का करुण दृश्य है। 'रैवतक पर्वत की कन्याएँ (नदियाँ) जो अपने पिता की गोद में निःशंक भाव से लोटती थीं, आज पति-समागम (सागर-मिलन) के लिए जा रही हैं। पिता का स्नेहमय हृदय कन्याओं का वियोग देखकर पक्षियों के कलरव के रूप में क्रन्दन कर रहा है।' अनुरूप दृष्टान्त देने में भी माघ कुशल हैं—

प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे ।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी ॥१३।२५

'जिस समय शिशुपाल श्रीकृष्ण को गालियाँ सुना रहा था, उस समय श्रीकृष्ण ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया । सिंह मेघों का गर्जन सुनकर ही हुंकार करता है, शृगालों का रुदन सुनकर नहीं ।'

माघ की उपमाएँ भी रोचक हुई हैं । प्रातःकाल की चहकती चिड़ियों की कलरव घड़े को जल में डुबाने के समय होनेवाले कुल-कुल शब्द के समान है । प्रभात-बेला में गृहों के दीपों की मन्द कान्तिवाली शिखा ऊँघते हुए गृहों के नेत्रों के समान है । शिशुपाल की सेना का श्रीकृष्ण की सेना से भिड़ना वैसा ही है जैसे नदियों के जल का महासागर की गगनचुम्बी ऊर्मियों से टकराना ।

अनुप्रासों में माघ का पद-लालित्य रमणीय है—

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥६।२०

माघ के शृंगारिक पदों का स्निग्धता अतिशय मुग्धकारिणी है—

यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव ।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः ॥३।१६

'जिस-जिस प्रिया को प्रियतम (श्रीकृष्ण) ने देखा. उसने लज्जा से अपना मुँह नीचा कर लिया । इस प्रकार दूसरी युवतियों ने उस प्रियतम को ईर्ष्यावश निर्भय होकर, एक साथ अपने नयन-बाणों से घायल कर दिया ।'

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥१३।४०

'प्रलय के समय जिस कृष्ण के उदर में सारा संसार समा गया था, उसी कृष्ण को एक उत्कंठित युवती ने अपने अधखुले नेत्र के एक कोने से ही पी लिया ।'

भारतीय आलोचकों ने एक मत से माघ पर अभूत प्रशंसा की वृष्टि की है । उनमें कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थ-गौरव तथा दण्डी का पदलालित्य, इन तीनों गुणों का एकत्र सन्निवेश बताया गया है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

पर यह माघ के किसी अनन्य भक्त की अत्युक्तिपूर्ण उक्ति मात्र है । पहले तो माघ में मौलिकता की ही कमी है । उनके काव्य का आदर्श किरातार्जुनीय है । भाव और भाषा दोनों में भारवि की छाया स्पष्ट देख पड़ती है । दूसरे, माघ की कविता में प्रतिभा की अपेक्षा पांडित्य का प्राधान्य है । उनकी शाब्दिक क्रीड़ा १९वें सर्ग में परा-

काष्ठा को पहुँच गई है। अधिक पांडित्यपूर्ण होने के कारण माघ की शैली श्रमसिद्ध प्रतीत होती है। उसमें श्लिष्ट शब्दों का चमत्कार अधिक है। चौदहवें सर्ग में शिशुपाल के दूत की उभयार्थक चतुर उक्ति देखिये—

अभिधाय तदा तदप्रियं शिशुपालोऽनुशयं परं गतः।
भवतोऽभिमनाः समीहते सरुषः कर्तुमुपेत्य माननाम् ॥१६।२

'आपके अप्रसन्न हो जाने की बात सुनकर शिशुपाल को बड़ा दुःख (क्रोध) हुआ है। वह बड़ी उत्सुकता से (निर्भयता से) आपका सम्मान करने के लिए (काम तमाम करने के लिए) आपके समक्ष आना चाहता है।' कभी-कभी माघ प्रायः अत्यन्त अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। इससे पाठकों को कविता का अर्थ हृदयंगम करने में बड़ी कठिनाई होती है। कभी वे व्याकरणात्मक उपमाओं के प्रयोग में अपनी प्रवीणता दिखाने के लिए अथवा किसी विशेष शब्द या चरण के प्रयोग में अपनी निपुणता प्रगट करने हेतु पद्यों का निर्माण करते है। वे प्रायः संस्कृत वाङ्मय की अन्य शाखाओं की ओर संकेत करते है। अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों तथा कल्पनाओं की ऊँची उड़ानों से उनकी कविता भरी पड़ी है। कभी-कभी प्रभाव उत्पन्न करने की भावना से शब्दो के वाह्य सौन्दर्य के फेर में पड़कर वे अर्थ की स्पष्टता का निर्वाह नही कर पाते। पाठक उनके लम्बे वर्णनों को पढ़कर ऊब जाते हैं। उनके परम्परा-मुक्त प्रकृति वर्णन अलंकारों से लदे होने के कारण स्वाभाविक नहीं लगते। कालिदास, बाण और भवभूति की अपेक्षा उनका प्रकृति-पर्यवेक्षण कम बिम्बग्राही है।

निष्कर्ष—सौभाग्यवश माघ के अनुपम गुणों के उज्ज्वल प्रकाश मे उनके दोषान्धकार का परिहार हो जाता है। यद्यपि उनमें भारवि की परिमितता एवं गाम्भीर्य नहीं है, तथापि उनकी व्यंजना-प्रणाली अनुपम और कल्पना अपरिमित है। माघ में कालिदास की-सी उपमाएँ भले ही न मिलें, फिर भी उनमें न सुन्दर उपमाओं का अभाव है, न अर्थ-गौरव की कमी। पदों का ललित-विन्यास तो निस्सन्देह प्रशंसनीय है। माघ की पदशय्या इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता।

नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते—माघ का संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार है। नवीन शब्दावली का तो उनका काव्य आगार ही है। संस्कृत समालोचकों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि प्रथम नौ सर्गों में माघ ने संस्कृत शब्दों का खजाना खाली कर दिया है—'**नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते**।' शब्द भंडार ही नही, उनका ज्ञान-भंडार भी विचक्षण है। उनमें सब शास्त्रों का परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगोचर होता है। दर्शनों का भी उन्हें विशिष्ट ज्ञान है। सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तों का कई जगह वर्णन मिलता है।[1] बौद्ध-दर्शन से भी वे भली-भाँति परिचित थे।[2] नाट्य

---

१. १।२३, ४।४५, १४।१९ २. २।२८

शास्त्र[1], व्याकरण[2], संगीतशास्त्र[3], अलंकारशास्त्र[4], राजनीति[5] सभी के पंडित थे।

आश्चर्य नहीं यदि पुराने आलोचक माघ के पांडित्य एवं प्रतिभा से प्रभावित होकर भावातिरेक में उनकी इस प्रकार प्रशंसा करें—

कृत्स्नप्रबोधकृद्वाणी भारवेरिव भारवेः।
माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते ॥—राजशेखर

'जहाँ भारवि की कविता सूर्य-किरणों की भाँति समग्र ज्ञान को प्रकाशित करने वाली है, वहाँ माघ मास के समान माघ का नाम सुनकर किस कवि को कँपकँपी नहीं बँध जाती।' धनपाल ने भी इसी कथन का समर्थन किया है—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथाः॥

'जिस प्रकार माघ के ठिठुरते जाड़े में बन्दर सूर्य का स्मरण करके उछल-कूद नहीं मचाते, उसी प्रकार माघ की रचना के सामने कवियों का पद-योजना करने में उत्साह ठण्डा पड़ जाता है, चाहे वे भारवि के पदों का कितना ही स्मरण करें।'

रत्नाकर : हरविजय

संस्कृत महाकाव्यों में सबसे अधिक बृहत्काय महाकाव्य रत्नाकर विरचित 'हरविजय' है। किन्तु इसकी प्रसिद्धि या पठन-पाठन अधिक नहीं है। रत्नाकर कश्मीरी कवि थे। इनके पिता का नाम अमृतभानु था। रत्नाकर कश्मीरी-नरेश चिप्पट जयापीड़ (७७९-८१३ ई०) के आश्रित कवि थे। जयापीड़ अद्भुत मेधावी होने के कारण 'बालबृहस्पति' कहलाते थे। परन्तु कल्हण की 'राजतरंगिणी' से विदित होता है कि रत्नाकर ने राजा अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (८५५-८८४ ई०) में प्रसिद्धि पाई थी—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥५।३९

यदि रत्नाकर, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, बालबृहस्पति के आश्रित थे, तो वे अवन्तिवर्मा के शासनकाल में काफी वृद्ध हो गये होंगे। सम्भव है कि रत्नाकर के गुणों को पहले जयापीड़ ने आँका हो, किन्तु उनकी ख्याति अवन्तिवर्मा के समय में जाकर हुई हो। 'हरविजय' के अतिरिक्त रत्नाकर ने 'वक्रोक्तिपंचाशिका' और 'ध्वनिगाथापंजिका' नामक दो ग्रन्थ और लिखे हैं। 'हरविजय' पर बाण तथा माघ की अलंकृत शैली का गहरा प्रभाव है।

'हरविजय' में ५० सर्ग और ४,३२० श्लोक हैं। इसमें शिव द्वारा अन्धका-

---

१. पूर्वरंगः प्रसंगाय नाटकीयस्य वस्तुनः।　　२. १९।७५
३. ११।१　　४. २।८६,८७　　५. २।११२

सुर-वध की कथा वर्णित है। पार्वती ने शिव के नेत्रों को लीलावश अपने हाथों से ढक लिया, इसलिए शिव से उत्पन्न अन्धक दृष्टिहीन हुआ। किन्तु तपस्या करके उसने शिव से दृष्टि पाई और तीनों लोकों का स्वामी बन बैठा। अंत में शिव को उसे मार डालना पड़ा। कथानक छोटा होते हुए भी कवि ने वर्णन का अत्यधिक विस्तार करके ग्रन्थ को विपुलकाय कर दिया है। अन्धकासुर का नाश करने के लिए शिव के सचिवों में परामर्श ११ सर्गों में जाकर समाप्त होता है। १३ सर्गों में शिव-गणों के विहार का वर्णन है। ७ सर्गों में शिव के दूत और अन्धकासुर में संवाद ही होता रहता है। शिवसेना की युद्ध के लिए तैयारी का ही वर्णन ४ सर्गों में हुआ है। रत्नाकर ने बाण का अनुकरण करने का दावा किया है। माघकाव्य का भी प्रभाव 'हरविजय' पर स्पष्ट देख पड़ता है। माघ की भाँति रत्नाकर के काव्य के प्रत्येक सर्ग के अंतिम श्लोक में एक शब्द-विशेष—'रत्न'—का प्रयोग किया है। माघ ने अपने काव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहा है तो शिवभक्त रत्नाकर ने अपने काव्य 'हरविजय' को 'चंद्रार्धचूडचरिताश्रयचारु' की पदवी प्रदान की है।

कवि ने अपनी काव्य-शैली के विषय में जो गर्वोक्ति की है वह अनेक अंशों में यथार्थ है—

ललितमधुराः सालंकाराः प्रसादमनोहरा
विकटयमकश्लेषोद्गारप्रबन्धनिरर्गलाः।
असदृशगतीश्चित्रे मार्गे ममोद्गिरतो गिरो
न खलु नृपते चेतो वाचस्पतेरपि शङ्कते॥

शैव दर्शन, नीतिशास्त्र, कामसूत्र तथा इतिहास-पुराण का सम्यक् ज्ञान इस महाकाव्य में सर्वत्र लक्षित होता है। साथ ही, उसमें नाट्य, संगीत, अलंकार तथा चित्रणकला जैसे विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है।[1] 'हर-विजय' काव्य से यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है। समरभूमि में हाथी का वर्णन है—

युधि धावतः प्रतिगजाभिमुखं पुनरप्यधाव् गजपतेः सरुषः।
वलिताश्रयः सपदि केतुपटः पतितो मुखे पृथुमुखच्छदताम्॥ ४२।११

'एक भीमकाय हाथी कुपित होकर शत्रु-पक्ष के हाथी का सामना करने के लिए वेग से दौड़ा। शत्रु-पक्ष के हाथी की टूटी हुई ध्वजा का वस्त्र गिर पड़ा, जिससे जान पड़ने लगा कि मानो उसने लज्जित होकर एक बड़े परदे से अपना मुँह ढक लिया हो।'

क्षेमेन्द्र ने रत्नाकर की 'वसन्ततिलका' की इस प्रकार प्रशंसा की है—

---

१. C. Shivaramamurti : Art Tit-bits from Ratnakar's 'हरविजय' Krishnaswami Aiyangar Com. Vol. pp. 425-432.

वसन्ततिलका रूढा वाग्वल्ली गाढसंगिनी।
रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्याननकानने॥

'अलंकार-विमर्श' में रत्नाकर की इस प्रकार प्रशंसा की गई है—

माघः शिशुपालवधं विदधत् कविमद्वधं विदधे।
रत्नाकरः स्वविजयं हरविजयं वर्णयन् अवृणोत्॥

राजशेखर के अनुसार तो ब्रह्मा ने चार रत्नाकरों (समुद्रों) को पर्याप्त न समझ कर इस पाँचवें रत्नाकर (कवि) की सृष्टि की—

मा स्म सन्तु हि चत्वारः प्रायो रत्नाकरा इमे।
इतीव सत्कृतो धात्रा कविरत्नाकरोऽपरः॥

हरिचन्द्र . धर्मशर्माभ्युदय

जैन महाकाव्यों में 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक २१ सर्ग का महाकाव्य विशेष उल्लेखनीय है। इसके रचयिता हरिचन्द्र का समय निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। इनका जन्म 'नोमक' वंश मे हुआ और ये कायस्थ जाति के थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव तथा माता का रथ्यादेवी था। बाण ने 'हर्षचरित' के आरम्भ में जिन भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है, वे इनसे भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि भट्टार हरिचन्द्र गद्य के लेखक थे। महाकाव्य के नहीं। हरिचन्द्र के नाम से 'जीवनधर-चम्पू' नामक ९०० ई० का ग्रन्थ भी मिलता है। 'कर्पूर-मंजरी' की प्रथम जवनिका में हरिचन्द्र का नाम उल्लिखित है। एक और वैद्य हरिचन्द्र भी मिलते हैं, जो साहसांक नामक राजा के प्रधान वैद्य थे तथा जिन्होंने 'चरकसहिता' पर टीका लिखी है। वाक्पतिराज (८वीं शताब्दी ई०) ने अपने 'गौडवहो' काव्य में भास, कालिदास और सुबन्धु के साथ हरिचन्द्र का भी उल्लेख किया है।[1] कुछ लोग हरिचन्द्र को तथा प्रयाग के अशोकस्तम्भवाली प्रशस्ति के लेखक हरिषेण को एक ही व्यक्ति मानते हैं।[2] इन कवियों और ग्रन्थकारों में किसी से भी 'धर्मशर्माभ्युदय' के रचयिता का ऐक्य निःसन्दिग्ध रूप से नहीं सिद्ध किया जा सकता। किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि वे भी एक प्राचीन कवि है। इनके ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति का समय १२८७ वि० संवत् है। अतः उनका स्थितिकाल इस समय से पूर्व ही रहा होगा। इसके अतिरिक्त वाग्भट्ट के 'नेमिनिर्वाण' काव्य (१२०० ई०) पर 'धर्मशर्माभ्युदय' का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस प्रकार हरिचन्द्र का समय ११वीं शताब्दी ही ठहरता है। सुभाषितसंग्रहों में हरिचन्द्र उद्धृत किये गये हैं। 'सदुक्तिकर्णामृत' में उन्हें महाकवियों की श्रेणी में रखा गया है—

---

१. **भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे।**
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारियन्दे अ आणन्दो॥

२. Indian Culture, Vol. VI, p. 208.

सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम् ।
विशुद्धोक्तिः सूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिरः
तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते ।।

'धर्मशर्माभ्युदय' में पन्द्रहवें **जैनतीर्थंकर** धर्मनाथ की, जन्म से निर्वाणपर्यन्त की कथा वर्णित है। यह काव्य वैदर्भी-रीति में लिखा गया है। भारवि और माघ के समान हरिचन्द्र ने भी अपने काव्य (१९वें सर्ग) में चित्रालंकारों[1] की भरमार की है। कवित्व का माधुर्य एवं प्रसाद दर्शनीय है—

सकर्णपीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः ।
श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं महाकविः काव्यमिदं विधत्ते ।।

कविराज : राघवपाण्डवीय

'राघवपाण्डवीय' महाकाव्य के कर्ता कविराज का स्थितिकाल १२वीं शताब्दी था। वे जयन्तपुरी के कदम्ब राजा कामदेव (११८२-९७ ई०) के सभापंडित थे। उनका नाम माधवभट्ट था और कविराज सूरि, पंडित आदि उनकी उपाधियाँ थीं।

'राघवपाण्डवीय' एक अद्भुत महाकाव्य है। इसके प्रत्येक श्लोक में श्लेष द्वारा रामायण और महाभारत की कथा का साथ-साथ वर्णन किया गया है। उदाहरणस्वरूप नीचे लिखे पद्य का अवलोकन कीजिये—

नृपेण कन्यां जनकेन दित्सितामयोनिजां लम्भयितुं स्वयंवरे ।
द्विजप्रकर्षेण स धर्मनन्दनः सहानुजस्तां भुवमभ्यनीयत ।।

'रामायण' के अनुसार इसका अर्थ इस प्रकार होगा —'(राम), जिन्होंने धर्म को आनन्दित किया था, अपने भाइयों के साथ ऋषिश्रेष्ठ (विश्वामित्र) द्वारा स्वयंवर-स्थान (मिथिला) को ले जाये गये, जिससे वे राजा जनक की विवाहयोग्य अयोनिजा कन्या (सीता) को प्राप्त कर सकें।' 'महाभारत' के अनुसार इसका अर्थ यों करना होगा—'धर्म के पुत्र (युधिष्ठिर) अपने भाइयों के साथ मुनिश्रेष्ठ (वेदव्यास) की आज्ञा से स्वयंवर-स्थान (पांचाल) को गये जिससे कि वे राजा-पिता (द्रुपद) की विवाह-योग्य अयोनिजा कन्या (द्रौपदी) को प्राप्त कर सकें।'

'राघवपाण्डवीय' का कई कवियों ने अनुकरण किया। हरदत्तसूरि के **'राघवनैषधीय'** में नल और राम की और चिदम्बर-कृत **'राघवपाण्डवीय-यादवीय'** में 'रामायण', 'महाभारत' तथा 'भागवत' की कथा एक साथ वर्णित है। विद्यामाधव-रचित **'पार्वती-रुक्मिणीय'** में शिव-पार्वती तथा कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह का एक साथ

---

१. **रंरोऽरी रोरुररुरुरुद्रःकुकं केकिकङ्किकः ।**
चञ्चच्चञ्चच्चच्चचिच्चोचे ततताततीति तं ततः ।।१९।३२ **(चतुरक्षरः)**

वर्णन किया गया है। सबसे अधिक कुतूहलोत्पादक तो वेंकटाध्वरि का ३० श्लोकों का 'यादवराघवीय' है, जिसमें सीधे पढ़ने से राम की तथा उलटे पढ़ने से कृष्ण की कथा का वर्णन है। इस प्रकार का शाब्दिक कौतूहल संस्कृत के अतिरिक्त संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं पाया जाता।

श्रीहर्ष : नैषधीयचरित

श्रीहर्ष संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध महाकाव्य 'नैषध' या 'नैषधीयचरित' के रचयिता थे। ये श्रीहर्ष उन सम्राट् हर्ष (वर्धन) से सर्वथा भिन्न हैं, जो 'रत्नावली', 'नागानन्द' और 'प्रियदर्शिका' नाटिका के रचयिता थे। सौभाग्यवश इन्होंने अपने जीवनवृत्त पर कुछ प्रकाश डाला है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में उन्होंने अपने माता-पिता का तथा कभी-कभी अपने अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनके पिता का नाम श्रीहीर और माता का मामल्लदेवी था।[1] श्रीहर्ष कन्नौज के राजा जयचन्द्र राठौर की सभा में रहते थे। वहाँ उनका बड़ा सम्मान था। 'कान्यकुब्जेश्वर' महाराज जयचन्द्र उन्हें स्वयं आसन तथा पान के दो बीड़े दिया करते थे—'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।' जयचन्द्र का राज्यकाल ११६८-११९५ ई० था, अतः श्रीहर्ष बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए थे। श्रीहर्ष ने कई ग्रन्थों की रचना की। उनकी अन्य रचनाओं के नाम ये हैं—'खण्डनखण्डखाद्य', 'स्थैर्यविचारण', 'श्रीविजय-प्रशस्ति', 'छिन्दप्रशस्ति', 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति', 'नवसाहसांकचम्पू', 'अर्णव-वर्णन' और 'शिव-भक्ति (भक्ति) सिद्धि।' श्रीहर्ष अपने समय के अद्भुत पंडित थे और उनकी कीर्ति का प्रसार उस समय के संस्कृत-शिक्षा के केन्द्र कश्मीर में भी हुआ—'कश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महाकाव्ये।'

'नैषध' में २२ सर्गों में नल-दमयन्ती के प्रेम और विवाह की कथा बड़ी सरस शैली में वर्णित है। उनकी प्रथम मिलन-रात्रि का रुचिर वर्णन कर ग्रन्थ समाप्त होता है। कालिदास आदि की भाँति श्रीहर्ष ने भी अपनी कविता का कथानक पौराणिक स्रोत से ही लिया है और उस पर अपनी प्रखर प्रतिभा की छाप बैठा दी है। 'नैषध' में वास्तविक काव्य-सौन्दर्य तथा शोभातिशायक अलंकारों का मणि-कांचन संयोग है। श्रीहर्ष की कविता संस्कृत साहित्य की अनुपम वस्तु है। शब्दों के सुन्दर विन्यास में, भावों के समुचित निर्वाह में, कल्पना की ऊँची उड़ान में तथा प्रकृति के सजीव चित्रण में यह महाकाव्य काव्य-जगत् में अपनी सानी नहीं रखता। उनकी स्वभाव मधुर कविता किस सहृदय के मन को हर नहीं लेती? शब्द और अर्थ की नवीनता उसे सचमुच 'एकार्थमत्यजतो नवार्थघटनाम्' बना देती है। 'नैषध' में एक ही विषय

---

१. श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।

पर कई श्लोकों में वर्णन मिलेगा, पर सर्वत्र नवीन शब्दावली एवं अभिनव पदशय्या उपलब्ध होती है। शब्द और अर्थ का मनोहर सामंजस्य 'नैषध' में है। श्रीहर्ष की आलोक-सामान्य प्रतिभा से जाज्वल्यमान 'नैषध' रूपी हीरक सामने 'किरातार्जुनीय' तथा 'शिशुपालवध' काव्यों की आभा फीकी पड़ जाती है—'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।'

श्रीहर्ष ने अपनी भारती को अलंकारों द्वारा इस प्रकार विभूषित किया है कि उसकी भव्य मूर्ति देखते ही बनती है। अतिशयोक्ति की मनोहर उद्भावना में, उपमा, रूपक, यमक, अनुप्रास, विरोधाभास, श्लेष के समुचित प्रयोग में श्रीहर्ष अद्वितीय हैं। यमक की छटा द्वारा कन्दर्प की कैसी स्तुति की गई है—

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार
शृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान्।
पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन
संक्षोभयन्, वितनुतां वितनुर्मदं वः ॥११।२५

'जिसने शृङ्गारिक भावों से ब्रह्मा, विष्णु आर शिव के भी शान्त भाव को जर्जर कर दिया है और अपने पाँचों बाणों से जिसने संसारी जीवों की पाँचों इन्द्रियों को क्षुब्ध किया है, वे पंचसायक कामदेव आपको प्रमुदित करें।' एक उत्प्रेक्षा का भी अवलोकन कीजिये—

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं
श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे
कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥३।३३

दमयन्ती से नल की प्रशंसा करते हुए हंस कहता है कि 'जब चन्द्रमा ने अपने मुख को जीतने वाले नल के मुख का वर्णन मुझसे सुना तो वह अत्यन्त लज्जित होकर कभी सूर्यमण्डल में प्रवेश कर जाता है, कभी समुद्र में कूद पड़ता है और कभी मेघमाला के पीछे छिप जाता है!'

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य को 'शृङ्गारामृतशीतगुः' शृङ्गार-रूपी अमृत का चन्द्रमा कहा है। रमणी-रूप के वर्णन में, शृङ्गार-रस की मधुर व्यंजना में कवि ने विलक्षण सहृदयता का परिचय दिया है। दमयन्ती के अलौकिक सौंदर्य का क्या ही अनोखा चित्रण है—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥२।२५

'जान पड़ता है, दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिए ब्रह्मा ने चन्द्रमा को निचोड़-

कर उसका सार भाग खींच लिया है। इसी कारण बीच में छिद्र हो जाने से उसके उस पार आकाश की नीलिमा दिखाई पड़ती है।'[1] दमयन्ती के उरोजों के ऊपर क्या ही अच्छी कल्पना है—

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतो गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥२।३१

'दमयन्ती का शरीर कान्ति के झरनों से अथाह हो गया है, अतः उसमें चलनेवालों को डूबने का भय सदा बना रहता है। पर दमयन्ती के अंग-प्रत्यंग में काम और यौवन का संचार है। वे दोनों अपने को डूबने से कैसे बचायें? डूबते को तिनके का भी सहारा काफी है, इनको भी तैरने के लिए दो घड़े मिल गये हैं—ये ही दमयन्ती के दोनों उरोज हैं। इन्हीं के सहारे काम तथा यौवन उसके शरीर-रूपी सरोवर में स्वच्छन्द सन्तरण कर रहे हैं।'

दमयन्ती नल को वरण करने की इच्छा को कैसे चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त करती है—

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा ॥३।५९

'जिस मनोरथ को मन नहीं छोड़ता, जिसे मैंने हृदय में धारण कर रखा है, वह मनोरथ मेरे कंठपथ में कैसे आ सकता है? मन की बात वाणी से कैसे कही जाय! हे हंस! कौन कुलांगना राजा (नल) से पाणिग्रहण होने की अभिलाषा स्वयं अपने मुख से व्यक्त करने की धृष्टता कर सकती है? (या, कौन विवेकवती बाला चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने की अभिलाषा कर सकती है?)' नल के विरह से व्याकुल दमयन्ती की मनोदशा का वर्णन कर विप्रलम्भ शृङ्गार का सुन्दर वर्णन किया गया है। अग्नि से उत्पन्न हुई दाहव्यथा कोई व्यथा नहीं, वियोगाग्नि से उत्पन्न हुई व्यथा ही उत्कट व्यथा है। नहीं तो स्त्रियाँ मृत पति के साथ प्रत्यक्ष अग्नि में क्यों भस्म हो जातीं (४।४६)? चन्द्रमा विरहिणी स्त्रियों का निर्दय घातक ही है—

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते।
शिति निशादृषदि स्फुटमुत्पतत् कणगणाधिकतारकिताम्बरः ॥४।४९

'इस चन्द्रमा ने अनेक निरपराध विरहिणी स्त्रियों को मारकर पाप कमाया है। इसी से यह घुमाकर रात्रि-रूपी चट्टान पर आकाश से पटका जाता है। पटके जाने पर

---

१. इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—
कोउ कह जब बिधि रति-मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इन्दु उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परछाहीं॥
—'रामचरितमानस', लङ्काकाण्ड

खंड-खंड हो जाने से इसके जो कण चारों ओर बिखर गये, वे ही मानो आकाश में तारों के रूप में चमक रहे हैं ।'

'नैषध' में कहीं-कहीं विस्तार की अधिकता पाई जाती है । तभी तो जो कथा 'महाभारत' के 'नलोपाख्यान' के कुछ अध्यायों में ही समाप्त हो जाती है, वही 'नैषध' में २२ लम्बे-लम्बे सर्गों में अति विस्तीर्ण कर दी गई ! समालोचकों का यह कहना बहुत ठीक है कि कालिदास के पीछे के बने काव्यों में कृत्रिमता का समावेश हुआ है । उनमें मुख्य विषयों की आर कम, परन्तु आनुषंगिक विषयों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है । द्वितीय सर्ग मे हंस के मुख से श्रीहर्ष दमयन्ती का वर्णन कर चुके हैं, फिर भी पूरा सातवाँ सग दमयन्ती के नख-शिख वर्णन से ही भरा है । यही नहीं, दसवें सर्ग में भी स्वयवर के समय इस वर्णन का पिष्टपेषण हुआ है । 'महाभारत' में नल-दमयन्ती के प्रेम का पवित्र एवं सात्विक रूप दर्शित है, पर श्रीहर्ष ने उसे विलास और वासना के रग मे रँग कर चित्रित किया है । साथ ही, 'महाभारत' में नल के निर्वासित जीवन की जिन कारुणिक एवं मार्मिक दशाओं का चित्रण हुआ है, 'नैषध' में उनका उल्लेख तक नही किया गया । 'नैषध' की विलास-वाटिका में मानो जीवन के जटिल वट-वृक्षों को कोई स्थान ही नहीं था ।

किंवदन्ती है कि 'काव्यप्रकाश' के कर्त्ता मम्मट ने 'नैषध' की यह आलोचना की थी कि 'काव्यप्रकाश' के सप्तम (दोष) उल्लास को लिखने से पहले ही यदि यह ग्रन्थ उन्हें मिल गया होता तो काव्य-दोषों के उदाहरण ढूंढ़ने में उन्हें इतना प्रयास न करना पड़ता, क्योंकि काव्य से सारे दोषों के उदाहरण उन्हें इसी में एकत्र मिल गये होते । इस आलाचना में अवश्य ही अत्युक्ति है, किन्तु यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि 'नैषध' आदर्श महाकाव्य नहीं माना जा सकता । कारण यह है कि उसका कथानक मानव-जीवन की समग्रता का अंकन नहीं करता, केवल शृङ्गार का एकदेशीय चित्र उपस्थित करता है । चरित्र-चित्रण में तथा कथानक की कलात्मक सृष्टि में श्रीहर्ष निपुण नहीं कहे जा सकते । मौलिक भावों के अभाव में, एक ही भाव दो पद्यों में भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है । उदाहरणार्थ, 'नैषध' के प्रथम दो श्लोकों को ही लीजिए । पहले श्लोक में जो भाव व्यक्त किया गया है, दूसरे श्लोक में उसी की प्रकारान्तर से पुनरुक्ति है । आदि से अन्त तक काव्य विलक्षण अत्युक्तियों और दुरूह कल्पनाओ से जटिल हो गया है । कहीं-कहीं श्रीहर्ष अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाते हैं । श्लेष का प्रयोग कर वे बड़ी क्लिष्टता पैदा कर देते हैं । 'नैषध' की पंचनली प्रसिद्ध ही है । इस वर्णन में श्रीहर्ष ने अपनी अपूर्व श्लेष-चातुरी व्यक्त की है । प्रत्येक श्लोक से दमयन्ती को पाने की इच्छा से आये हुए देवता तथा राजा नल दोनों का अर्थ निकलता है । एक नमूना देखिये—

देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या ।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः पुनस्ते ।।१३।३४

नल के सम्मुख दमयन्ती खड़ी है। इस श्लोक में देवता और नल दोनों का अर्थ व्यंजित कर सरस्वती उसे मोह में डाल रही है—'हे विदुषि ! यह तो देवता है, पृथ्वीपति नहीं। क्या तू इसे वरमाला नहीं पहनाना चाहती ? मैं सच कहती हूँ, यह तेरा नल नहीं है, किन्तु नल की आभा मात्र है। यदि तू इसे छोड़ देगी तो फिर और कौन तेरा वर होगा ?' इसी पर शब्दावलि में नल की भी ध्वनि निकलती है—'हे विदुषि ! नैषधराज के वेश में अपने पति इस राजा को तू क्यों नही पहचानती और क्या तू इसे जयमाल पहनाना नही चाहती ? यदि तू इसे छोड़ देगी तो बड़ी हानि होगी, फिर और कौन तेरा वर होगा ?'

किन्तु इस प्रकार काव्य को क्लिष्ट करना तो श्रीहर्ष का प्रयोजन ही था—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन्खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ।।

'पण्डित होने का दर्प करने वाला कोई दुःशील मनुष्य इस काव्य के मर्म को हठपूर्वक जानने का चापल्य न कर सके, इसीलिए हमने जान-बूझकर कहीं-कहीं इस ग्रंथ में ग्रन्थियाँ लगा दी हैं। जो सज्जन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरु को प्रसन्न करके इन गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझा लेंगे, वे ही इस काव्य के रस की लहरों में हिलोरें ले सकेंगे।'

उपर्युक्त त्रुटियों के होते हुए भी 'नैषध' का 'बृहत्त्रयी' में आदर से नाम लिया जाता है। 'नैषध' में पदविन्यास और छन्दःकौशल के समस्त वैभव का प्रवीण प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। शब्दों के भावार्थ से यथेच्छ क्रीड़ा करने वाले, प्रकृति का सूक्ष्म एवं स्निग्ध चित्रण करनेवाले (२२।५, ८, १२) तथा उससे उत्पन्न मनोभावों का प्रभावशाली निरूपण करनेवाले श्रीहर्ष वास्तविक कवि हैं और महाकवि हैं। शब्दों के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अर्थों के विपर्याय से कविता का प्रभाव द्विगुणित हो जाता है। शास्त्रों के अर्थ का भी बड़े ही मार्मिक ढंग से सन्निवेश किया गया है। बड़े ही मजेदार व्यंग्य से वे शास्त्रकारों को फबतियाँ सुनाते हैं—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मतः ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ।।१७।७०

'स्त्री प्रकृति और पुरुष दोनों काम में ही आसक्त रहा करें; अपवर्ग (मोक्ष) तो केवल तृतीय प्रकृति (नपुंसकों) के लिए है। पाणिनि ने भी 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र बनाकर इस बात को स्वीकार किया है।' पाणिनि पर कवि ने कैसा मार्मिक व्यंग्य किया है।

श्रीहर्ष बड़े भारी दार्शनिक भी थे। 'नैषध' का १७वाँ सर्ग दार्शनिकता से ओतप्रोत है। वे अद्वैत-सिद्धान्त के अनुयायी थे। उनका मत है कि सब मतों में अद्वैत-तत्त्व ही श्रेष्ठ है। अन्य मतों की सत्यता पर वे सन्देह नहीं करते, किन्तु उनके मतानुसार वेदान्त-प्रतिपादित अद्वैत-तत्व ही सत्यतर है (१३।२६)।

श्रीहर्ष को अपनी विद्वत्ता का अतिशय गर्व था। अपने विषय में उनकी यह उक्ति है—

ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्॥२२।१५४

'जिसे कान्यकुब्ज-नरेश के यहाँ से सम्मानसूचक दो पान तथा आसन मिलते हैं, जो समाधिस्थ होकर अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार करता है, जिसका काव्य मधु के समान मधुर है, जिसकी तर्कशास्त्र-सम्बन्धिनी उक्तियों को सुनकर प्रतिपक्षी परास्त होकर भाग जाते हैं, उस श्रीहर्ष नामक कवि की यह कृति पुण्यवानों के लिए आनन्दप्रद हो।' अपनी कविता के लिए श्रीहर्ष ने 'महाकाव्य', 'निसर्गोज्ज्वल', 'चारु', 'नव्य', 'अतिनव्य' इत्यादि पदों का प्रयोग किया है। अपने 'नैषधीय' को उन्होंने 'अतिशय स्वादिष्ट अर्थों को उत्पन्न करनेवाला', 'शरत्कालीन चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान उज्ज्वल उक्तियों से भरा', 'अत्यन्त सरस और अत्यन्त स्वादिष्ट', 'एक भी नवीन अर्थ या घटना को न छोड़नेवाला' तथा 'अभूतपूर्व रसमयी उक्तियों से युक्त, कहा है। आत्म-श्लाघा की पराकाष्ठा तो वहाँ हो गई है, जहाँ श्रीहर्ष ने अपने को अमृत आदि चौदह रत्न उत्पन्न करनेवाला क्षीरसागर बताया है और शेष सब कवियों को दो-चार दिन में सूख जानेवाली नदियों को उत्पन्न करनेवाले छोटे-छोटे पहाड़।

संस्कृत साहित्य के जिन प्रमुख महाकवियों का विवेचन इस अध्याय में किया गया है, उनकी नामावली कालक्रमानुसार नीचे दी जाती है—

आदौ श्रीकालिदासः स्यादश्वघोषस्ततः परम्।
भारविश्च तथा भट्टिः कुमारश्चापि पञ्चमः॥
माघरत्नाकरौ पश्चाद् हरिश्चन्द्रस्तथैव च।
कविराजश्च श्रीहर्षः प्रख्याताः कवयो दश॥

कालिदासोत्तर अप्रमुख महाकाव्य

संस्कृत के कालिदासोत्तर कुछ अप्रमुख महाकाव्यों की यहाँ चर्चा करना अनुचित न होगा। अनेक कवियों ने अपने महाकाव्यों की रचना की, किन्तु वे प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सके।

पाणिनि द्वारा 'जाम्बवतीविजय' तथा 'पातालविजय' महाकाव्य बताये जाते

हैं। इनका पता केवल संग्रह ग्रन्थों से चलता है। पतञ्जलि के महाभाष्य में 'वाररुच' नामक महाकाव्य का उल्लेख है किन्तु यह अनुपलब्ध है। गौतम बुद्ध के द्वारा मार की पराजय पर्यन्त कथा से युक्त 'पद्मचूड़ामणि' नामक दस सर्ग का महाकाव्य उपलब्ध हुआ है, जिसका रचयिता पाँचवीं ई० शती के लगभग बुद्धघोष नामक महाकवि है। यह रचना अश्वघोष के 'बुद्धचरित' तथा 'ललितविस्तार' से अनेक बातों में भिन्नता रखती है। एक 'कुन्तेश्वरदौत्य' नामक महाकाव्य उपलब्ध हुआ है। इसमें कुन्तल की सभा के एक राजदूत का वर्णन है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसे 'कालिदास' की रचना बताया है। भर्तृमेण्ठ-कृत 'हयग्रीववध' महाकाव्य के कतिपय श्लोक संकलित हैं। भर्तृमेण्ठ षष्ठ शती ई० के राजा मातृगुप्त के आश्रित कवि थे। जैन कवि रविषेण ने 'पद्मपुराण' मे प्रथम तीर्थङ्कर 'ऋषभदेव' की कथा प्रस्तुत की है। जिनसेन तथा गुणभद्र ने नवम शती में 'महापुराण' (आदि पुराण तथा उत्तर पुराण) महाकाव्य की रचना की है। जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' में ६८ सर्गों में 'महाभारत' की कथा को जैन धर्म के अनुसार निरूपित किया है। जिनसेन का मेघदूत काव्य के आधार पर रचित तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की कथा के सन्निवेश वाला 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य प्रसिद्ध है।

भट्टिकाव्य की शैली पर 'रावणार्जुनीय' अथवा 'आर्जुनरावणीय' नामक २७ सर्गों का भौमक कवि द्वारा रचित महाकाव्य मिलता है, जिसमें कार्तवीर्य सहस्रार्जुन और रावण का युद्ध वर्णित है। नवम शती ई० के अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में शिवस्वामी नामक बौद्ध भिक्षु ने 'अवदानशतक' की एक कथा पर आधृत 'कप्फिणाभ्युदय' नामक महाकाव्य की रचना की है।

दशम शती ई० के तार्किक जयन्तभट्ट ने 'कादम्बरी-कथासार' काव्य की रचना ८ सर्गों में की। इसी शती में हलायुध द्वारा रचित 'कविरहस्य' नामक काव्य मिलता है, जिसमें राष्ट्रकूट द्वारा कृष्ण की स्तुति वर्णित है। इसी शती के काव्यशास्त्री आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'रामायणमञ्जरी' और 'भारतमञ्जरी' नामक दो महाकाव्यों की रामायण और महाभारत से कथानक लेकर रचना की है। इसी शती के लोलिम्बराज कवि ने ५ सर्गों में कृष्ण-कथा का वर्णन 'हरिविलास' महाकाव्य में किया है।

ग्यारहवीं शती के प्रथम चरण में वादिराज ने राजा यशोधर की कथा 'यशोधरचरित' नामक ग्रन्थ में चार सर्गों में प्रस्तुत की है। बारहवीं शती के आलंकारिक रुय्यक के शिष्य कश्मीरी कवि मङ्ख ने 'श्रीकण्ठचरित' नामक २५ सर्गों के विशाल महाकाव्य की रचना की जिसमें अलंकृत शैली का उत्कर्ष है। यह शिव के द्वारा त्रिपुरासुर वध की कथा को प्रस्तुत करने वाला महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। जैनाचार्य 'हेमचन्द्र' ने बारहवीं शती ई० में 'त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित' नामक 'जैन रामायण' की रचना की। यह रचना जैनधर्म के महापुरुषों का चरित्र प्रस्तुत करती

है । जैन काव्यशास्त्री वाग्भट के द्वारा रचित १५ सर्गों का 'नेमिनिर्वाण' महाकाव्य बारहवीं शती की रचना है ।

तेरहवीं शती के देवप्रभसूरि ने 'पाण्डवचरित्र' और 'मृगावतीचरित्र' नामक दो महाकाव्यों की रचना की । इसी शती के अमरचन्द्र ने अपने 'बालभारत' महाकाव्य में 'महाभारत' की कथा को पर्वों के क्रम में प्रस्तुत किया है । इसी शती के जैन कवि भावसूरि ने तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के चरित्र को 'पार्श्वनाथचरित' महाकाव्य में प्रस्तुत किया है । इसी शती में श्रीमद्वेदान्तदेशिक ने अपने 'यादवाभ्युदय' नामक कृष्ण काव्य की रचना की । चौदहवीं शती के वामनभट्ट बाण ने राजा नल की कथा को 'नलाभ्युदय' नाम से आठ सर्गों मे प्रस्तुत किया है । इसी शती के कृष्णानन्द ने भी 'सहृदयानन्द' महाकाव्य में नल की कथा पन्द्रह सर्गों में प्रस्तुत की है ।

पन्द्रहवीं शती के भट्टारक सकलकीर्ति तथा उनके शिष्य जिनदास ने 'हरिवंश' नामक महाकाव्य की रचना की । सोलहवीं शती के जैनाचार्य शुभचन्द्र ने 'पाण्डवपुराण' महाकाव्य की रचना की, जिसे जैन-महाभारत के नाम से स्मरण किया जाता है । इसी शती के रामचन्द्र ने अपने काव्य 'रसिकाञ्जन' में प्रेम तथा वैराग्य के दो भिन्न भावों को श्लेष के द्वारा एक साथ प्रस्तुत किया है । सत्रहवी शती के राजा वेंकट प्रथम के सभापण्डित चिदम्बर ने 'राघवपाण्डवयादवीय' में त्रेधा श्लेष के द्वारा रामायण, महाभारत एवं भागवत कथा का श्लेष के माध्यम से एक साथ प्रस्तुत किया है । अज्ञात कालिक हरदत्त सूरि का 'राघवनैषधीय' नामक श्लिष्ट काव्य मिलता है, जिसमें राम और नल की कथा एक साथ वर्णित है । इसी शती में आगरा-निवासी जैन महाकवि राजमल्ल ने 'जम्बूस्वामीचरित' नामक त्रयोदश सर्गात्मक महाकाव्य में जम्बूस्वामी के जीवन का वर्णन किया है । इसमें अकबरकालीन आगरा नगर का भव्य वर्णन मिलता है ।

इस प्रकार संस्कृत में महाकाव्यों की परम्परा कालिदास से लेकर अधुनातन काल तक निरन्तर चल रही है । नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से सम्पन्न कविगण आज भी उदात्त भावों से सम्पन्न संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा को गतिशील बनाये हुए हैं ।

नाट्य-साहित्य

नाटक की उत्पत्ति

किसी भी भाषा और साहित्य तथा उसके अंगों और उपांगों के जन्म की निश्चित तिथि को निर्धारित कर देना सदैव बहुत कठिन कार्य रहा है क्योंकि साहित्य एक सतत विकासमान वस्तु है।

नाटक की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में विविध मत है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् यूनान को नाटकों का आदि-स्रोत स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका पक्षपात अनर्गल प्रलाप सिद्ध हो चुका है।

(१) **भारतीय परम्परा और नाट्यशास्त्र**—भारतीय परम्परानुसार, जिसका वर्णन भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र में है, नाट्योत्पत्ति का वर्णन आख्यानात्मक ढंग से किया गया है। नाट्यशास्त्र में नाट्कोत्पत्ति की दैवी परम्परा प्रतिपादित है। भरत के अनुसार देवताओं की प्रार्थना पर मनोविनोदनार्थ ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीति, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यवेद का निर्माण किया है—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतिमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

तदन्तर अभिनय संकेत भी ब्रह्मा ने भरत मुनि को प्रदान किया। नटराज शिव ने ताण्डव तथा भगवती पार्वती ने लास्य नृत्य से नाट्य को अनुगृहीत किया। इस प्रकार भारतभू पर इन्द्रध्वज महोत्सव पर नाट्य का अभिनय सर्वप्रथम हुआ।

(२) **संवादसूत्र और नाट्य**—ऋग्वेद में अनेक संवाद स्थल हैं, जिन्हें विद्वानों ने ढूंढ़ निकाला है। जिन्हें संस्कृत नाटकों का मूल कहा जा सकता है। इन संवादों में प्रसिद्ध संवाद हैं—यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, सरमा-पणि, इन्द्र-इन्द्राणी, इन्द्र-मरुत, विश्वामित्र और नदियाँ इत्यादि। ये संवाद-सूक्त ऋग्वेद के विभिन्न मंडलों में बिखरे पड़े हैं।

प्रो० विण्डिश, डा० ओल्डेनवर्ग, डा० पिशेल आदि इन संवाद-सूक्तों को पूर्णतया नाटकीय स्वीकार करते हैं।

(३) **वीरपूजा सिद्धान्त**—डा० रिजवे नामक पाश्चात्य विद्वान् के नाटक की उत्पत्ति वीरपूजा से सम्बन्धित प्रतिपादित किया है। रिजवे का कथन है कि नाटक

का जन्म मृत वीर पुरुषों के प्रति आदर दिखाने की भावना से हुआ है। इसका उदाहरण उन्होंने यूनानी दुःखान्तिका के रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु यह मत किसी को भी स्वीकार नहीं है।

(४) **प्रकृति परिवर्तन सिद्धान्त**—डा० कीथ के अनुसार नाटक का उद्भव प्राकृतिक परिवर्तनों को प्रस्तुत करने की इच्छा की देन है। महाभाष्य में निर्दिष्ट 'कंसवध' नामक नाटक का अभिनय कीथ के अनुसार इस मत की पुष्टि करता है।

(५) **पुत्तलिकानृत्य सिद्धान्त**—डा० पिशेल ने नाटक की उत्पत्ति के लिए पुत्तलिका नृत्य को आधार स्वीकार किया है। इस नृत्य की उत्पत्ति वस्तुतः भारत में हुई है। 'सूत्रधार' शब्द की सत्ता उसके अर्थ के आधार पर समीक्षित कर उन्होंने संस्कृत नाटक और पुत्तलिका नृत्य में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु यह मत भी निराधार प्रमाणित हुआ है।

(६) **छाया नाटक सिद्धान्त**—डा० कोनो ने रूपक की उत्पत्ति छाया नाटक से स्वीकार की है। किन्तु चित्रांगद नामक संस्कृत छाया-नाटक प्राचीन नहीं है।

(७) **में पोल नृत्य सिद्धान्त**—कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने मई के महीने के आनन्ददायक नृत्य को, जो बाँस के चारों ओर स्त्री-पुरुषों के द्वारा उल्लास में मग्न होकर किया जाता है, नाटक की उत्पत्ति का मूल माना है। भारतीय इन्द्रध्वज-उत्सव को भी पं० रामावतार शर्मा ने तथैव स्वीकार कर इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है, किन्तु इस मत को भी विद्वानों ने ध्यान देने योग्य नहीं समझा है।

(८) **नाट्योत्पत्ति की विकासवादी संपूर्ण समीक्षा**—संस्कृत नाटक की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। परम्परानुसार 'नाट्यवेद' की सृष्टि ब्रह्मा ने की थी तथा उसका पृथ्वी पर प्रचार भरत मुनि ने किया। भरत मुनि अपने 'नाट्यशास्त्र'[1] में लिखते है कि ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस के तत्त्वों को लेकर 'नाट्य वेद' का निर्माण किया। किन्तु आधुनिक विद्वानों ने वैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर नाटक की उत्पत्ति के विषय में कई विचारधाराएँ[2] उपस्थित की हैं। नाटक के प्रधानतम अंग संवाद, संगीत, नृत्य एवं अभिनय है। वैदिक साहित्य की समीक्षा से विदित होता है कि वैदिक काल में इन सभी अंगों का किसी-न-किसी रूप में अस्तित्व था। ऋग्वेद में यम और यमी, उर्वशी और पुरूरवा, सरमा और पणि के संवादात्मक सूक्तों में नाटकीय संवाद का तत्त्व उपलब्ध होता है। सामवेद में संगीत का तत्त्व है

---

१. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥१।१७

२. Keith : Sanskrit Drama, pp. 12-77.

ही। विद्वानों का अनुमान है कि ऐसे संवाद ही कालान्तर में परिमार्जित एवं परिष्कृत होकर नाटकों के रूप में परिणत हुए होंगे। वैदिक अनुष्ठानों में कुछ ऐसे भी क्रिया-कलाप होते थे, जिनमें अभिनय का पुट था। इसके आधार पर हिलोब्रांड और कोनो जैसे पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वेदों में यज्ञयागादि विषयक नाटक मौजूद थे। परन्तु यह मत सर्वथा समीचीन नहीं, क्योंकि उक्त वैदिक क्रिया-कलापों में अभिनय का पुट भले ही हो, किन्तु उन्हें हम यज्ञीय नाटक कदापि नहीं कह सकते। वैदिक कर्मकांड के धार्मिक नृत्यों के प्रचार का भी पता चलता है, जिनमें मूक आंगिक अभिनय का समावेश था। अतः वैदिक साहित्य में एक प्रकार के नाटक के मूल तत्त्व प्रस्तुत थे और इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई। पर वास्तविक नाटक के विकसित रूप का आभास वेदों में कहीं लक्षित नहीं होता।

रामायण-महाभारत-काल में आकर नाटक का कुछ और स्पष्ट उल्लेख मिलता है। विराट् पर्व में रङ्गशाला का उल्लेख पाया जाता है। 'नट' शब्द का भी प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ श्रीधरस्वामी के अनुसार 'नवरसाभिनयचतुर' है। 'हरिवंश' में 'रामायण' की कथा पर आश्रित एक नाटक के खेले जाने का उल्लेख है। रामायण' में भी 'नट', 'नर्तक', 'नाटक' एवं 'रंग' अर्थात् रंगमंच का कई स्थलों पर वर्णन मिलता है। उसमें 'कुशीलव' शब्द का प्रयोग भी नट या अभिनेता के अर्थ में हुआ है। नाटक पर धर्म का प्रभाव भी खूब पड़ा। यात्राओं (धार्मिक महोत्सवों) के अवसर पर लोगों के मनोरंजन के लिए खुले स्थानों में राम तथा कृष्ण की लीलाओं का अभिनय किया जाता था। पिशेल का यह मत निराधार है कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति कठपुतलियों के खेल से हुई।

पाणिनि (चौथी शताब्दी ई० पू०) ने अपने 'पराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षनटसूत्रयोः' (४।३।११०) इस सूत्र में 'नटसूत्र' अर्थात् नाट्यशास्त्र का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में या उनके पूर्व ही अनेक नाटक रचे जा चुके होंगे, जिनके आधार पर इन 'नटसूत्रों' का निर्माण हुआ, क्योंकि लक्षण-ग्रन्थ की रचना लक्ष्य-ग्रन्थों के उपरान्त ही होती है। इसके बाद संस्कृत नाटकों की संख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि और परिष्कार होता गया। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में जाकर नाटकों की बहुसंख्यक रचना होने लगी थी, जैसा कि भास के उपलब्ध नाटकों से प्रकट है। पतंजलि के 'महाभाष्य' (३।२।१११) में 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख है। हाल में द्वितीय शताब्दी ई० पू० की प्राचीन नाट्यशाला छोटा नागपुर की पहाड़ियों में पाई गई है जो नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रेक्षागृहों से बिलकुल मेल खाती है। संस्कृत नाटकों का सर्वश्रेष्ठ परिमार्जन एवं परिष्कार प्रथम शताब्दी ई० पू० के कालिदास के नाटकों में जाकर उपलब्ध होता है।

संस्कृत नाटकों में रंगमंच के परदों के लिए कहीं-कहीं 'यवनिका' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके आधार पर कोनो आदि पाश्चात्य विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति ग्रीक नाटकों के प्रभाव से हुई। किन्तु यह मत सर्वथा निर्मूल एवं भ्रान्त प्रमाणित हो चुका है। 'यवनिका' शब्द का प्रयोग केवल इसलिए होता था कि यवन (Jonia) देश में आये वस्त्रों से वे परदे बनाये जाते थे। संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति तथा विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ।

उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक ने अपने क्रमिक विकास में कुछ तत्त्व वैदिक साहित्य से लिए, कुछ इतिहास-पुराणों से तथा कुछ लोकगीतों से। धार्मिक एवं सामूहिक उत्सवों से भी उसे प्रेरणा मिली। पतंजलि के समय में तो उसका पूर्ण विकसित रूप में अभिनय भी होने लगा था। इस प्रकार भारत में संस्कृत नाटक का पूर्ण विकास कई शताब्दियों में जाकर हुआ तथा उसकी उत्पत्ति और अभ्युदय में अनेक तत्त्वों या उपादानों का उपयोग हुआ।

भास : संस्कृत के प्रथम नाटककार

सन् १९०९ में स्वर्गीय महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री को त्रावणकोर राज्य में भास के तेरह नाटक खोज में मिले थे। उनके अनुसार इन नाटकों के रचयिता वही महाकवि भास है, जिनका उल्लेख कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक की प्रस्तावना में किया है।[1] इसमे सन्देह नही कि ये तेरहों नाटक एक ही व्यक्ति की कृतियाँ है, क्योंकि इन सबमें अत्यधिक सादृश्य पाया जाता है—सभी आकार मे लघु हैं, सभी की भाषा और शैली एक सी सरल और प्रांजल है, सभी में संस्कृत के कुछ अपाणिनीय आर्ष प्रयोग पाये जाते है; सभी मे एक ही सुन्दर भाव या विचार की प्रकारान्तर से पुनरुक्ति की गई है तथा अनेक मुहावरे, वाक्य, पद्य और श्लोकों के चरण समान हैं; सभी की प्राकृतों में समानता है तथा पात्रों के नामों तक में अनुरूपता है; सभी मे नाटककार के नामोल्लेख का अभाव ह; सभी 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' के नाटकीय निर्देश से प्रारम्भ होते है, सभी में 'प्रस्तावना' के स्थान पर 'स्थापना' शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा सभी के भरतवाक्य भी प्रायः समान हैं।

भास-विषयक विवाद—इस प्रश्न पर बड़ा मतभेद है कि ये नाटक भास के ही हैं अथवा नहीं। बहुत-से विद्वान् इन्हें भास-कृत मानते है और बहुत से इनके भास-कृत होने में सन्देह करते हैं। इन नाटकों के भास-कृत होने के पक्ष में ये प्रमाण दिये जाते है—(१) त्रावणकोर में मिले हुए १३ नाटकों में एक का नाम 'स्वप्नवासवदत्त' है। इस नाटक को राजशेखर (९०० ई०) ने भास-रचित माना

---

१. 'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः।'

है ।[1] 'स्वप्नवासवदत्त' की विशेषताएँ अन्य नाटकों में भी पाई जाती हैं । अतः वे भी भास-कृत ही हैं । (२) वाक्पतिराज (७५० ई०) ने अपने 'गौडवहो' में भास को 'जलणमित्त'[2] (ज्वलनमित्र)—अग्नि का मित्र—कहा है । यह विश्लेषण इन नाटकों के रचयिता के लिए बड़ा उपयुक्त है, क्योंकि कई नाटकों में भास ने कथानक में अग्नि-दाह का दृश्य उपस्थित किया है । (३) 'प्रसन्नराघव' के कर्त्ता जयदेव (१२०० ई०) ने भास को 'कविता-कामिनी का हास' कहा है । इन नाटकों में हास्य-रस का स्थल-स्थल पर सुन्दर चित्रण हुआ है, अतः इनके कर्त्ता भास के लिए 'हास' का विशेषण उपयुक्त ही है । (४) भास ने एक से अधिक नाटकों की रचना की, इसका भी यथेष्ट प्रमाण मिलता है । दण्डी[3] (६०० ई०) और बाण[4] (६५० ई०) ने भास की जो प्रशंसा की है, उससे प्रतीत होता है कि भास के अनेक नाटक प्रचलित थे । इसके अतिरिक्त भामह (६५० ई०), वामन (८०० ई०), राजशेखर (८०० ई०), अभिनव-गुप्त (१००० ई०) आदि ने अपनी कृतियों में भास द्वारा कई नाटक लिखे जाने का उल्लेख किया है । इसलिए उपलब्ध तेरहों नाटक भास-प्रणीत माने जा सकते हैं ।

जो विद्वान् इन नाटकों को भास-कृत नहीं मानते, वे निम्नलिखित खण्ड-नात्मक तर्क उपस्थित करते हैं—(१) राजशेखर के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थकार ने 'स्वप्नवासवदत्त' को भास-रचित नहीं लिखा है । १२वीं शताब्दी के रामचन्द्र और गुणचन्द्र-कृत 'नाट्य-दर्पण' में 'स्वप्नवासवदत्त' को भास-कृत बताकर उसका जो एक श्लोक[5] उद्धृत किया गया है, वह उपलब्ध 'वासवदत्त' में नहीं पाया जाता । इस आधार पर प्रो० सिल्वन लेवी का कथन है कि प्रस्तुत 'स्वप्नवासवदत्त' भास की रचना नहीं है । किन्तु सम्भव यही है कि किसी प्रतिलिपिकर्ता ने दृष्टिदोषवश उप-र्युक्त श्लोक छोड़ दिया हो, क्योंकि प्रस्तुत नाटक में इस श्लोक का उपर्युक्त स्थान चतुर्थ अंक के दृश्य के बाद प्रतीत होता है । काले महोदय द्वारा सम्पादित

---

१. भासनाटकचक्रेऽपि छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ।। सूक्तिमुक्तावली

२. भासम्मि जलणमित्ते कुन्तीपुत्ते तहावि रघुआरे ।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारि अन्दे अ आणन्दो ।। गौडवहो

३. सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः ।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः ।। अवन्तिसुन्दरी कथा

४. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ।। हर्षचरित

५. यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकाशिलातलमवलोक्य वत्सराजः पादा-
क्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम् ।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता ।।

'स्वप्नवासवदत्त' में यह श्लोक यथास्थान रखा गया है। साथ ही, यह भी उल्लेखनीय है कि राजशेखर के अतिरिक्त अभिनवगुप्त, भोजदेव (११०० ई०), सर्वानन्द (११५९ ई०) और शारदातनय (१२०० ई०), जैसे ग्रन्थकारों ने अपनी रचनाओं में 'स्वप्नवासवदत्ता' की जिन घटनाओं या विशेषताओं का उल्लेख किया है, वे सब प्रस्तुत 'स्वप्नवासवदत्त' में पाई जाती हैं।[1]

(२) अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की अपनी टीका में कवियों द्वारा रस की उपेक्षा के उदाहरण रूप में 'स्वप्नवासवदत्त' की एक आर्या[2] को उद्धृत किया है, जो प्रस्तुत 'स्वप्नवासवदत्त' में उपलब्ध नहीं होती। अतः भास मत के विरोधियों का कहना है कि वर्तमान 'स्वप्नवासवदत्त' भास की रचना नहीं है और वह किसी अन्य 'स्वप्नवासवदत्त' का परिवर्तित संस्करण-मात्र है। स्वर्गीय श्री गणपति शास्त्री के मतानुसार यह आर्या 'स्वप्नवासवदत्त' की कथा-वस्तु के लिए अनावश्यक और असगत प्रतीत होती है और सम्भवतः टीकाकार ने उक्त आर्या के मूल ग्रन्थ का संकेत करने में भूल कर दी हो। किसी अन्य 'स्वप्नवासवदत्त' का अस्तित्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं। विंटरनिट्ज महोदय के अनुसार उक्त आर्या का समुचित स्थान 'स्वप्नवासवदत्त' के ५वें अंक के ९वें और १०वें पद्य के बीच का है, किन्तु यह असम्भव नहीं कि आलंकारिकों के विरोध के कारण बाद के संस्करणों में वह छोड दी गई है।[3]

(३) डॉ० बार्नेट कहते हैं कि महेन्द्रविक्रम वर्मा (६२० ई०) नामक पल्लव राजा के 'मत्तविलास' प्रहसन में एक पद्य[4] पाया जाता है, जिसको सोमदेव (९५९ ई०) ने भास-रचित बतलाया है, किन्तु जो भास के किसी नाटक में नहीं पाया जाता। संस्कृत के अन्य नाटकों में मंगलाचरण के श्लोक के बाद 'नान्द्यन्ते' यह नाटकीय निर्देश पाया जाता है, किन्तु भास के इन तेरह नाटकों में तथा 'मत्तविलास' प्रहसन में मंगलाचरण श्लोक के पहले ही 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारा:' इस वाक्य का प्रयोग हुआ है। अतः 'मत्तविलास' के समान ही इस नाटक की रचना भी किसी केरल देश-निवासी कवि द्वारा हुई होगी। किन्तु यह कथन अनुचित है, क्योंकि 'मत्तविलास' और इन नाटकों की भाषा तथा भरत-वाक्य में बहुत भेद है। 'मत्तविलास'

---

१. देखिये काले द्वारा संपादित 'स्वप्नवासवदत्त' की भूमिका।

२. संचितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपताडनेन।
उद्घाट्य साप्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा॥

३. Winternitz : Bhasa—What do we realy know of him and his works, Woolner Com. Vol.

४. पेयासुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः॥

की प्रस्तावना में उसके रचयिता के नाम का स्पष्ट उल्लेख है, पर इन नाटकों में ऐसा नहीं है।

(४) यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं कि ये नाटक केरल देश के 'चाक्यार' नामक नटों की रचनाएँ हैं, जिन्होंने इन नाटकों को रंगमंच की उपयुक्तता की दृष्टि से अन्य ग्रन्थों से संगृहीत या परिवर्तित-परिवर्धित किया। विस्तार-भय में यहाँ इस विवाद का विस्तृत विवेचन करना वांछनीय न होगा, अतः इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विद्वानों ने बहुमत से इन तेरह नाटकों को भास-विरचित मान लिया है।[1]

भास का स्थितिकाल — भास के स्थितिकाल का प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं। इतना तो निःसंदिग्ध है कि वे कालिदास के पूर्ववर्ती एक प्राचीन नाटककार थे। इसकी पुष्टि उनकी शैली से, जो बाद के काव्यों की अलंकृत शैली से सर्वथा भिन्न है, उनकी भाषा में प्रयुक्त अनेक आर्ष एवं अपाणिनीय प्रयोगों से तथा उनके नाटकों में चित्रित पुरातन वातावरण से भी होती है। कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' में भास का जो उल्लेख किया है, उससे यह स्पष्ट है कि कालिदास के समय भास एक यशस्वी प्राचीन नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० निश्चित-सा हो चुका है, अतः इस समय के लगभग १०० वर्ष पूर्व भास की स्थिति मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार भास का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० के बाद का नहीं हो सकता। यूरोपीय विद्वान् जो कालिदास को गुप्तकालीन मानते हैं, भास का समय तृतीय या चतुर्थ शताब्दी ईस्वी निर्धारित करते हैं।

भास के नाटकों की खोज के पूर्व संस्कृत का सबसे प्राचीन उपलब्ध नाटक शूद्रक का 'मृच्छकटिक' माना जाता था। किन्तु अब भास के 'चारुदत्त' नाटक की खोज के बाद 'मृच्छकटिक' उसके अनुकरण पर विरचित एक परिवर्धित नाटक के रूप में स्वीकृत हो चुका है।[2] विंसेन्ट स्मिथ के अनुसार शूद्रक का शासन-काल २०-१८७ ई० पू० था। इस प्रकार 'मृच्छकटिक' द्वितीय या तृतीय शताब्दी ई० पू० की रचना है और 'चारुदत्त' की रचना इसके पूर्व अवश्य हो चुकी होगी।

कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में प्रमाण रूप से एक श्लोक[3] उद्धृत किया है, जो भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में पाया जाता है। कौटिल्य जैसे प्रखर राजनीतिज्ञ

---

१. विस्तार के लिए देखिये—
A. D. Pusalkar Bhasa—A Study, pp. 23-60.

२. S. K. Belvalker : 'The Relationship of Shudraas Mrichchhakatika to the Charudatta of Bhasa.' Pro. of Ist Oriental Conf. 1919, Vol. II. pp. 189-204.

३. नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥ अर्थशास्त्र १०।३

द्वारा भास का प्रमाण-रूप से उद्धृत किया जाना इस बात का सूचक है कि भास कौटिल्य के समय—चतुर्थ शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध—में एक प्रामाणिक ग्रन्थकार के रूप में विख्यात हो चुके थे। इसके अतिरिक्त भास ने अपने 'प्रतिमा' नाटक में 'अर्थशास्त्र' का उल्लेख किया है, पर कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का नहीं। इससे प्रतीत होता है कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की रचना भास के समय नहीं हुई थी। इस प्रकार भास कौटिल्य के पूर्ववर्ती हैं और उनका समय चतुर्थ शताब्दी ई० पू० के बाद का नहीं हो सकता।

भास के नाटकों का सामाजिक चित्रण छठी से चौथी शताब्दी ई० पू० के भारत की ओर संकेत करता है। उनके नाटकों के भरत-वाक्यों में भी नन्द-वंश के किसी राजा की ओर संकेत जान पड़ता है। अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रमाणों के आधार पर भास का स्थितिकाल चौथी या पाँचवीं शताब्दी ई० पू० निश्चित होता है।

भास के नाटक – भास-कृत १३ नाटकों में से ६ नाटकों के कथानक महाभारत से लिये गये हैं, दो नाटक रामायण पर आश्रित हैं तथा शेष पाँच की कथा प्राचीन अर्ध-ऐतिहासिक घटनाओं या दन्त-कथाओं पर अवलम्बित है। किन्तु इन सबमें भास की मौलिक एवं अनूठी कल्पना-शक्ति तथा अद्‌भुत नाट्य-कला-कुशलता का परिचय मिलता है। भास के नाटकों का संक्षिप्त परिचय उनके रचनाक्रम के अनुसार[1] इस प्रकार है—

(१) **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** में ४ अंक हैं। इसमें उदयन-वासवदत्ता के प्रेम और विवाह का वर्णन है। मन्त्री यौगन्धरायण द्वारा उदयन को राजा प्रद्योत के यहाँ से चुराने तथा उनकी नीति-वैशिष्ट्य का वर्णन है।

(२) **स्वप्नवासवदत्तम्** में ६ अंक हैं। मन्त्री यौगन्धरायण का "वासवदत्ता अग्नौ प्रविष्टा", 'वासवदत्ता अग्नि में भस्म हो गई' इस प्रवाद को विस्तृत कर उदयन को पद्मावती से विवाह करने तथा उदयन के अपहृत राज्य का वर्णन है।

(३) **ऊरुभङ्ग**—यह एक एकांकी नाटक है। द्रौपदी के अपमान के प्रतिकार-स्वरूप भीम द्वारा दुर्योधन की जंघा को भंग करके उसके मारने का वर्णन है। संस्कृत साहित्य में यही दुःखान्त नाटक है।

(४) **दूतवाक्यम्**—यह भी एक एकांकी नाटक है। महाभारत के युद्ध से पूर्व श्रीकृष्ण का पांडवों की ओर से सन्धि-प्रस्ताव लेकर दुर्योधन की सभा में जाना और विफल-मनोरथ लौटने का वर्णन है।

(५) **पंचरात्रम्** में ३ अंक हैं। यज्ञ की समाप्ति पर द्रोण ने दुर्योधन से

दक्षिणा माँगी कि पांडवों को आधा राज्य दे दो। दुर्योधन ने कहा कि यदि पाँच रात्रों में पांडव मिल जायेंगे तो ऐसा कर दूंगा। द्रोण के प्रयत्न से पांडवों का मिलना तथा आधा राज्य प्राप्त करना वर्णित है।

(६) **बालचरितम्** में ५ अंक हैं। इसमें श्रीकृष्ण के जन्म से कंसवध तक की कथा वर्णित है।

(७) **दूतघटोत्कच** एकांकी श्रेणी का एक अद्वितीय नाटक है। अभिमन्यु की मृत्यु के पश्चात् श्रीकृष्ण का घटोत्कच को दूत-रूप से धृतराष्ट्र के पास भेजना, दुर्योधन द्वारा अपमान, अन्त में दुर्योधन का कथन है कि मैं अपने बाणों द्वारा उनको उत्तर दूंगा इत्यादि कथा वर्णित है।

(८) **कर्णभार** भी एकांकी नाटक है। इसमें कर्ण का ब्राह्मणवेषधारी इन्द्र को दान में कवच और कुण्डल देने का वर्णन है।

(९) **मध्यमव्यायोग**—यह भी एकांकी नाटक है तथा व्यायोग है। मध्यम-पांडव भीम द्वारा घटोत्कच के हाथ से एक ब्राह्मण-पुत्र की रक्षा करना और भीम को पुत्र-दर्शन से आनन्दानुभूति तथा हिडिम्बा-मिलन का रसास्वाद वर्णित है।

(१०) **प्रतिमा नाटकम्**—इस नाटक में ७ अंक हैं। राम-वन-गमन तक की रामायण की कथा संक्षिप्त रूप से वर्णित है।

(११) **अभिषेक नाटकम्**—इस नाटक में भी ६ अंक हैं। इसमे रामायण के किष्किन्धाकाण्ड से युद्धकाण्ड तक की सम्पूर्ण कथा संक्षेप से वर्णित है। अन्त में रावण-वध के पश्चात् राम के राज्याभिषेक का वर्णन किया गया है।

(१२) **अविमारक**—इस नाटक में ६ अंक हैं। इसमें राजकुमार अविमारक का राजा कुन्तिभोज की पुत्री राजकुमारी कुरंगी के साथ प्रणय-विवाह वर्णित है।

(१३) **चारुदत्तम्**—इस नाटक में चार अंक हैं। इसमें निर्धन किंतु उदारचेता ब्राह्मण चारुदत्त और वसन्तसेना नाम की वेश्या के प्रणय सम्बन्ध का वर्णन है।

यह नाटक अपूर्ण है। सम्भवतः यह नाटक माननीय भास की अन्तिम कृति है, जिसको वे मृत्युपर्यन्त पूर्ण नहीं कर सके हैं।

कुछ विद्वानों ने अन्य कई रचनाओं को भास-कृत सिद्ध करने का प्रयास किया है। इनमें से दो उल्लेखनीय हैं। (१) **'वीणावासवदत्ता'**—इस नाटक का पता 'शाकुन्तल' की एक टीका से चलता है। इसके आठ अंकों में प्रथम चार अंक ही उपलब्ध होते हैं। इसकी कथा 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' के ही समान है। इसमें तथा भास के नाटकों में बहुत कुछ सादृश्य होने के कारण डा० कुन्हन राजा इसे भास की रचना मानते हैं।[१] किन्तु इस नाटक का वस्तु-विन्यास भास के नाटकों से भिन्न है,

१. A New Drama of Bhasa, Proceedings of VI Oriental Conf., 1930, p. 593.

शैली में कृत्रिमता अधिक है, पात्र भी अधिक रूढ़िसम्मत हैं, अतः इसे भास की रचना मानना उचित नहीं। (२) १९४१ में गोंडल से पं० कालिदास शास्त्री ने 'यज्ञफलम्' नामक नाटक प्रकाशित किया है और उसे भास-रचित बतलाया है। इसकी कथा रामायण के बालकाण्ड पर आश्रित है। इसमें मुख्यतः वैदिक यज्ञों का गौरव सिद्ध किया गया है। यद्यपि भास के १६ नाटकों की अनेक विशेषताएँ इसमें भी देख पड़ती हैं, फिर भी यह भास की मौलिक रचना के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि इसकी भाषा उतनी उत्कृष्ट नहीं, इनमें श्लोकों का बाहुल्य है तथा कालिदास के 'शाकुन्तल' का अनुकरण देख पड़ता है। सम्भवतः यह ११ वीं शताब्दी की रचना है।[1]

संस्कृत सुभाषित-ग्रन्थों में भास के नाम से कई पद्य मिलते हैं, जो भास की उपलब्ध रचनाओं में नहीं पाये जाते। सम्भव है कि ये पद्य भास की नष्ट हो गई रचनाओं में रहे हों, क्योंकि अनुश्रुति के अनुसार भास ने ३० से अधिक ग्रन्थ लिखे थे,[2] अथवा ये भास की स्फुट रचना मात्र हों।

संप्रति भास के जो १३ नाटक प्राप्त हुए हैं, इनके प्राप्त करने का श्रेय स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्री टी० गणपति शास्त्री (त्रिवेन्द्रम्) को है। सन् १९०९ में ये नाटक ट्रावन्कोर राज्य में प्राप्त हुए थे। ये चार भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—

१—उदयन की कथा से सम्बद्ध—

(१) प्रतिज्ञायौगन्धरायण।

(२) स्वप्नवासवदत्तम्।

२—महाभारत पर आश्रित—

(१) उरुभंग।

(२) दूतवाक्यम्।

(३) पंचरात्रम्।

(४) बालचरितम्।

(५) दूतघटोत्कच।

(६) कर्णभार।

(७) मध्यम व्यायोग।

३—कल्पनामूलक—

---

१. A. S. P. Ayyar : Bhasa, p. 8.

२. A. D. Pusalkar : Two 17th Century Works of Bhasa, Poona Orientalist, Vol. VIII.

(१) अविमारक ।

(२) चारुदत्त ।

४—रामायण पर आश्रित—

(१) प्रतिमानाटकम् ।

(२) अभिषेकनाटकम् ।

भास कवि के द्वारा रचित (त्रिवेन्द्रम्) नगर में प्राप्त नाटकों में किसी रचयिता का नामोल्लेख नहीं है। इसी कारण इसके बनाने वाले के विषय में अनेकों विवाद विद्वानों में प्रचलित हैं और आज भी उनका समाधान उचित रूप से नहीं हो सका है।

(१) इन नाटकों में कुछ विशेष विलक्षणता है। यथा ये सब नाटक सूत्रधार के द्वारा प्रारम्भ किये गये हैं, जबकि नाट्यशास्त्रकारों का मत है कि सभी रंगमंच सम्बन्धी संकेत नान्दी के द्वारा कथन होता है, फिर सूत्रधार का प्रवेश होता है।

अन्य सभी संस्कृत नाटकों का प्रारम्भ नान्दी से ही किया जाता है। उनमें प्रथम नान्दी मंगलाचरण करता है और मंगलाचरण में अन्तिम अंक तक घटित नाटक की घटनाएँ सूक्ष्म रूप से वर्णित कर देता है। फिर उसी का आधार लेकर सूत्रधार का प्रवेश होता है।

(२) इन तेरह नाटकों में 'भूमिका' के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस 'स्थापना' शब्द के प्रयोग से ये संपूर्ण नाटक अन्य नाटकों से भिन्न हैं।

(३) इन नाटकों में सर्वत्र 'प्ररोचना' का अभाव है, जैसा कि नाट्य-शास्त्रकारों ने कहा है कि 'प्रस्तावनायां आदिमो भागः प्ररोचना शब्देनाभिधीयते'।

इसका यह भाव है कि प्रस्तावना का पूर्व भाग 'प्ररोचना' कहा जाता है। इस 'प्ररोचना' भाग में नाटककार स्वयं अपना परिचय देता है। उस परिचय में अपना नाम, अपने माता-पिता तथा कुटुम्बियों का नाम तथा निवासस्थान का ज्ञान कराता है।

परन्तु त्रिवेन्द्रम् में पाये हुए नाटकों में लेखक का नाम और परिचय बिल्कुल नहीं है।

(४) इन नाटकों में केवल 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'स्वप्नवासवदत्तम्', 'प्रतिमा-नाटकम्', 'पंचरात्रम्' और 'उरुभंगम्' पाँच नाटकों का पहला पद्य मुद्रालंकार से अलंकृत है, अर्थात् पहले पद्य में ही नाटक के सभी मुख्य पात्रों का नाम निर्दिष्ट है। इसीलिए ये नाटक अन्य नाटकों से भिन्न हैं।

(५) इन नाटकों मे प्रायः कुछ सामान्य परिचय के साथ भरत मुनि के वाक्यों का समानार्थक वाक्यों में अनुवाद रूप से उल्लेख मिलता है।

यथा—भरत-मुनि का वाक्य है—'इमामपि महीं कृत्स्ना राजसिंहः प्रशास्तुनः।' इस वाक्य को परिवर्तन करके प्रत्येक नाटक में कवि ने प्रयोग किया है।

(६) इन सभी नाटकों में भूमिका अत्यन्त छोटी है और उसमें यह विशेषता भी है कि एक ही भूमिका कई नाटकों में प्रयोग की गई है।

यथा—'आर्य मिश्रान् विज्ञापयामि', यह वाक्य प्रायः सभी नाटकों में उपलब्ध होता है।

(७) इन नाटकों में एक विशेषता यह भी है कि कुछ पात्र भिन्न-भिन्न नाटकों में एक ही नाम और कार्य में प्रयुक्त किये गये हैं।

जैसे 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' और 'दूतवाक्यम्' इन दोनों नाटकों में कंचुकी का नाम बादरायण ही लिखा मिलता है। इसी प्रकार अन्य चार नाटकों में प्रतीहारी का नाम विजया ही मिलता है।

(८) इन नाटकों में अप्रचलित छन्दों का भी प्रयोग किया गया है, जैसे सुवदना, दण्डक आदि। अनुष्टुप् छंद का बाहुल्य है।

(९) इन नाटकों में व्यंग शक्ति की ही विशेषता है। इसीलिए सर्वत्र पताका-स्थानक का प्रयोग किया गया है।

(१०) इन सभी नाटकों मे सामान्य रूप से भाषा एवं शैली की समानता है। कुछ पद, वाक्य तथा पाठ्य सभी नाटकों में समान रूप से पाये जाते हैं। नाटकों में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी सामान्य रूप से सभी जगह अधिकता से मिलता है।

डा० सुक्थंकर के कथनानुसार भास के बनाये नाटकों में पदों या वाक्यों में एकरूपता है। डा० सुक्थंकर ने एक पद-वाक्यों की सूची तैयार की है। इस सूची में समान वाक्यों की संख्या १२७ लिखी है। आपका कथन है कि इतने वाक्य सभी नाटकों में समान रूप से पाये जाते हैं।

(११) इन नाटकों में अपाणिनीय एवं आर्ष शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा मे पाया जाता है। ये ऐसे शब्द हैं जिनको पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

(१२) इन नाटकों में कुछ नाटक ऐसे हैं जो एक दूसरे से पूर्ण रूप से सम्बन्धित हैं, जैसे 'स्वप्नवासवदत्तम्', 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' का उत्तरार्ध भाग प्रतीत होता है। इन दोनों के कथानक में तारतम्य है। दूसरे 'प्रतिमा' नाटक भी अभिषेक नाटक का ही अंग प्रतीत होता है। दोनों नाटकों में रामायण की कथा वर्णित है, तथा दोनों नाटकों के पात्रों की भिन्नता नगण्य है।

(१३) इन नाटकों में पुत्रों के नाम, माता के नाम निर्देश के साथ लिखे गये

हैं, जैसे प्रायः राम के नाम के पूर्व कौसल्या का नाम भी लिखित है या लक्ष्मण के नाम के पूर्व सुमित्रा माता का नाम लिखित है।

यही इनकी अन्य नाटकों से भिन्नता का कारण है।

यह नाटक महाकवि भास ने ही लिखे हैं, इस मत के समर्थन में कुछ लोग निम्नांकित युक्तियाँ देते हैं, जो तर्कसंगत भी प्रतीत होती है। यथा गणपति शास्त्री महोदय ने इन नाटकों को भास निर्मित ही माना है। उनका कथन है कि इन नाटकों में सर्वत्र प्ररोचना का अभाव है। सभी नाटक सूत्राधार से ही प्रारम्भ किये गये हैं, सभी नाटकों में नान्दी का सर्वथा अभाव है इत्यादि। इस मत को भारतीय तथा पाश्चात्य सभी विद्वान् मानते हैं। इनमें शिवराम महादेव परांजपे, एम० आर० काले, कीथ, याकोवी, स्पेन, कोनो आदि प्रसिद्ध हैं।

जो इस मत को नहीं स्वीकार करते हैं उनमें म० म० पी० वी० काणे, रंगाचार्य रेड्डी इत्यादि हैं। इन लोगों का मत है कि यह नाटक भास-निर्मित नहीं हैं, इनको केरल प्रदेश के चाक्यारा के विधान बनाने वाले नटों को शिक्षा देने को प्रदर्शन मात्र के लिए केरल प्रान्त की राज्यपरिषद् द्वारा बनवाया गया था।

डा० सुक्थंकर ने इन दोनों मतों के विरोध को दूर करने के लिए एक मध्यम मार्ग अपनाया है। इनके मत से भी यह नाटक भास-कृत ही है। लेकिन इस बात की पुष्टि के लिए कोई उचित प्रमाण नहीं दिया जा सकता है।

इस विवादपूर्ण वातावरण में युक्तियों से काम लेना ही उचित है। यथा जो लोग इन नाटकों को भास निर्मित मानते हैं, उनकी उक्तियाँ देना ही न्याययुक्त बात है। इसलिए उन लोगों की कुछ उक्तियाँ यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा।

(१) बाण कवि ने अपने 'हर्षचरित' में महाकवि भास की प्रशंसा में कुछ पद्यों का निर्माण किया है। उन पद्यों में भास की बुद्धि-वैशिष्ट्य का वर्णन किया है यथा—'सूत्राधारकृतारम्भैः'—'हर्षचरित' इति। इस पद्य का अनुसरण करने पर यह बिल्कुल स्पष्ट होता है कि ये नाटक भास निर्मित ही हैं।

महाकवि बाण ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भास ही ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने अपने नाटकों को सूत्राधार के द्वारा प्रारम्भ कराया है, जो भरत मुनि नाट्यशास्त्र के अनुकूल नहीं है।

(२) विक्रम की छठी शताब्दी में दण्डी कवि ने भी अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में कुछ भास लिखित वाक्यों व पदों का उद्धरण दिया है। भास ने अपने नाटकों में 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' इस पद्यार्थ का प्रयोग यत्र-तत्र किया है, उसी को दण्डी कवि ने भी अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

(३) विक्रम की आठवीं शताब्दी में कोई वाक्पति नाम का प्राकृत भाषा का

उद्‌भट विद्वान् था। उसने भी अपने काव्य 'गौडवहो' में भास को अपना घनिष्ठ मित्र माना है और अपने काव्य में भास के समान ही अग्निदाह का प्रयोग भी किया है।

(४) इसी शताब्दी में काव्यालंकार सूत्रकार भामह ने भी अपने ग्रन्थ में विरोध अलंकार के उदाहरण में 'हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता च मे' इत्यादि वाक्य को पद्य रूप में लिखा है। यह पद्य प्राकृत भाषा मे 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में लिखित है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।

(५) विक्रम की नवीं शताब्दी में 'काव्यालङ्कार-सूत्र' वृत्तिकार वामनाचार्य ने भी भास के नाटकों में लिखित पद्यों में से ८ पद्यों को उदाहरण रूप मे लिखा है। वामन ने अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय के पाँचवें अधिकरण मे व्याजोक्ति अलंकार के उदाहरण में भास के इस "शरच्छशांक गौरेण वाता विद्धेन भामिनि। काश पुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं मम।" पद्य को उद्धृत किया है। इसे भास ने अपने 'स्वप्नवासवदत्तम्' नामक नाटक में लिखा था। इसी प्रकार 'यो मृत्पिण्डस्यकृते युद्धे' आदि का भी उदाहरण दिया है। इस पद्य का भास ने अपने 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में उल्लेख किया था। इसी प्रकार 'चारुदत्तम्' नाटक के प्रथमाङ्क में लिखित 'यासां वलिर्भवति मद्गृह देहलीनामिति' इस पद्य का भी वामन ने अपने ग्रन्थ के पंचम अध्याय में उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त 'हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्त पूर्वः' आदि पद्य का भी उदाहरण दिया है। यह पद्य भी चारुदत्त में मिलता है।

(६) नवीं शताब्दी के अंतिम भाग में राजशेखर कवि ने भी अपने निम्नांकित पद्य से भास-कृत नाटक 'स्वप्नवासवदत्त' को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है।

भास नाटक चक्रेऽपि छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहको भून्न पावकः॥

कवि राजशेखर का यह पद्य दो विषयों का प्रतिपादन करता है। 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक भास के नाटक चक्रों में है और इसकी तुलना में कोई दूसरा नाटक इतना प्रभावयुक्त और आकर्षक नहीं है।

राजशेखर ने यह भी कहा है कि इन तेरहों नाटकों की वर्णन-शैली समान है, इसलिए ये संपूर्ण नाटक भास निर्मित ही हैं।

इसी आधार पर विदेशी विद्वान् भी इन सभी नाटकों को भास प्रणीत मानते हैं। उनका भी यही कथन है कि इन सभी की शैली समान है।

दशम् शताब्दी में आचार्य अभिनवगुप्त ने भी 'भारतीय नाट्य-विवृत्ति' नामक अपने ग्रन्थ में 'स्वप्नवासवदत्त' के अंशों को उद्धृत किया है। यथा 'क्वचिद् क्रीडा—' आदि।

एकादश शताब्दी में श्रीमद्भोजदेव ने भी अपने 'शृंगारप्रकाश' नामक ग्रन्थ

में 'स्वप्नवासवदत्त' में लिखित 'पद्मावती....अस्वप्नेददर्श' इस कथन को उद्धरण रूप में लिखा है।

बारहवीं शताब्दी में रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भी अपने 'नाट्यदर्पण' में 'स्वप्नवासवदत्त' के पद्य को भास-कृत कहते हुए उदाहरण रूप दिया है और इसी प्रकार 'स्वप्नवासवदत्त' में आई शेफालिका को शिलातल में देखकर वत्सराज के मोहित होने पर जो पद्य लिखा गया है, उसको भी उद्धृत किया है।

इसलिए ये सारे नाटक भास के द्वारा ही बनाये गये हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है। जो लोग इस मत को मानते हैं कि ये नाटक चाक्यारा नाटकों के द्वारा केरल प्रान्त में देखने के लिए बनवाये गये थे, तो उनको किसने बनवाया था, इसका विवरण प्रमाणयुक्त मिलना चाहिये।

इन नाटकों के प्रणेता नाट्यकला-प्रवीण महाकवि भास का जन्म किस समय भारत में हुआ था तथा किस भूमि को अपने जन्म से सुशोभित किया था, आज भी इस विषय में विद्वानों में महान् विवाद है। फिर कुछ निश्चय नहीं हो सका है, जो लघु सामग्री प्राप्त हो सकी है उसके आधार पर भास के जन्म-समय के विषय में अनुमान किया जाता है।

प्रथम महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक नाटक में प्रस्तावना करते समय भास कवि का नाम बड़े आदर के साथ लिया है—

यथा—'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकादीनाम्' इत्यादि में भास के नाम का उल्लेख हुआ है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि भास का जन्म कालिदास से पूर्व समय का है या वे उनके समकालीन थे। परन्तु कालिदास की जन्मतिथि के विषय में भी सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। कालिदास का समय ही अनिश्चित है। कुछ विद्वानों के मतानुसार कालिदास का समय ईसा की छठी शताब्दी या चतुर्थ शताब्दी माना जाता है। इससे यह सिद्ध है कि भास या तो छठी शताब्दी के हैं या इससे पूर्व ही इनका जन्म हुआ होगा और इन्होंने कालिदास की ग्रन्थ रचना के पूर्व अपनी रचनाओं का संकलन किया होगा।

शूद्रक-रचित 'मृच्छकटिकम्' नामक नाटक संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है। परन्तु वह भास के 'चारुदत्त' नाटक का विस्तृत रूप है, क्योंकि 'चारुदत्त' नाटक एक अपूर्ण नाटक है। उसकी शैली में यह विशेषता है कि उसके बाकी अंक किसी विद्वान् के द्वारा पूर्ण किये जा सकते हैं। इसीलिए सभी विद्वान् यह निश्चय करते हैं कि शूद्रक ने भास-कृत 'चारुदत्त' नाटक के कथानक को लेकर स्वबुद्धि से उसे ऐसे रूप में परिवर्तित कर दिया कि यह अलौकिक और अपूर्व नाटक प्रतीत होने लग गया।

शूद्रक राजा ईसा की प्रथम शताब्दी में राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था

और द्वितीय शताब्दी में दिवंगत हुआ था। 'मृच्छकटिक' की रचना सम्भवतः ईस्वी तृतीय शताब्दी में हुई थी। इन पूर्वोक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि भास ने ईस्वी प्रथम या दूसरी शताब्दी में अपने जन्म से भारत-भूमि को सुशोभित किया होगा।

दूसरा प्रमाण यह भी प्राप्त होता है कि अर्थशास्त्र-प्रणेता कौटिल्य ने भी भास के पद्यों को आप्त-वचन कहकर उदाहरण रूप में लिखा है। यथा—'नवं शरावं ललितैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्' इत्यादि श्लोक को कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में उद्धरण रूप में दिया है। यह 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में पूर्ण रूप से उपलब्ध होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य का काल ईसा से चार शताब्दी पूर्व माना जाता है। ईसा से ३२१ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त राज्य-सिंहासन पर बैठा था। इसलिये भास का समय चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल से पचास वर्ष पूर्व मानना युक्तिसंगत है। भास ने इस नाटक के पाँचवें अंक में रावण के कुछ कथनों को पूर्व ग्रन्थानुसार ही लिखा है। उसने जिन-जिन ग्रन्थों का अध्ययन किया था, उनका नाम और परिचय भी दिया है।

इन्हीं ग्रंथों मे भास ने बृहस्पति-कृत अर्थशास्त्र का भी उल्लेख किया है। सम्भवतः चाणक्य ने भास द्वारा उल्लिखित इसी बृहस्पति-कृत अर्थशास्त्र का आश्रय लेकर अपना ग्रंथ तैयार किया हो, और भास को अपना पूजनीय माना होगा?

कौटिल्य ने भास के कुछ उद्धरणों को मूल रूप में अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है यथा—"भो कश्यप गोत्रोऽस्मि सांगोपांगम् वेद अधीये। माननीय अर्थशास्त्रं माहेश्वरं योगशास्त्रम्" आदि। यदि भास कौटिल्य से अर्वाचीन माने जाते हैं तो कौटिल्य का आप्त-वचन निराधार हो जायगा। इसलिए कौटिल्य के समकालीन या प्राक्तन थे।

इस प्रकार भास के समय का थोड़ा-सा ज्ञान विद्वानों को होता है। दूसरे यह भी है कि महाभारत पुराण के शान्ति पर्व में अर्थशास्त्र के प्रणेता बृहस्पति का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य ने भी बृहस्पतिशास्त्र को प्राक्तन अर्थशास्त्र समझकर अपने ग्रंथ में नमस्कार किया। जो लोग रावण की उक्तियों को मेधातिथि नामक कवि की रचना मानते हैं और भास को ईसा से दसवीं शताब्दी पूर्व मानते हैं, उनका मत बिल्कुल निराधार है, क्योंकि मेधातिथि मनुस्मृतिशास्त्र के टीकाकार थे। उनका समय ईसा से दशम शताब्दी से भी पूर्व था और रावण के मुख से इस प्रकार ईसा से १० शताब्दी पूर्व कथन कराना सर्वथा अनर्गल और हास्यास्पद है।

भास के दो नाटक 'स्वप्नवासवदत्त' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' ऐतिहासिक घटना को लेकर ही बनाये गये हैं। इन नाटकों में भास ने तीन राजाओं (उदयन, प्रद्योत तथा मगध) के नाम और परिचय को लिखा है, इसलिए इनका समय इन तीनों राजाओं से पूर्व का कभी नहीं हो सकता है। इन तीनों राजाओं का नाम और समय

बौद्ध-साहित्य में मिलता है तथा महात्मा बुद्ध का जन्म, ५४० ईसा पूर्व माना जाता है। इसलिए भास का समय भी इससे पूर्व नहीं हो सकता है।

भास की नाट्यकला—भास के नाटकों की अनेकता तथा विविधता से भास की मौलिकता एवं नाट्यकला-कुशलता का परिचय मिलता है। नाट्यशास्त्र के नियमों का अक्षरशः पालन न करने पर भी उनके नाटक श्रेष्ठ और रोचक हुए हैं। 'महाभारत' के आधार पर जिन नाटकों की रचना हुई है, उन्हें भास ने अपनी अनूठी कल्पना-शक्ति से अत्यन्त रोचक बना दिया है। जहाँ संस्कृत के अधिकांश नाटक अभिनय के लिए प्रायः अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं, वहाँ भास के सभी नाटक रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त हैं। संस्कृत में सर्वप्रथम एकांकी नाटकों के प्रणयन का श्रेय भास को ही प्राप्त है।

किसी भी सफल नाटक के लिए निम्नलिखित छः गुण आवश्यक होते हैं—(१) घटना का ऐक्य, (२) घटना की सार्थकता, (३) घटनाओं की घात-प्रतिघात-गति, (४) कवित्व, (५) चरित्र-चित्रण और (६) स्वाभाविकता। भास के नाटकों में इन सभी गुणों का समावेश पाया जाता है। उनके कथानक घटना-प्रधान और अन्तर्द्वन्द्व से युक्त हैं। प्रत्येक नाटक की कथावस्तु कतिपय सार्थक घटनाओं द्वारा इस प्रकार उद्घाटित एवं विकसित की गई है कि क्रियाशीलता के साथ उसमें रस की पुष्टि भी समुचित मात्रा में उत्तरोत्तर होती गई है। अपने वर्णन-चातुर्य और नाट्य-नैपुण्य द्वारा भास अनुपस्थित पात्रों या परोक्ष घटनाओं को रंगमंच पर उपस्थित या घटित किये बिना ही प्रेक्षकों के मन में उनका ऐसा आभास करा देते हैं, मानो उनका प्रत्यक्ष चित्रण हो रहा है। उदाहरणार्थ, 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में वासवदत्ता और उदयन रंगमंच पर कभी नहीं आते, किन्तु दर्शकों को उनकी उपस्थिति का निरन्तर आभास बना रहता है। भास के नाटकों में नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाओं की मनोहारिणी शृंखला देख पड़ती है। उदयन जैसे राजा को कैद में डलवाकर वैभवशालिनी वारवनिता वसन्तसेना को दरिद्र ब्राह्मण चारुदत्त के प्रति अनुरक्त दिखलाकर तथा अर्जुन और अभिमन्यु, भीम और घटोत्कच जैसे पिता-पुत्रों में परस्पर युद्ध कराकर भास ने अपनी कृतियों में मनोरंजन तथा शिक्षा की प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की है।

भास चरित्र-चित्रण में भी निपुण हैं। अपने पौराणिक पात्रों को उन्होंने वास्तविकता, मनोवैज्ञानिकता और मार्मिकता के साथ चित्रित कर उन्हें सर्वथा नवीन एवं प्रभावोत्पादक बना दिया है। भास के नाटकों के संवाद बड़े चुस्त, संक्षिप्त, अनायासपूर्ण तथा नाटकीय दृष्टि से प्रभावजनक हैं। 'स्वप्नवासदत्त,' 'अविमारक' और 'उरुभंग' के संवाद इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। पद्यों का आश्रय लेकर अपने पात्रों में संवाद कराने का भास का ढंग अनूठा है। किसी पद्य को पात्रों या

उपपादों में विभाजित कर भास उन्हें विभिन्न पात्रों के मुख से कहलाते हैं।[1] शीघ्र उत्तर-प्रत्युत्तर तथा चुभते हुए संवादों के लिए ऐसे प्रयोग नितान्त सफल हुए हैं। अपने नाटकों के प्रमुख पात्रों का उल्लेख मंगलाचरण श्लोकों में ही कर देना (जिसे 'मुद्रालङ्कार' कहते हैं) भास को विशेष रुचिकर मालूम देता है। 'पताकास्थानक' का स्थल-स्थल पर उपयोग कर वे अपने नाटकों में चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। उनके नाटकों में शिष्ट एवं परिष्कृत हास्य का पुट पाया जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि कहीं-कहीं भास 'आकाश-भाषित' के प्रयोग से, 'निष्क्रम्य प्रविश्य' जैसे द्रुत नाटकीय निर्देशों से, समय की अन्विति के भग से तथा असूचित पात्रों की उपस्थिति से दर्शकों के मन मे अवास्तविकता का भान करा देते हैं।[2] फिर भी संस्कृत के सर्वप्रथम नाटककार होने के नाते भास की ये त्रुटियाँ नगण्य हैं और वे निश्चित ही नाट्यकला के श्रेष्ठ और सफल आचार्य है। संस्कृत के अनेक परवर्ती नाटककार भास द्वारा प्रभावित हुए हैं।

भास की शैली—ओज, प्रसाद एवं माधुर्य भास की शैली के विशेष गुण हैं। विकट बन्ध, क्लिष्ट कल्पना और समासभूयस्त्व का उसमे अभाव है; स्वाभाविक पदविन्यास के साथ भाव-सौष्ठव और प्रवाह भी प्रचुर है। भास ने उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा जैसे सरस और प्रचलित अलंकारों का ही अधिकतर प्रयोग किया है। रस और अवसर के अनुरूप वे अपनी शैली में भी परिवर्तन कर देते है। वाग्विस्तार करने के स्थान पर वे शब्दों के परिमित प्रयोग द्वारा अपने भावों की मार्मिक व्यंजना कर देते हैं। 'अनुक्त्वैव वनं गताः' (प्रतिमा २।१७) जैसे संक्षिप्त उक्ति द्वारा उन्होंने राम-लक्ष्मण-सीता के अकथनीय हृद्गत भावों का कैसा हृदयस्पर्शी चित्र उपस्थित किया है। शैली की इस परिमितता के कारण भास के भाव कभी-कभी अस्पष्ट और दुर्बोध हो जाते हैं। भास का प्रकृति-चित्रण भी सुन्दर, स्वाभाविक और रोचक है। उन्होंने बाह्य प्रकृति को अन्तःप्रकृति के अनुरूप ही चित्रित किया है। अपनी प्रियतमा से पुनः मिलन न होने की सम्भावना से हताश राजकुमार अविमारक को पृथ्वी कृश-काय, लता-वृक्ष आदि शुष्क और सारा संसार मूर्च्छित होता जान पड़ता है—'लोकोऽयं रविपाकनष्टहृदयः सयाति मूर्च्छामिव' (अवि० ४।४) भास ने अपनी उपमाओं के लिए प्रायः प्रकृति से उपादान चुने हैं—

> सूर्य इव गतो रामः सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः।
> सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता॥ प्रतिमा० २।७

साथ ही भास की उपमाएँ बड़ी सरल, मार्मिक एवं बोधगम्य होती हैं—

---

१. उदाहरणार्थ—प्रतिमा ३।१, पंचरात्र १।५७, उरुभंग २१ आदि।
२. Bhasa—A Study, pp. 102-4.

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति ।
एवं लोकस्तुल्यधर्मा वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च ॥ स्वप्न० ६।१०

'मृत्यु के समय कौन किसकी रक्षा कर सकता है ? रस्सी टूट जाने पर घड़े को गिरने से कौन सम्हाल सकता है । यह संसार वन के समान है । जिस प्रकार वन में वृक्ष काटे जाते हैं और फिर उगते हैं, उसी प्रकार इस संसार में भी मनुष्य मरता है और फिर पैदा होता है ।' किसी घटना, स्थल या दृश्य का वर्णन करते समय भास, कालिदास या भवभूति की भाँति कल्पना का पुट चढ़ाकर उसे अधिक रंगीला या चटकीला बनाने का प्रयास नहीं करते, अपितु उसके नैसर्गिक स्वरूप का ब्यौरेवार वर्णन कर उसका हृदयग्राही दृश्य उपस्थित कर देते हैं । सायंकाल का एक नैसर्गिक दृश्य देखिये—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम् ।
परिभ्रष्टा दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम् ॥ स्वप्न० १।१६

'पक्षी अपने घोसलों में चले गये । मुनिगण जलाशयों में स्नान कर रहे हैं । प्रज्ज्वलित अग्नि शोभित हो रही है । यज्ञ का धुआँ तपोवन में चारों ओर फैल रहा है । सूर्य भी दूर की यात्रा से थककर, अपनी किरणों को समेटकर तथा रथ को मोड़कर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर प्रवेश कर रहे हैं ।' कन्या के विवाह पर माता दुविधा में पड़ जाती है—

अदत्तेत्यागता लज्जा दत्तेति व्यथितं मनः ।
धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता दुःखिताः खलु मातरः ॥ प्रतिज्ञा० २।७

अलंकारों के चुनाव में तथा नवों रसों के चित्रण में भास सिद्धहस्त हैं । कहीं-कहीं वे अनुप्रास और यमकपूर्ण शैली का भी उपयोग करते हैं—'रघुकुलप्रदीपस्य सर्वलोकनयनाभिरामस्य रामस्य च सुविपुलमहाग्रीवस्य सुग्रीवस्य च' (अभिषेक०) । एक ही ध्वनिवाले अक्षरों के प्रयोग की ओर उनकी विशेष रुचि है—'सजलजलधरं', 'सनीरनीरद', 'कुलद्वयं हन्ति मदेन नारी, कूलद्वयं क्षुब्धजला नदीव ।' व्यंग्य का प्रयोग 'स्वप्नवासवदत्त' में खूब देख पड़ता है । मार्मिक लोकोक्तियों का प्रयोग भी बड़ा प्रभावोत्पादक है, जैसे—'प्रियनिवेद्य-मानानि प्रियाणि प्रियतराणि भवन्ति', 'सर्वमलंकारो सुरूपाणाम्', 'वाचानुवृत्ति खलु अतिथिसत्कारः', 'अल्पं तुल्यशीलानि द्वन्द्वानि सृज्यते', 'कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चकारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः', 'न हि सिद्धवाक्यान्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि' आदि ।

भास के उपर्युक्त गुणों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि कालिदास जैसे महाकवि उनका आदरपूर्वक उल्लेख करें तो कोई आश्चर्य नहीं ।

इन नाटकों में प्राचीन काल के संस्कृत नाटकों में उपलब्ध होने वाली कल्पना की क्लिष्टता-समासाधिक्य तथा अस्वाभाविकत्व की भावना के दोष नहीं दिखाई पड़ते हैं।

भाषा बड़ी सरल और बोधगम्य होते हुए, प्रवाह का अनुसरण करती है, भाषा-शैली रामायण से अधिक समता करती है। इसीलिए इसमें सरलता और सर-सता का प्रवाह दिखाई पड़ता है।

भास के नाटकों में अलंकारों की भरमार है। फिर भी शैली में मन्थरता नहीं। इनकी रचनाओं में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यासादि प्रचलित अलंकार विशेष रूप से दिखाई पड़ते हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास उपमा का भी प्रयोग किया है। परन्तु प्रसाद गुण की हीनता नहीं हुई। तद्यथा—"सर्वजनहृदय नयनाभिरामो-रामः", "त्रैलोक्यविद्रावणोरावणः" एवं "गुणगणविभूषणः विभीषण"।

यदि कालिदास के काव्य के प्रति उपमा, अलंकार का सौष्ठव और ध्वन्या-त्मकता सहृदयों के हृदय को आह्लादित कर देता है, तो भास की कविता मनोवृत्ति आकर्षणों के द्वारा आह्लादित कर देती है। यह सहृदयों के मनों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

इस विषय में कोई सन्देह न करना चाहिये। जो है, "स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुखं नवत्वं प्रद्वेषों संकलपात् उपजायते, शरीरेऽरिःप्रहरति हृदये सुजनस्तथा"। इन पद्यों में भाव-वर्णन के साथ ही साथ मनोवैज्ञानिकता का कितना सुन्दर उदाहरण मिलता है। इस बात को विदेशी विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।

भारतीयता की सारी भावनाएँ भास के नाटकों में अधिकता से दिखलाई पड़ती हैं। उनके नाटकों में पितृभक्ति, पातिव्रतधर्म, क्षमा और त्याग, सब जगह पर वर्णित हैं। 'प्रतिमा' नाटक में एक उपमा दी गई है, जिससे पातिव्रत प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण मिलता है। यथा "अनुचरन्ति शशाङ्कं राहु दोषे च तारा" इत्यादि।

भास की भाषा अत्यन्त सरल और प्रवाहपूर्ण है। इसलिए इनके नाटक सर्व-प्रिय हैं। 'स्वप्नवासवदत्त', 'प्रतिमा' आदि नाटकों में ऐसे अवतरणों का समावेश किया है, जिनको विज्ञाता लोग ही बता सकते हैं कि इनमें कितनी मधुरता है। समयानुकूल रसानुभूति युक्त पद्यों का समावेश भास ने अपने नाटकों में किया है। श्रृङ्गार रस का वर्णन कोमल पदावली के द्वारा किया गया है। वीर-रस के वर्णन के अवसर पर कर्कश शब्दों का प्रयोग करने में भी वे हिचकिचाए नहीं हैं।

भास की रचना-शैली सरस और सरल है। इसीलिए कवीश्वर कहने में कोई शंका नहीं है। नाटककारों ने लिखा भी है—"रससिद्धाः कवीश्वराः"। भास श्रृंगार, वीर, करुण इन तीनों रसों में सिद्धहस्त थे। इसीलिए आज भी इनके नाटकों

के होते हुए भास के नाटकों के अभाव में अभाव ही रहता है। इसीलिए भास की रचना सर्वप्रथम गिनी जाती है। गुणों के, अलंकारों के तथा छन्दों के भी प्रयोग में वे सब प्रकार से कुशल थे। वसंततिलका छन्द को वसंतकाल का तिलक बना दिया और अन्य छन्दों को भी बड़ी कुशलता से निभाया।

इसीलिए यह सत्य प्रतीत होता है कि भास एक अलौकिक जनप्रिय मनोवैज्ञानिक कवि थे।

शूद्रक : मृच्छकटिक

प्रसिद्ध प्रकरण 'मृच्छकटिक' के रचयिता राजा शूद्रक को कुछ विद्वान् एक कल्पित व्यक्ति मानते हैं। शूद्रक के व्यक्तित्व पर अभी तक प्रामाणिक रूप से कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। इस विषय में ऐतिहासिक अनुसंधान की आवश्यकता है। संस्कृत साहित्य में शूद्रक के विषय में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। 'कादम्बरी', 'कथासरित्सागर', 'वेतालपंचविंशतिका', 'हर्षचरित', 'राजतरंगिणी', 'स्कन्दपुराण' आदि ग्रन्थों में शूद्रक का उल्लेख मिलता है।[१] 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में शूद्रक का परिचय दो श्लोकों में दिया गया है। उसमें उनकी मृत्यु का भी वर्णन है। किन्तु किसी कवि का अपनी ही रचना में स्वयं अपनी मृत्यु का उल्लेख करना असम्भव है। अतः प्रस्तावना के ये श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। फिर भी उससे दो तथ्य निश्चित रूप से ज्ञात होते हैं—(१) शूद्रक या उनकी ओर से किसी अन्य कवि ने 'मृच्छकटिक' की रचना की और (२) शूद्रक एक राजा थे। वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में 'मृच्छकटिक' के दो पद्यों (१।९, २।६) को उद्धृत कर शूद्रक को ही उसका रचयिता स्वीकार किया है। कीथ[२] का मत है कि किसी अज्ञात कवि—रामिल या सौमिल्ल या दोनों—ने भास के 'चारुदत्त' नाटक को परिवर्धित कर उसे 'मृच्छकटिक' का नाम दिया और प्रसिद्ध राजा शूद्रक के नाम से उसे प्रचारित किया।

रचना-काल—'मृच्छकटिक' के रचना-काल का विचार करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—(१) कालिदास के नाटकों में 'मृच्छकटिक' की कुछ छाप देख पड़ती है। कालिदास का समय लगभग १०० ई० पू० है, अतः 'मृच्छकटिक' की रचना इससे कुछ पूर्व अवश्य हो चुकी होगी। प्रश्न होता है कि

---

१. A. D. Pusalkar : 'Authorship and Date of 'मृच्छकटिक', Proceedings of IX Oriental Conf. 1973, pp. 436-444.

२. Sanskrit Drama, p. 131.

फिर कालिदास शूद्रक के प्रति मौन क्यों हैं, जब उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भास का उल्लेख किया है। कारण यह है कि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति अशान्तिमय होने के कारण कविगण प्रायः किसी उपलब्ध नाटक के परिष्कार एवं परिवर्धन में अपना कौशल प्रदर्शन करते थे। किसी समकालीन या पूर्वकालीन राजनीतिक क्रान्ति के आधार पर वे मूल रचना में दर्शकों की रुचि के अनुसार परिवर्तन करते थे। कालिदास को सम्भवतः यह पता रहा होगा कि 'मृच्छकटिक' न कोई मौलिक रचना है और न शूद्रक ही उसके लेखक हैं। कालिदास के अनुसार 'मृच्छकटिक' के रचयिता रामिल और सौमिल्ल रहे होंगे, क्योंकि इन्हीं का उल्लेख उन्होंने अपने 'मालविकाग्निमित्र' में किया है। (२) 'मृच्छकटिक' में 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग वस्तुतः एक 'पुलिस के अधिकारी' के अर्थ मे हुआ है। किन्तु बाद में साहित्य में 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग 'राजा के साले' के अर्थ में हुआ है। कालिदास ने 'राष्ट्रिय' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। अतः 'मृच्छकटिक' कालिदास के पूर्व की रचना है। (३) 'मृच्छकटिक' में आठ प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। प्राकृत के व्याकरण-ग्रन्थों में जो नियम पाये जाते हैं, उसका पालन 'मृच्छकटिक' में नहीं किया गया है। अतः 'मृच्छकटिक' की रचना इन ग्रन्थों से पहले ही हुई होगी। (४) 'मृच्छकटिक' भास के 'चारुदत्त' नाटक का परिवर्धित रूप जान पड़ता है। अतः इसकी रचना भास के बाद अर्थात् तृतीय शताब्दी ई० पू० में हुई होगी।

मृच्छकटिक की कथा—'मृच्छकटिक' १० अंकों का एक 'प्रकरण' है। उसके कथानक का संक्षिप्त सार इस प्रकार है। उज्जयिनी की प्रसिद्ध वेश्या वसंतसेना चारुदत्त नामक ब्राह्मण पर अनुरक्त है। उधर राजा का साला (शकार) वसंतसेना को अपने वश में करना चाहता है। एक दिन अँधेरी रात में वह उसका पीछा करता है, किन्तु वसंतसेना उसे चकमा देकर चारुदत्त के घर में घुस जाती है। शकार से बचने के लिए वसंतसेना अपने आभूषण चारुदत्त के घर रख आती है। वसंतसेना की दासी मदनिका को मुक्त कराने के लिए उसका प्रेमी शर्विलक चारुदत्त के घर में सेंध लगाता है और वसंतसेना के उन्हीं आभूषणों को चुरा लाता है। उन आभूषणों में मदनिका सेवा-मुक्त हो जाती है। चारुदत्त की पतिव्रता स्त्री धूता अपनी बहुमूल्य रत्नावली उन आभूषणों के बदले में वसंतसेना को दे देती है। जब चारुदत्त का पुत्र रोहसेन अपनी मिट्टी की गाड़ी लेकर वसंतसेना के घर जाता है, तब वसंतसेना अपने गहनों से उसकी मिट्टी की गाड़ी भर देती है और उससे कहती है कि इनसे सोने की गाड़ी खरीद लेना। 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी) यह नाम इसी घटना से सम्बन्ध रखता है। सुहावनी वर्षा के समय वसंतसेना प्रणय-मिलन के लिए चारुदत्त के घर आती है। दूसरे दिन चारुदत्त पुष्पकरंडक नामक बगीचे में जाता है। वसंतसेना उससे

मिलने वहाँ जाती है, किन्तु भ्रम से चारुदत्त का गाड़ी के स्थान पर समीप खड़ी हुई शकार की गाड़ी में जा बैठती है। इधर राजा पालक किसी सिद्ध की इस भविष्यद्-वाणी पर विश्वास करके कि उसके बाद गोपाल का पुत्र आर्यक राजा बनेगा, आर्यक को कैद में डाल देता है। कैद से भागकर आर्यक चारुदत्त की गाड़ी में जा बैठता है। लोह-शृङ्खला की आवाज को आभूषणों की झनकार समझ गाड़ीवान गाड़ी हाँक देता है। रास्ते में पुलिस के दो सिपाही गाड़ी रोक देते हैं। उनमें से एक आर्यक को देख उसकी रक्षा करने का वचन देता है और अपने साथी से झगड़ा कर बैठता है। आर्यक बगीचे में चारुदत्त से मिलकर गायब हो जाता है। उधर जब वसंतसेना पुष्पकरंडक उद्यान में पहुँचती है, तब उसे वहाँ चारुदत्त के स्थान पर दुष्ट शकार मिलता है। वसंतसेना उसके अनुचित प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा देती है। वह वसंतसेना का गला घोंट देता है। संवाहक नामक एक बौद्ध-भिक्षु उपचार करके उसे पुनरुज्जीवित करता है। इधर शकार न्यायालय में चारुदत्त पर वसंतसेना की हत्या का अभियोग लगाता है। चारुदत्त को फाँसी का हुक्म होता है; किन्तु उधर चारुदत्त का मित्र आर्यक पालक को मार स्वयं राजा बन जाता है। वह चारुदत्त को मुक्त कर मिथ्याभियोग के कारण शकार को फाँसी का हुक्म देता है, पर चारुदत्त के कहने से क्षमा कर देता है। अन्त में वसन्तसेना और चारुदत्त का विवाह हो जाता है।

संस्कृत नाटकों में 'मृच्छकटिक' अपने ढंग का अनूठा नाटक है। उसमें नाटक-कार ने बड़ी कुशलता से प्रेम के कथानक को राजनीतिक घटनाओं के साथ सम्बद्ध किया है। संस्कृत में यही एकमात्र चरित्र-चित्रण-प्रधान नाटक कहा जा सकता है। शूद्रक ने अपनी कृति में सभी प्रकार के पात्रों की सृष्टि कर तत्कालीन समाज का बड़ा ही सजीव एवं यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। संस्कृत के अन्य नाटकों के समान इसमें हमारे समाज के केवल उच्च या सम्भ्रान्त वर्ग का ही चित्रण नहीं हुआ, अपितु समाज की सभी श्रेणियों का यथार्थ निरूपण हुआ है। चोर, जुआरी, धूर्त्त, क्रान्ति-कारी, कुट्टनी, वेश्या, पुलिस के अधिकारी, राजा, ब्राह्मण आदि सभी प्रकार के पात्र अपने व्यस्त व्यापारों से सारे नाटक को रोचक बना देते हैं।

सामाजिक नाटकों में अग्रगण्य-- 'मृच्छकटिक' में सामाजिक जीवन की अपूर्व रोचकता, घटनाओं का घात-प्रतिघात तथा कथानक का क्रमिक विकास पाया जाता है। उसमें जीवन की घटनाओं का जो विविध एवं वास्तविक स्वरूप उपस्थित किया गया है, वह उसे रंगमंच के लिए सर्वथा उपयुक्त बना देता है। उसकी विविधता का परिचय उसके विभिन्न अंकों के नामों से ही मिलता है। कहीं जुआ खेलने वाले मूर्ख संवाहक का वर्णन है तो कहीं ब्राह्मण-चोर शर्विलक अपनी प्रेमिका के लिए सेंध लगाता है; कहीं प्रवहणों का विपर्यय होता है तो कहीं नगर के बाहर उद्यान में वसन्तसेना

की हत्या का प्रयत्न किया जाता है; कहीं न्यायालय का दृश्य है तो कहीं वधस्थल का। एक ओर पति-भक्ति, करुणा, गुण-ग्राहकता और उदारता है तो दूसरी ओर कपट, पाखण्ड, मूर्खता और निर्दयता है।

संस्कृत के अन्य किसी नाटक में 'मृच्छकटिक' की भाँति इतने विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग नहीं हुआ है और न हास्य-रस का ऐसा अनूठा चित्रण ही। शूद्रक की शैली सरल एवं प्रवाहयुक्त है तथा नाटक के गतिशील कथानक के सर्वथा उपयुक्त है। उनकी भाषा में अवश्य ही कालिदास की चारुता तथा भवभूति की उदारता नहीं है। 'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' या 'अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया' जैसे जीवन के महान् सत्यों का भी उल्लेख शूद्रक नहीं करते। फिर भी वे किसी भाव का मार्मिक चित्रण करने में सिद्धहस्त हैं। उनकी भाषा तथा शैली की सरलता एवं स्पष्टता नाटक की रोचकता में वृद्धि करती है। बड़े-बड़े छन्दों का प्रयोग उन्होंने बहुत कम किया है। नये-नये भाव स्थान-स्थान पर मिलते हैं। कहीं करुण-रस की फल्गु धारा प्रवाहित हो रही है (८।३८), कहीं शृंगार-रस की स्निग्ध व्यंजना है तो कहीं प्रकृति के दृश्यों का मनोरम चित्रण। पहले अंक में दरिद्रता का तथा पाँचवें अंक में वर्षा-ऋतु का वर्णन बड़ा हृदयग्राही हुआ है। सारे नाटक में यत्र-तत्र सुन्दर भाव, रमणीय उपमाएँ तथा रोचक कल्पनाएँ देखने को मिलती हैं। कथोपकथन भी बड़े मनोहर हुए हैं, विशेषकर उन स्थलों पर जहाँ वसन्त-सेना, मदनिका, विट, मैत्रेय या शकार उपस्थित रहते हैं। शूद्रक ने विट के मुँह से जो पद्य कहलाये हैं, वे कवित्व की दृष्टि मे उच्च कोटि के हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से शूद्रक की शैली का परिचय प्राप्त होगा। दरिद्र पुरुष की स्थिति कैसी दयनीय होती है—

दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः।
सत्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य सम्भाव्यते ॥१।३६

'निर्धन व्यक्ति की बात उसके बन्धुगण नहीं मानते। उसके प्रिय-से-प्रिय मित्र शत्रु बन जाते हैं। आपत्तियों का ताँता बँध जाता है। उसका तेज क्षीण हो जाता है। उसके शील-रूपी चन्द्रमा की कान्ति म्लान पड़ जाती है। दूसरों द्वारा भी किये गये अपराधों का दोष दरिद्र पुरुष के ही मत्थे मढ़ दिया जाता है।' नीचे के पद्य में चन्द्रोदय का क्या ही विचित्र वर्णन है—

उदयति हि शशांकः कामिनीगण्डपाण्डु-
र्ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।

तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
स्रुतजल इव पंके क्षीरधाराः पतन्ति ॥१।५७

'प्रेमी के विरह में पड़ी हुई प्रेमिका के कपोलों की भाँति पीला यह चन्द्रमा अनेक नक्षत्रों से घिरा हुआ उदय हो रहा है, मानो वह इस राजमार्ग का दीपक हो। उसकी श्वेत किरणें जब अन्धकार के पटल पर पड़ती हैं, तब ऐसा मालूम पड़ता है, मानो सूखे काले कीचड़ में दूध की पतली सफेद धाराएँ गिर रही हों।'

कालिदास : नाट्यकला-कुशलता का चूडान्त निदर्शन

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट नाटककार माने जाते हैं। उनका स्थितिकाल, जैसा कि पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है, प्रथम शताब्दी ई० पू० में उज्जयिनी के परमार-वंशी सम्राट् विक्रमादित्य के राज्यकाल में माना गया है।

रचनाएँ—कालिदास ने तीन नाटक लिखे हैं—**'मालविकाग्निमित्र'**, **'विक्रमोर्वशीय'** और **'अभिज्ञान-शाकुन्तल'**। भारतीय नाट्य-साहित्य का पूर्ण परिपाक हमें सर्वप्रथम कालिदास की कृतियों में ही मिलता है। अपनी अनूठी कल्पना-शक्ति और विलक्षण नाट्य-नैपुण्य के कारण कालिदास संसार के नाटककारों में अग्रगण्य माने जाते हैं। भारतीय संस्कृत का जैसा समुज्ज्वल, मनोरम और भव्य चित्र उन्होंने अपने नाटकों में अंकित किया है, वैसा किसी अन्य देश के लेखक ने अपने देश की संस्कृति का नहीं। कालिदास की प्रतिभा अलौकिक एवं सर्वतोमुखी थी। जैसे सरस और हृदयग्राही उनके महाकाव्य हुए हैं, जैसी मौलिक और अनूठी कल्पना-शक्ति उनके 'मेघदूत' में देख पड़ती है, वैसी ही अद्भुत और अनुपम रचना-चातुरी उनके नाटकों में प्रस्फुटित हुई है। नाटककार कालिदास, कवि कालिदास से किसी प्रकार कम नहीं हैं। उनका नाटक 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' विश्व-साहित्य का एक अमूल्य रत्न स्वीकृत हो चुका है।

रचना-क्रम के अनुसार **'मालविकाग्निमित्र'** कालिदास का पहला नाटक है जैसा कि इसकी प्रस्तावना से प्रतीत होता है—**'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।'** इस स्थल पर कवि ने अपनी नवीन कृति को उपस्थित करते हुए यह तर्क दिया है कि प्राचीन होने से ही कोई काव्य उत्कृष्ट नहीं होता और न नवीन होने से निकृष्ट। उसकी अपरिपक्व शैली से भी यही बात सिद्ध होती है। **'विक्रमोर्वशीय'** रचना-क्रम से कालिदास की द्वितीय कृति है। इसमें उनकी प्रतिभा का अपेक्षाकृत अधिक विकास हुआ है। **'अभिज्ञान-शाकुन्तल'** कालिदास का अन्तिम नाटक तथा उनकी प्रतिभा का प्रौढ़तम निदर्शन है।

मालविकाग्निमित्र—'मालविकाग्निमित्र' के पाँच अंकों में राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रणय-कथा वर्णित है। राजमहिषी की परिचारिका मालविका अपने अनुपम सौंदर्य से राजा के चित्त को आकृष्ट करती है। रानी उससे ईर्ष्या करने लगती है। राजा अपनी प्रेमिका मालविका से मिलने के लिए अनेक प्रयत्न करता है। अंत में यह प्रकट हो जाता है कि मालविका जन्मना राजकुमारी है और तब उसका विवाह अग्निमित्र से हो जाता है।

'मालविकाग्निमित्र' का नायक अग्निमित्र एक ऐतिहासिक व्यक्ति है। उसका शासन-काल कालिदास के कुछ समय पूर्व ही रहा होगा। इतिहास के अनुसार अग्निमित्र मौर्य राजा बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था। पुष्यमित्र ने अपने स्वामी की हत्या कर उसका राज्य हस्तगत कर लिया और १८३ ई० पू० के लगभग शुंगवंश की स्थापना की। उसने यूनानियों को हराकर अश्वमेध यज्ञ किया। इन पिछली दोनों घटनाओं का 'मालविकाग्निमित्र' में उपयोग किया गया है।

'मालविकाग्निमित्र' कालिदास की प्रथम कृति होने पर भी नाट्यकला की दृष्टि से एक उत्कृष्ट रचना है। नाटक के सारे पात्र, सारी घटनाएँ एवं अवस्थाएँ एक ही उद्देश्य—अग्निमित्र की प्रणय-सिद्धि—की पूर्ति में सहायक हैं। कथानक की विभिन्न घटनाएँ बड़े कौशल से कल्पित हैं। कथानक के रचना-संकोच में कालिदास ने बड़ी कुशलता दिखाई है।[1] कथानक का कोई भी अंग मुख्य कथावस्तु से असम्बद्ध नहीं है। वैचित्र्यपूर्ण प्रसंगों की कमी नहीं है। राजा और मालविका का मिलन करने में तथा मालविका के कैद हो जाने पर उसे मुक्त कराने में 'कामतंत्रसचिव' विदूषक की युक्तियाँ विशेष रूप से अवलोकनीय हैं। नाटक में काव्य-सौन्दर्य भले ही कम हो, पर नाटकीय क्रियाशीलता प्रचुर मात्रा में देख पड़ती है। उसकी भाषा प्रसादपूर्ण और मनोहर है। नाटक के संवाद बड़ी चतुरता से रचे गये हैं और प्रेक्षकों की रुचि को बनाये रखते हैं। चटकीले और चुभते उत्तर-प्रत्युत्तर सरस विनोद तथा सामयिक श्लेषोक्तियों से नाटक के संवादों में सजीवता आ गई है। किन्तु रोचक होने पर भी 'मालविकाग्निमित्र' में भावों या चरित्र-चित्रण का गाम्भीर्य नहीं पाया जाता। उसका कथानक जटिल है तथा पात्रों के मनोविकारों के विश्लेषण में कवि का विशेष प्रयत्न नहीं देख पड़ता। उसकी कथा अंतःपुर के प्रणय षड्यन्त्रों तक ही सीमित है तथा जीवन की अधिक व्यापक समस्याओं को स्पर्श नहीं करती। कवि की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति भी अभी पूर्णतया प्रस्फुटित नहीं हुई है। वह राजमहल के दृश्यों तक ही सीमित देख पड़ती है। ग्रीष्म का एक वर्णन देखिये—

१. G. C, Jhala : Kalidasa—A Study, p. 104,

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि ।
बिन्दूत्क्षेपान्पिपासुः परिपतति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥२॥१२

'राजमहल के भीतर बावलियों में कमल-पत्तों की छाया में हंस आँखें बन्द किये ऊँघ रहे हैं। अत्यधिक ताप के कारण कबूतर महलों के छज्जों से उड़-उड़ पड़ते हैं। जलकणों को पीने की इच्छा से मोर चक्कर काटने वाले फौवारे के पास आ बैठता है। सूर्य अपनी समस्त किरणों से उसी प्रकार प्रचण्ड रूप से उद्भासित हो रहे हैं, जैसे हे राजन् ! आप अपने प्रशस्त गुणों से।'

'विक्रमोर्वशीय'—यह पाँच अंकों का एक 'त्रोटक' (उपरूपक) है। इसमें राजा पुरूरवा तथा उर्वशी अप्सरा की प्रणय-कथा वर्णित है। पुरूरवा केशी नामक दैत्य से उर्वशी का उद्धार करते हैं। राजा उर्वशी के सौंदर्य पर मोहित हो जाते हैं। भरत मुनि के शाप से उर्वशी को मृत्युलोक में आना पड़ता है और तब वह राजा के साथ कुछ समय तक रहती है। एक बार मन्दाकिनी के तट पर खेलती हुई किसी विद्याधर कुमारी की ओर राजा देखने लगा। इस पर उर्वशी रूठकर कार्तिकेय के गन्धमादन उपवन में चली जाती है। कार्तिकेय ने ऐसा नियम बना रखा था कि जो स्त्री उपवन में घुसेगी, वह लता के रूप में परिणत हो जायगी। उर्वशी भी लता हो जाती है। इधर उर्वशी के विरह में राजा जंगल-जंगल भटकता और प्रलाप-विलाप करता है। संगमनीय-मणि के प्रभाव से उर्वशी पुनः अपने पूर्व रूप को प्राप्त हो जाती है। दोनों राजधानी को लौट आते हैं। पर जब उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न अपने कुमार को राजा देख लेता है, तब उर्वशी इन्द्र की आज्ञानुसार स्वयं लौट जाती है। इस पर राजा राजकुमार का राज्याभिषेक कर वन में जाने का निश्चय करता है। किन्तु इन्द्र उसे ऐसा करने से रोकते हैं और आश्वासन देते हैं कि उर्वशी जन्म भर तुम्हारी सहधर्मिणी होकर रहेगी।

कला की दृष्टि से 'विक्रमोर्वशीय' का स्थान 'मालविकाग्निमित्र' और 'अभि-ज्ञान-शाकुन्तल' के बीच का है। उर्वशी और पुरूरवा के अत्यधिक प्राचीन वैदिक आख्यान को कवि ने भाव, भाषा और शैली की मौलिकता से अत्यन्त रमणीय रूप दे दिया है। कवि की कल्पना-शक्ति इसमें खूब प्रस्फुटित हुई है। भरत मुनि का शाप, कार्तिकेय का नियम, उर्वशी का रूप-परिवर्तन, पुरूरवा का उन्मत्त प्रलाप इत्यादि प्रसंग और समग्र पाँचवाँ अंक—ये सब कालिदास की कल्पना-शक्ति के फल हैं। माल-विकाग्निमित्र' की तुलना में 'विक्रमोर्वशीय' में नाटकीय क्रियाशीलता की न्यूनता है। दूसरे और तीसरे अंकों की कुछ घटनाएँ कथानक की प्रगति के लिए आवश्यक

नहीं जान पड़तीं। चौथे अंक में विप्रलम्भ का इतना मात्रातीत चित्रण हुआ है कि नाटकीय व्यापार में शिथिलता आ गई है। फिर भी 'विक्रमोर्वशीय' में संभोग और विप्रलम्भ श्रृंगार का उत्तम परिपोष हुआ है। पात्रों की संख्या कम होने पर भी उनका चित्रण मार्मिकता से किया गया है। यद्यपि 'विक्रमोर्वशीय' की भाषा उतनी मँजी हुई और मुहावरेदार नहीं है जितनी अभिज्ञान-शाकुन्तल की, तथापि वह प्रासादिक, सौष्ठवयुक्त एवं अलंकृत है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी स्थान-स्थान पर रमणीय है। इसके लघु छन्दों की मधुरता और विविधता दर्शनीय है। उर्वशी का अप्रतिम रूप देखकर राजा अपने चित्त में सोचता है—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
श्रृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलः
निर्मातुं प्रभवेन् मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥१८॥

'इस सुन्दरी का निर्माण करनेवाला विधाता स्वयं रमणीय कान्तिवाला चन्द्रमा रहा होगा अथवा श्रृंगार-रसमय कामदेव अथवा स्वयं कुसुमाकर वसन्त। निरन्तर वेदाभ्यास के कारण शुष्क हृदय और सांसारिक विषय वासनाओं के उदासीन जरठ नारायण ऋषि भला इतने मनोहर रूप की सृष्टि कैसे कर सकते है?' कालिदास का उपमा-कौशल[1] इस नाटक मे विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है। उर्वशी का मूर्च्छित दशा से धीरे-धीरे होश में आने का कैसा मार्मिक एवं मूर्तिमान वर्णन है—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
र्नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव छिन्नभूमिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गंगारोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम्॥ ७॥

'जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर रात्रि शनैः-शनैः अन्धकार से मुक्त होने लगती है, सन्ध्या-काल में धुएँ के निकल जाने पर अग्नि की ज्वाला धीरे-धीरे स्पष्ट देख पड़ने लगती है और कगारों के गिरने से कलुषित जलवाली गंगा क्रमशः निर्मल होने लगी है, उसी प्रकार यह सुवदना उर्वशी भी अपनी मूर्च्छा से धीरे-धीरे होश में आ रही है।' चौथे अंक में कालिदास की कवित्व-शक्ति का खूब चमत्कार दिखाई पड़ता है। पुरूरवा उन्माद में सोचता है कि उर्वशी कहीं नदी के रूप मे तो परिणत नहीं हो गई—

---

१. १।१०, १२; २।१; ३।६; ४।२५, ३८; ५।१९, २२

तरंगभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ।।४।२८

'अवश्य ही उर्वशी मेरे अपराधों को न सह सकने के कारण, उनका बारम्बार स्मरण करती हुई, नदी के रूप में परिणत हो गई है— तरंगें ही उसकी टेढी भौंहें हैं, कलरव करते हुए पक्षिगण ही उसके कटिसूत्र हैं। देखो, कोप से खिसक पड़े अपने फेन-रूपी वस्त्रांचल को समेटती हुई वह चली जा रही है।' नहीं, इस हंस ने ही उर्वशी का अपहरण किया होगा—

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ।।४।१७

'हे हंस, मेरी प्रियतमा को लौटा दे, जिसकी बाँकी चाल तूने चुरा ली है। जिसके पास चोरी के धन का कुछ भी अंश मिल जाता है, उसे सारा धन लौटाने को बाध्य होना पड़ता है।' काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से 'विक्रमोर्वशीय' का चौथा अंक अप्रतिम है। उसके प्राकृत-पद्यों का गीति-सौन्दर्य, प्रकृति-वर्णन तथा प्रेमी की विरह-व्यथा—इन सबने एकत्र हो 'मेघदूत' का एक पर्व-चित्र उपस्थित कर दिया है।

'अभिज्ञान-शाकुन्तल' महाकवि कालिदास का—या यों कहिए कि समग्र संस्कृत साहित्य का—सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसमें कुल सात अंक हैं। इसमें दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय, वियोग तथा पुनर्मिलन की कथा वर्णित है। हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त मृगया करते हुए संयोगवश कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँच जाते हैं, जहाँ उनका शकुन्तला से साक्षात्कार होता है। उसके जन्म की कथा सुन लेने के बाद उनके हृदय में उस मुनिकन्या के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। शकुन्तला भी आभिजात्य और पौरुष की प्रत्यक्ष प्रतिमा महाराज दुष्यन्त के प्रति आकर्षित होती है। दोनों गांधर्व-विधि से विवाह-सूत्र में बँध जाते हैं। प्रणय-मिलन के बाद आवश्यक कार्य से दुष्यन्त को हस्तिनापुर लौटना पड़ता है। जाते समय अपनी नामांकित अँगूठी शकुन्तला को यह कह कर देते हैं कि जितने अक्षर इस अंकित नाम में हैं, उतने ही दिनों के अन्तर्गत मैं तुम्हें हस्तिनापुर बुला लूंगा। इधर कण्व तीर्थ-यात्रा से लौटते हैं और शकुन्तला को गर्भवती जान उसे पति-गृह भेजने का आयोजन करते हैं। शकुन्तला अपने शैशव के सहचर लता, पादप, पशु, पक्षी, मृग-शावक, सखियाँ—सभी से स्नेहपूर्वक विदा होकर हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान करती है। वहाँ दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त उसे न पहचानकर उसका प्रत्याख्यान करते हैं। तब विलाप करती हुई शकुन्तला को एक दिव्य ज्योति आकाश में उड़ा ले जाती है। हेमकूट पर्वत पर

महर्षि मारीच के आश्रम में अपनी माता मेनका के साथ वह अपने वियोग के दिन काटती है। इधर एक मछुए को राजा की वह नामांकित अँगूठी एक मछली के पेट में मिलती है। ज्यों ही राजा उस अँगूठी को देखते हैं, उन्हें शकुन्तला के साथ अपने प्रणय का स्मरण हो आता है, और वे शकुन्तला से मिलने के लिए व्याकुल हो उठते हैं। अन्त में इन्द्र की सहायता कर स्वर्ग से लौटते समय दुष्यन्त का मारीच-आश्रम में अपने पुत्र सर्वदमन और शकुन्तला से पुनर्मिलन होता है। यहाँ से हस्तिनापुर लौटकर दुष्यन्त शकुन्तला के साथ सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं।

मूल कथानक में परिवर्तन—'शाकुन्तल' नाटक का मूल कथानक महाभारत के आदिपर्व मे वर्णित शकुन्तलोपाख्यान मे लिया गया है। किन्तु उस सीधी-सादी पौराणिक कथा को कालिदास ने अपनी अद्भुत-शक्ति के द्वारा अनुपम नाटकीय रूप दे दिया है। 'महाभारत' मे शकुन्तला अपने जन्म की कथा स्वयं कहती है। कालिदास ने ये सब बातें नायिका के मुख से न कहलाकर उसकी दो सखियों—प्रियंवदा और अनसूया—से कहलाई है, जिससे शकुन्तला के शील और मुग्धत्व की रक्षा की गई है। 'महाभारत' में शकुन्तला विवाह करने के पहले शर्त रखती है—

मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरम्।
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥

किन्तु 'शाकुन्तल' में वह अपनी सखियों से कहती है—'तद्यदि वामनुमतं तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि।' 'महाभारत' की शकुन्तला प्रगल्भ, स्पष्ट-वादिनी और निर्भीक तरुणी है। किन्तु कालिदास ने जिस शकुन्तला की सृष्टि की है वह एक लज्जाशील, प्रेम-परायण और मुग्ध बालिका है। 'शाकुन्तल' में कण्व 'महाभारत' की भाँति फल-मूलादि लाने वन में नहीं जाते, वरन् शकुन्तला के किसी भावी अनिष्ट को टालने सोमतीर्थ गये हुए हैं। कण्व को आश्रम में दीर्घ समय तक अनुपस्थित रखकर कवि ने अनेक घटनाओं की स्वाभाविक पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। तपस्वियों का दुष्यन्त से आश्रम की रक्षार्थ ठहरने की प्रार्थना करना, फलतः नायिका के प्रणय की उद्भूति, विकास और परिणति तथा दुर्वासा का शाप—ये घटनाएँ कण्व की दीर्घकालीन अनुपस्थिति में ही सम्भव थीं। दुर्वासा के शाप के शमन में भी कण्व द्वारा सोमतीर्थ में किये गये उपचार ही कारणभूत थे। इस प्रकार कण्व के सोमतीर्थ-गमन की नई कल्पना पर कालिदास ने अनेक नाटकीय घटनाओं को आश्रित कर दिया है। 'महाभारत' में शकुन्तला के गर्भ से आश्रम में ही पुत्र उत्पन्न होता है। जब वह बालक छः वर्ष का हो जाता है, तब शकुन्तला पति-गृह को जाती है। कालिदास ने प्रसव के पूर्व ही शकुन्तला को पति-गृह भेजकर भारतीय मर्यादा का पालन किया है। 'महाभारत' का दुष्यन्त कामुक, भीरु और स्वार्थी

विविध घटनाओं का उत्तरोत्तर विकास बड़ी स्वाभाविकता से चित्रित है। प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक प्रसंग सहेतुक है; उसका एक शब्द भी अनावश्यक अथवा अनुपयुक्त नहीं है।

कथासार नाटक का प्रारम्भ मृगया-दृश्य से होता है, जो वर्णनात्मक और कवित्वमय अधिक है, नाटकीय कम। कण्व के आश्रम का दृश्य कैसा कमनीय और शोभापूर्ण है! तीनों युवतियों का आमोद-प्रमोद, सरल स्वभाव तथा कन्योचित शिष्टाचार कैसी सुकुमारता के साथ अंकित किया गया है! शकुन्तला के हृदय में प्रणय की उद्भूति का चित्रण बड़े कौशल से किया गया है, जिसका अन्तिम दृश्य वल्कल के उलझने की घटना से होता है, जिससे लाभ उठाकर वह राजा पर अपनी प्रणयभरी दृष्टि डालती है।

द्वितीय अंक प्रथम अंक का ही परिणाम है, जिसमें हमें प्रणयदग्ध राजा के मुख से प्रथम अंक की शकुन्तला की शारीरिक और मानसिक अवस्था का आभास मिलता है। इस अंक में क्रियाशीलता कम है और हम उसे प्रथम और तृतीय अंक को मिलानेवाला एक विस्तृत 'विष्कम्भक' मान सकते हैं।

तृतीय अंक में प्रणय-विधुरा शकुन्तला के तीव्र मानसिक ताप का परिचय मिलता है। वह प्रियतम को प्रणय-पत्र लिखती है। प्रेमी उपस्थित होता है, प्रेमिका को अपना हृदय समर्पित करता है—और दोनों एकान्त में छोड़ दिये जाते हैं। पूर्ण औचित्य के साथ नाटककार गौतमी के आगमन की सूचना देता है और शकुन्तला राजा को कुंजों के पीछे छिप जाने को कहती है। प्रेमी के साथ एकान्त में होने पर यद्यपि लज्जावश वह उसके प्रेमाग्रह का प्रतिकार है, तथापि प्रणय ने उसे इतना मुखर बना दिया है कि वह लताकुञ्ज को पुनः विहार के लिए आमन्त्रित करते हुए उससे विदा लेती है। नायक-नायिका के प्रणय का विकास निर्बाध रूप से अंक की समाप्ति तक होता है, जिसे हम नाटक के प्रथम भाग की समाप्ति कह सकते हैं।

तीसरे अंक तक नाटक का द्वन्द्व मुख्यतः आन्तरिक रहा है। शकुन्तला के सौंदर्य से आकृष्ट दुष्यन्त के हृदय में पहले यह उथल-पुथल मचती है कि वह उपभोग के योग्य है अथवा नहीं। किन्तु वास्तविक अन्तर्द्वन्द्व तो एक ओर शकुन्तला के मुग्ध स्वभाव, तपस्विगत संस्कार तथा कन्योचित लज्जा के आधिक्य में और दूसरी ओर उसके हृदय में उठनेवाले प्रणयावेग के बीच में है, जिसे दबाने का वह असफल प्रयास करती है।

चौथे अंक का 'विष्कम्भक' कथानक में आमूल परिवर्तन का सूत्रपात करता है। भावी विपत्ति का वह प्रथम सूचक है। प्रातःकाल का वर्णन—'सूर्य-चन्द्रमा के एक साथ उदय-अस्त द्वारा मानो संसारियों का भाग्य-चक्र नियन्त्रित हो रहा है'—यह सूचित करता है कि जीवन अथवा प्रणय निरा आनन्दमय ही नहीं है। कालिदास ने

दुर्वासा के शाप जैसी महत्त्वपूर्ण घटना को 'विष्कम्भक' में उल्लिखित कर अपने अपूर्व नाट्य-कौशल का परिचय दिया है। शकुन्तला के प्रणय का दृश्य अपने कवित्वमय वर्णन में, कन्या के गमन पर पितृ-हृदय की भावनाओं के चित्रण में तथा सामाजिक और नैतिक आदर्शों के निरूपण में अनुपम है। कण्व की व्यग्रता, अनसूया और प्रियंवदा की आनन्द में परिणत चिन्ता, कण्व का राजा के नाम संदेश और भावी गृह-लक्ष्मी को उपदेश तथा आश्रम की नीरवता में विविध भाव और घटनाएँ ऐसी मार्मिकता तथा प्रगाढ़ सुकुमारता से चित्रित हुए है कि प्रतीत होता है कि यह अंक मानो शब्दनिर्मित मानव-हृदय ही हो।

करुणा की यह भावना पाँचवे अंक के हंसपदिका के गीत से तीव्रतर हो जाती है। इस अंक मे नाटक का कथानक शकुन्तला के प्रत्याख्यान से अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। यदि चौथा अंक अधिक कवित्वमय है तो पाँचवाँ अंक अधिक नाटकीय है। दुर्वासा का शाप कार्यरूप में परिणत हो चुका है। पर शकुन्तला ने न पहचाने जाने की दशा में अपनी अँगूठी पर ही सारी आशाएँ लगा रखी हैं। फिर हम देखते हैं कि इस अंक में एक प्रेमी पति पूर्णतया अपरिचित बन जाता है, और उसकी गर्भवती पत्नी उससे शरण और आश्रय की याचना करती है। एक ओर बेचारी शकुन्तला का अपने प्रेमी की स्मृति जाग्रत करने का करुण प्रयास और दूसरी ओर राजा का राजोचित गर्व और निर्मम व्यवहार है! शारद्वत राजा के प्रति शकुन्तला की ओर से जो उत्तेजनात्मक शब्द कहता है, उससे शकुन्तला की निःसहाय स्थिति का आभास और भी तीव्र हो जाता है। अन्त में शकुन्तला को एक दिव्य ज्योति उठा ले जाती है।

छठे अंक के 'प्रवेशक' में कवि ने पुलिस-अधिकारियों और धीवर के बीच वार्तालाप द्वारा लोक-जीवन का कैसा वास्तविक और स्वाभाविक चित्रण किया है! छठा अंक पाँचवें अंक का ही परिणाम है, जो प्रत्यभिज्ञान—अँगूठी—की उपलब्धि से आरम्भ होता है। उसमें दुष्यन्त के अपनी प्रियतमा के प्रत्याख्यानजनित मानसिक परिताप का प्रगाढ़ अंकन है। समुद्र-वणिक् की मृत्यु की घटना से राजा का अपनी प्रियतमा के प्रति आग्रह हटकर अपने पुत्र के प्रति हो जाता है, और यह भी दर्शनीय है कि पुत्र के अभाव-ज्ञान से ही प्रियतमा का प्रत्यभिज्ञान होता है। यह करुण दृश्य मातलि-विदूषक के संवाद द्वारा अकस्मात्-आश्चर्य, क्रोध और विनोद के दृश्य में परिणत हो जाता है।

अन्तिम अंक का घटना-स्थल पृथ्वी के उपरिवर्ती लोकों में है। मारीच आश्रम की अलौकिक पवित्रता और सुन्दरता के बीच चरम नाटकीय अवस्था का शनैः-शनैः उद्घाटन होता है— राजा का अपने पुत्र और पत्नी से मिलन होता है।

ऋषि और उनकी पत्नी राजा और कुटुम्ब पर आशीर्वाद की वृष्टि करते हैं—ऐसे पावन और शान्त वातावरण में नाटक समाप्त होता है।

'शाकुन्तल' की भाषा अत्यन्त प्रांजल, परिमार्जित, परिष्कृत और प्रसादपूर्ण है। उसमें क्लिष्टता या दूरान्वय का दोष नहीं। बीच-बीच में ऐसे चुस्त और मुहावरेदार वाक्यों का प्रयोग हुआ है, जिनसे भाषा में एक अपूर्व सजीवता आ गई है। उदाहरण के लिए जब अनसूया प्रियंवदा से यह कहती है कि दुर्वासा के शाप की बात शकुन्तला के कानों तक न पहुँचने पाये, तब प्रियंवदा उत्तर देती है—'क इदानीमुष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति'—'भला कौन ऐसा होगा जो जुही की लता को खौलते जल से सींचेगा?' इसी प्रकार के कुछ चुने हुए वाक्य नीचे दिये जाते हैं—'अयि आत्मगुणावमानिनि, क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति'। आशंक से यदग्नि तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्।' 'हला, पश्य नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारौति दुष्करमहं करोमीति'। 'किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशांकलेखामनुवर्तेते'। 'दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनिवेशः। सागरं वर्जयित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति। क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते'। 'एष नाम अनुग्रहो यत् शूलादवतार्य हस्तिस्कंधे प्रतिष्ठापितः'। 'हा धिक्, हा धिक्, सति खलु दीपे व्यवधानदोषेण एषोऽन्धकारदोषमनुभवति।' 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'। 'सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावपि युवामारण्यकौ।' 'क इदानीमन्यो धर्मकंचुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।'

कालिदास ने प्रत्येक पात्र के मुख से उनके अनुरूप ही कथोपकथन कराया है। यज्ञ-यागादि तथा अध्यापन-कार्य में सदा संलग्न रहनेवाले महर्षि कण्व के मुख से ऐसी ही उक्तियाँ निकलती हैं जो उनके पद सर्वथा अनुरूप हैं। दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के गांधर्व-विवाह का अनुमोदन करते हुए वे कहते हैं—'दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिःपतिता'—'हर्ष है कि धूम से आकुल दृष्टिवाले यजमान की आहुति अग्नि में ही गिरी।' शकुन्तला को विदा करते समय कण्व कहते हैं—'वत्से सुशिष्यपरिदत्तेव विद्याऽशोचनीयासि संवृता'— 'बेटी, सुपात्र शिष्य को दी गई विद्या के समान तू भी सर्वथा अशोच्य है।' विदूषक की उक्तियों में प्रायः उसके पेटूपन की ही झलक मिलती है। कण्व के आश्रम में शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के बढ़ते हुए आकर्षण को देख वह कहता है कि 'पके खजूर के मीठे फलों से ऊबकर जैसे कोई इमली चखने की इच्छा प्रकट करे, वैसे ही आप भी अन्तःपुर की रानियों के सौन्दर्य से परितृप्त होकर इस मुनिकन्या के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं।'

'शाकुन्तल' में कालिदास की शैली का अत्यन्त विकसित एवं परिष्कृत रूप देख पड़ता है। शब्दों का सुकुमार विन्यास, छन्दों का स्वर-माधुर्य तथा सूक्ष्म व्यंजन-

वृत्ति, इन विशेष गुणों के कारण कालिदास की शैली में अपूर्व रमणीयता आ गई है। 'शाकुन्तल' की रम्य कल्पना के लिए यह शैली सर्वथा अनुरूप है। शकुन्तला के सौन्दर्य-वर्णन में उनकी मसृण पदावली का नमूना देखिये—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

'सिवार की घास में लिपटा हुआ भी कमल अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता है। काले धब्बों से युक्त होने पर भी चन्द्रमा की शोभा कम नहीं होती। इसी प्रकार वल्कल वस्त्र धारण करने पर भी यह शकुन्तला अधिक मनोहर लग रही है। सच है, सुन्दर आकृतिवालों के लिए कौन-सी वस्तु शोभावर्धक नहीं हो जाती?'

उपमा कालिदासस्य—सुन्दर उपमाओं का तो 'शाकुन्तल' भंडार ही है। इसमें १८० उपमाएँ प्रयुक्त हुई हैं। कण्व के आश्रम में शकुन्तला के अप्रतिम एवं अनवद्य सौन्दर्य का प्रथम साक्षात्कार कर दुष्यन्त अपना हृद्गत उद्गार प्रकट करते हैं—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥२॥१०

'अहा! यह वह कमनीय कुसुम है जिसे सूंघने का सौभाग्य कभी किसी को प्राप्त नहीं हुआ; यह वह सुकुमार नूतन किसलय है जिस पर किसी के नाखून की खरोंच नहीं लगी, यह वह रत्न है जो अभी तक विंधा नहीं है; यह वह ताजा मधु है जिसे अभी तक किसी ने चखा नहीं। न जाने विधाता किसे पूर्वजन्म के समस्त पुण्यों के सारभूत इस निष्कलंक सौन्दर्य का उपभोग करनेवाला बनाएगा?' वल्कलधारिणी शकुन्तला सिवार में लिपटे हुए कमल के समान है। दुष्यन्त के दरबार में कण्व के जटाधारी तापस शिष्यों के बीच लावण्यवती शकुन्तला ऐसी प्रतीत होती है जैसे पीले सूखे पत्तों के बीच कोई नूतन सुकुमार किसलय। दरबार में सामने खड़ी आपन्नसत्वा शकुन्तला के अलौकिक रूपलावण्य को देख दुविधा में पड़े दुष्यन्त की वही दशा हो रही है जो उस भ्रमर की होती है, जो प्रातःकाल तुषार-बिन्दुगर्भित कुन्दकलिका का न तो मकरन्द ही पान कर सकता है और न उसे छोड़ अन्यत्र ही जा सकता है। स्वभावोक्ति भी 'शाकुन्तल' की शैली का प्रमुख लक्षण है। पहले अंक में भागते हुए भय-विह्वल मृग का (१।७), रथ के अश्वों की द्रुतगति का (१।८) तथा तपोवन का (१।१४) वर्णन स्वभावोक्ति के प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

कालिदास की शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें किसी भाव का बहुत लम्बा-चौड़ा वर्णन न करके उसकी सूक्ष्म एवं मार्मिक व्यंजना-मात्र कर दी जाती है। दुष्यन्त जब पहले-पहल शकुन्तला को देखते हैं, तब अपने हृद्गत भावों का विशद वर्णन करने के स्थान पर केवल एक वाक्य में अपने आनन्दातिरेक को व्यंजित करते हैं—'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम् ।' दुष्यन्त और शकुन्तला का जो प्रेमालाप है, वह बहुत ही संक्षिप्त है। उसका अधिकांश आभास और इंगित द्वारा ही व्यक्त हुआ है। 'दुष्यन्त जब तपोवन से राजधानी को लौटकर शकुन्तला की कुछ खोज-खबर नहीं लेते, तब ऐसे अवसर पर विलाप-कलाप, परिताप-संताप के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ लिखा जा सकता था, परन्तु शकुन्तला के मुख से कवि ने कुछ भी नहीं कहलाया। केवल दुर्वासा के आतिथ्य के प्रति उसकी अनवधानता से ही हम हतभागिनी की अवस्था की कल्पना कर सकते हैं। जिस समय शकुन्तला पति-गृह को जाने लगी, उस समय कण्व का एकान्त स्नेह कैसे कारुणिक, गम्भीर, संयत और परिमित शब्दों में प्रकाशित हुआ है। अनसूया और प्रियंवदा की सखी विच्छेद-वेदना प्रतिक्षण दो-चार शब्दों में ही सीमोल्लंघन की चेष्टा कर रही है, पर भीतर-ही-भीतर तुरन्त दब जाती है। प्रत्याख्यान के समय भय, लज्जा, अभिमान, अनुनय, भर्त्सना, विलाप सभी कुछ हैं, पर कितने परिमित शब्दों में ! जिस शकुन्तला ने सुख के समय, सरल भाव से संशयरहित होकर, अपने को भुला दिया था, दुःख के समय जब दारुण अपमान होने लगा, तब वही अपनी हृदय-वृत्ति की अप्रगल्भ मर्यादा को इस प्रकार आश्चर्यजनक संयम से रक्षित कर सकेगी, यह कौन सोच सकता था ? इस प्रत्याख्यान के बाद की नीरवता कैसी व्यापक और कैसी गम्भीर है। कण्व नीरव, अनसूया और प्रियंवदा नीरव, मालिनी तीरवर्ती तपोवन नीरव और सर्वापेक्षा नीरव रही शकुन्तला ! हृदय-वृत्ति को आलोडित कर प्रकाशित करने का ऐसा सुअवसर और किसी नाटक में इस प्रकार नीरव भाव से उपेक्षित हुआ है ?'[१] 'शाकुन्तल' के समान ऐसा प्रशान्त-गम्भीर और संयम संपूर्ण नाटक शेक्सपियर की नाटकावलि में एक भी नहीं देख पड़ता।

'शाकुन्तल' में कई स्थलों पर इसी ध्वन्यात्मक शैली का आश्रय लेकर भविष्य की घटनाओं की ओर सूक्ष्म संकेत हुआ है। प्रस्तावना में ग्रीष्म-ऋतु के वर्णन—'दिवसाः परिणामरमणीयाः'—से नाटक के सुखद अंत की सूचना मिलती है। नटी के गायन (१।४) में 'शिरीष कुसुम' का सकेत शकुन्तला की ओर, 'भ्रमर' का दुष्यन्त की ओर तथा 'ईषदीषच्चुम्बितानि' का नाटक के पूर्वार्ध में दुष्यन्त और शकुन्तला के अल्पस्थायी मिलन की ओर है। सूत्रधार की 'आर्ये, सम्यगनुबोधितोस्मि। अस्मिन

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर—प्राचीन साहित्य, पृ० ५५, ५६

क्षणे विस्मृतं खलु मया तद्' इस उक्ति से दुष्यन्त का शकुन्तला को भूल जाना और फिर अँगूठी देखने पर उसे स्मरण करना सूचित होता है। धनुर्बाणधारी राजा को जब 'भो भो. राजन् आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः' यह निषेध किया जाता है, तब मृगतुल्या शकुन्तला पर राजा के दारुण, प्रणय-बाण-प्रहार की भी सूचना मिल जाती है। प्रणय-व्यापार मे राजा परिपक्व और कठिन हैं और इस आश्रम-पालिता बालिका की अनभिज्ञता और सरलता बड़ी ही सुकुमार और करुणापूर्ण है। 'क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलम्' जैसे कातर वाक्यों से मृग रक्षणीय बतलाये जाते हैं, वैसे ही शकुन्तला भी है, क्योंकि दोनों अरण्यवासी हैं—'द्वावपि युवामारण्यकौ।' भ्रमरवाली घटना से शकुन्तला का दुष्यन्तरूपी मधुकर से दंशित होना आभासित होता है। जब दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रणय प्रगाढ़ होने लगा, तब नेपथ्य से अचानक एक आर्त-रव सुनाई पड़ा कि हे तपस्वियो, अपने तपोवन के प्राणियों की रक्षा करो, मृगयाविहारी राजा दुष्यन्त आ पहुँचा।' इससे क्या यह ध्वनित नहीं होता कि तपोवन के प्राणियों में शकुन्तला भी एक है, उसकी भी दुष्यन्त के प्रणयपाश से रक्षा करनी आवश्यक है, पर, खेद, वह बच न सकी, बचाई न जा सकी। कण्व-शिष्य द्वारा किया गया प्रभात-वर्णन (४।२-३) दार्शनिकता से भरा होने पर भी शकुन्तला के भावी प्रत्याख्यान का कैसा सूचक है। कालिदास की ध्वन्यात्मक शैली का एक और सुन्दर उदाहरण पाँचवें अंक का हंसपदिक गीत है, जिसमें शकुन्तला के निकट भावी प्रत्याख्यान की ओर बड़ा ही सूक्ष्म और सुकुमार संकेत हुआ है। इस गीत से यह स्वतः प्रकट है कि बहुवल्लभ राजा की ऐसी अनेक सुखलब्ध-प्रेमिकाएँ हैं जो क्षणिक सौभाग्य की स्मृति लेकर ही अनादर के अन्धकार में अनावश्यक जीवन बिता रही हैं—'सकृत्कृतप्रणयोऽयंजनः।' राजा के इस चपल प्रणय का परिचय देकर कवि ने अपने निपुण कौशल द्वारा यह प्रकट किया है कि दुर्वासा के शाप से जो घटना घटी है, उसका बीज राजा के स्वभाव में भी विद्यमान था। इस प्रकार हंसपदिका का सरल और करुण संगीत शकुन्तला के प्रत्याख्यान के क्रूर कांड की भूमिका बन गया। अन्तिम अंक में मातलि और दुष्यन्त का इन्द्र के स्वागत-सत्कार का स्मरण कर पुलकित चित्त होना राजा के सन्निकट प्रिया-समागम-जन्य हर्षातिरेक का ही द्योतक है। इस प्रकार कालिदास किसी घटना-विशेष के लिए अपनी ध्वन्यात्मक शैली द्वारा उपयुक्त वातावरण पहले से ही उत्पन्न कर देते हैं।

कलाओं का विनियोग—'शाकुन्तल' में संगीत, चित्रकला आदि ललित कलाओं का यथास्थान आकर्षक प्रयोग हुआ है। उसमें ऐसे अनेक भावपूर्ण स्थल हैं, जिन पर उत्कृष्ट कोटि के चित्र बनाये जा सकते हैं। 'शाकुन्तल' के प्रथम अंक में 'उद्भिन्न यौवना ऋषिकन्या कौतुकाकुल दोनों सखियाँ, नवकुसुमिता वनतोषिणी,

सौरभ-भ्रांत मूढ़ भ्रमर और तरु-लता-तरालवर्ती मुग्ध राजा इन सब ने तपोवन के एक एकांत प्रांत का आश्रय लेकर एक अभूतपूर्व दृश्य खड़ा कर दिया गया है।' कालिदास के चित्रकलावैदग्ध्य का एक नमूना देखिये। शकुन्तला के स्वरचित अधूरे चित्र को देख दुष्यन्त कह रहे हैं कि अभी इस चित्र में इन बातों की कमी रह गयी है—

> कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
> पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
> शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
> शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम ।।६।१७

'इस चित्र मे एक तो मालिनी नदी का दृश्य होना चाहिए, जिसके रेतीले तट पर हंसों के जोड़े बैठे हों। उनके समीप ही हिमालय की पावन उपत्यका का दृश्य हो जहाँ हिरन बैठे हुए जुगाली कर रहे हों। फिर एक विशाल वृक्ष हो, जिसकी शाखाओं पर सूखने के लिए वल्कल-वस्त्र लटक रहे हों और जिसके नीचे एक काले मृग के सींग से उसकी सहचरी हरिणी अपनी बाईं आँख की कोर धीरे-धीरे खुजला रही है।'

प्रकृति पात्र के रूप में—'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में दुष्यन्त और शकुन्तला, अनुसूया और प्रियंवदा की भाँति कण्व के तपोवन की प्रकृति भी एक विशेष पात्र बन गई है। मूक प्रकृति को नाटक के भीतर प्रधान और आवश्यक स्थान दिया गया है। पर दर्शनीय तो यह है कि प्रकृति को मनुष्यरूप में चित्रित कर उसका रूपकात्मक वर्णन नहीं किया गया है, प्रत्युत प्रकृति को प्रकृति रखकर ही उसे ऐसा सजीव, ऐसा प्रत्यक्ष, ऐसा व्यापक और ऐसा अंतरंग बनाकर नाटक के इतने कार्य सिद्ध कराये गये हैं, जो अन्यत्र नहीं देखे जाते। बाह्य प्रकृति ने 'कभी तो शकुन्तला की यौवन लीला को अपना लोला-माधुर्य अर्पण किया है। और कभी अपना कल्याण-मर्मर मंगल आशीर्वाद के साथ मिश्रित किया है, कभी तो विच्छेदकालीन व्याकुलता से शकुन्तला की विदाई के समय, अपनी मूक भाषा को करुणापूर्ण कर दिया है, और कभी अपने अपूर्व मन्त्र-बल से शकुन्तला के चरित्र में एक प्रकार की पवित्र निर्मलता, एक स्निग्ध माधुर्य की किरणें व्याप्त कर दी हैं।' इस प्रकार 'शाकुन्तल' में वृक्ष-लता, पशु-पक्षी सब आत्म-स्वरूप की रक्षा करते हुए भी मनुष्य के साथ मधुर आत्मीय भाव के घुल-मिल गये हैं।

'शाकुन्तल' में अंतःप्रकृति और बाह्य-प्रकृति दोनों का यह सुन्दर सामंजस्य नाटक के प्रारम्भ से ही स्पष्ट देख पड़ता है। प्रस्तावना में नटी के गायन में—

> ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
> अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ।।१।४

मनुष्य की प्राकृत तथा अल्पस्थायी कामुकता की झाँकी प्रकृति के प्राणियों की चेष्टाओं में दिखाई गई है। भ्रमर का शिरीष-पुष्प की मनोहरता से आकृष्ट हो एक क्षण के लिए उसका रस लेकर उसे छोड़ देना उसी प्रकार है जिस प्रकार दुष्यन्त का शिरीष-सुकुमार शकुन्तला से कुछ समय तक प्रणय कर उसे भूल जाना। बाह्य-प्रकृति और मानव-मनोभावों का सुन्दर सामंजस्य चौथे अंक में अपूर्व रूप से प्रस्फुटित हुआ है। प्रोषितभर्तृका शकुन्तला की दशा का प्रकृति के साथ कैसा मार्मिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥४।३

'चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर कुमुदिनी अब नेत्रों को आनन्द प्रदान नहीं करती। उसकी शोभा की केवल स्मृति रह गई है। सच है, प्रियतम (दुष्यन्त) के प्रवास के कारण अबला (शकुन्तला) की मनोव्यथा अवश्य ही असह्य हो जाती है।' शकुन्तला को विदा करते समय महर्षि कण्व तपोवन के तरुओं को सम्बोधन करके कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।

'जो आप लोगों को सींचकर जब तक पानी नहीं पिला लेती थी तब तक स्वयं कभी जल नहीं ग्रहण करती थी, जो अत्यधिक शृंगार-प्रिय होने पर भी आप लोगों के प्रति स्नेह होने के कारण अभी कोई किसलय या कोंपल नहीं तोड़ती थी, जो आपके पहले फूलों को देखकर आनन्द से नाच उठती थी, वह शकुन्तला आज अपने पति के घर जा रही है। आप सब उसे जाने की अनुमति प्रदान करें।' चेतन और अचेतन सभी के साथ ऐसी आंतरिक आत्मीयता, ऐसी प्रीति और ऐसा कल्याण का बन्धन अन्यत्र दुर्लभ है। शकुन्तला के जाने से सारा तपोवन व्याकुल हो रहा है—

उद्गलितदर्भकवलाः मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥४।१२

'हरिणियों के मुख से अधचबाई घास गिर पड़ती है। मोर नाचना बन्द कर देते हैं। लताएँ गिरते हुए सूखे पत्तों के बहाने आँसू बहा रही हैं।' शकुन्तला अपनी नवज्योत्स्ना नामक लताभगिनि का स्नेहपूर्वक आलिंगन करती है। आश्रम की गर्भिणी मृगी का प्रसव-संवाद भेजने के लिए वह कण्व से साग्रह प्रार्थना करती है। शकुन्तला का प्यारा

मृगशावक उसका वस्त्र पीछे से खींचकर उसे रोक रहा है। शकुन्तला को जाते देख कण्व का गला रुँध जाना सहज है, प्रियंवदा और अनसूया की विह्वलता भी बोधगम्य है, परन्तु अंतःकरण की करुण दशा को व्यक्त करनेवाली प्रकृति की यह मूक वाणी अभूतपूर्व है।

विनोद-हास्य—'शाकुन्तल' में शिष्ट हास्य तथा परिष्कृत परिहास का भी मनोहर पुट देख पड़ता। शकुन्तला अनसूया से कहती है कि प्रियंवदा ने मेरी कंचुकी बहुत तंग बाँध दी है, इसलिए जरा उसे ढीला कर दो। इस पर परिहास-प्रिय प्रियंवदा कहती है कि तुम मुझे क्यों दोष देती हो, अपने यौवन को उलाहना दो जिसने तुम्हारे उरोजों का विस्तार कर दिया। द्वितीय अंक के प्रारम्भ में विदूषक का मृगया-वर्णन बड़ा ही रोचक एवं विनोदपूर्ण है। सेनापति जब राजा के सामने मृगया के गुणों की प्रशंसा करता है, तब विदूषक उसे फटकारता हुआ उत्तर देता है—'**अपेहि रे उत्साहहेतुक ! अत्रभवान् प्रकृतिमापन्नः । त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नर-नासिकालोलुपस्य जीर्णर्क्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि ।**' 'दूर हटो, बड़े उत्साह बढ़ानेवाले आये, महाराज ! अब शान्तचित्त हैं। जाओ, तुम्हीं जंगल-जंगल भटकते फिरो और किसी बूढ़े भालू के मुख का शिकार बनो, जो आदमी की नाक चट करने को हमेशा तरसा करता है।' छठे अंक में जब बसन्त की आम्र-मञ्जरी को विरहपीड़ित दुष्यन्त मदन-बाण कहते हैं, तब मन्दबुद्धि विदूषक लाठी लेकर उन मदनबाणों का नाश करने के लिए दौड़ पड़ता है ! यह देखकर दुःखी राजा भी अपनी हँसी नहीं रोक सकते। इसी अंक के 'प्रवेशक' में धीवर तथा पुलिस के अधिकारियों में बड़ा विनोदपूर्ण कथोपकथन हुआ है।

चरित्राङ्कन कला—कालिदास का चरित्र-चित्रण आदर्शोन्मुख होते हुए भी सर्वथा स्वाभाविक और सजीव है। उसमें कहीं कृत्रिमता का लेश भी नहीं। नाटक के नायक और नायिका कवि की लेखनी का स्पर्श पाकर अमर हो गये हैं। दुष्यन्त धीरोदात्त नायक हैं। उनको मनोहर तथा गम्भीर आकृति है। वे प्रभाववान् और मधुरभाषी हैं—'**चतुरगम्भीराकृतिश्चतुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते ।**' वे बलिष्ठ एवं पराक्रमशाली हैं (२।४; ३।१), साथ ही विनय से शोभित हैं। वे ललित कलाओं के मर्मज्ञ हैं। हंसपदिका के संगीत को सुनकर यह कहना—'**अहो रागपरिवाहिनी गीतिः**'—उनकी संगीत-कलाभिज्ञता का परिचायक है। प्रकृति पर्यवेक्षण-शक्ति भी उनमें खूब है (७।८)। वे एक कुशल चित्रकार हैं (६।१७)। ऋषि-मुनियों तथा आश्रमों के प्रति उनके हृदय में अगाध सम्मान है। उनकी गम्भीरता शार्ङ्गरव की कटूक्तियों से भी स्खलित नहीं होती। जैसा उनका मनोरम बाह्य रूप है, वैसा ही स्निग्ध, ललित एवं सुसंस्कृत स्वभाव भी है। यह उनके शकुन्तला के साथ प्रणय-सम्भाषण से प्रकट

होता है। 'आश्रमललामभूता' शकुन्तला के अनुपम रूप-लावण्य को देख उनकी ओर उनका आकृष्ट होना स्वाभाविक था। किन्तु एक भद्र पुरुष की भाँति उन्होंने यह जान लेना नितान्त आवश्यक समझा कि उसका विवाह हो चुका है या नहीं। उसके साथ प्रेम करना धर्मसंगत है या नहीं (१।२०), यह जान लेने के बाद ही वे उस पर अनुरक्त होते हैं (१।२५)। कालिदास के अन्य नाटकों के नायकों के समान दुष्यन्त भी बहुपत्नीक हैं, पर शकुन्तला के प्रति उनका प्रेम वास्तविक और निश्छल है (३।१८)।

किन्तु दुष्यन्त एक मनुष्य हैं और उनमें मानवोचित दुर्बलताएँ भी हैं। नाटक के पहले भाग (अंक १-३) में उनका पतन हुआ है, द्वितीय भाग (४-५) में उठने की चेष्टा और तृतीय भाग में (६-७) में उनका उत्थान हुआ है। दुष्यन्त के चरित्र का महत्त्व इसी पतन और उत्थान में है। मृगया के लिए घूमते हुए आश्रम में प्रवेश करने के बाद शकुन्तला को देखकर, जहाँ तक सम्भव था, उनका पतन हुआ। लुक-छिपकर वयस्क कन्याओं की विनोद भरी क्रीड़ाएँ देखना, अपना मिथ्या परिचय देना, देखते ही शकुन्तला को उपभोग के योग्य नारी समझ लेना, माता की आज्ञा पर ध्यान न देना, विदूषक को छल से राजधानी भेज देना और उससे असत्य बोलना (२।२८), विवाह के बाद कण्व मुनि के आने से पहले ही हस्तिनापुर चले जाना आदि उनके ऐसे कार्य हैं जो उनकी मानवोचित दुर्बलता के परिचायक हैं। राजधानी में आकर शकुन्तला को भूल जाना उनके पतन की चरम-सीमा है। किन्तु इसके बाद कवि ने बड़े कौशल से उन्हें ऊपर उठाया है। किसी भी सुन्दर स्त्री को देखकर मोहित हो जाने की मधुकर-वृत्ति उनमें नहीं है—'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्', 'अनार्यः परदार-व्यवहारः'। उनकी असाधारण धर्मपरायणता का परिचय पाँचवें अंक में मिलता है। एक असाधारण रूपवती युवती उनसे पत्नी-भाव की भिक्षा माँग रही है। एक ओर अलौकिक रूप है, ऋषि का क्रोध है, नारी का अनुनय-विनय है; दूसरी ओर धर्म का भय है। राजा के इस दृढ़ व्रत को देखकर कंचुकी विस्मित होकर कह उठा है—'अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः! ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति।'

छठे अंक में हम देखते हैं कि शकुन्तला के साथ परिणय का वृत्तान्त दुष्यन्त को याद हो आया है। दुखी होकर वे राज्य भर में वसन्तोत्सव बन्द करा देते हैं। रमणीय वस्तुएँ उन्हें नहीं भातीं (६।५), पर इतने शोक में भी वे अपने कर्त्तव्य को नहीं भूले हैं। न्याय और धर्म के अनुसार वे राज्य-कार्य में संलग्न हैं।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥

राजा की इस आज्ञा में 'उनके शोक, उनके धर्म-ज्ञान, उनके कर्त्तव्य और स्नेह, उनके वर्तमान और अतीत का अपूर्व संयोग है।' वणिक् धनमित्र की पुत्रहीनता और उसकी

विधवाओं का शोक राजा की अपनी पुत्रहीनता और शोक में आकर मिल गया। सातवें अंक में राजा और ऊपर उठते हैं। हेमकूट पर्वत पर उनकी पुत्र-वत्सलता का परिचय हमें मिलता है (७।१७)। शकुन्तला से मिलकर वे 'महाभारत' के दुष्यन्त के समान गर्वपूर्वक यह नहीं कहते—

यच्च कोपितयाऽत्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये।
प्रणयिन्या विशालाक्षि तत्क्षान्तं ते मया शुभे॥

अपितु उसके पैरों पर गिरकर क्षमा-याचना करते हैं। सम्पूर्ण नाटक को पढ़ने के बाद अन्त में हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि 'दुष्यन्त कोरे कामुक नहीं हैं, वे प्रेमी हैं, पुत्र-वत्सल हैं, कवि हैं, चित्रकार हैं और कर्तव्यपरायण राजा भी हैं। उनका चरित्र महान् है, सुन्दर है, किन्तु कवि ने चन्द्र के कलंक को नहीं पोंछा।'

निसर्गकन्या शकुन्तला—शकुन्तला का चरित्र-चित्रण करने मे कवि ने अपनी सारी प्रतिभा का उपयोग किया है। उसका अतुलनीय सौंदर्य मोहक होने के साथ नैसर्गिक भी है (अव्याजमनोहरं वपुः)। महर्षि कण्व के आश्रम की वह मानो साक्षात् वनश्री है। उसका मधुर चरित्र अरण्य की छाया और माधवी लता की पुष्पमंजरी के साथ व्याप्त और विकसित हुआ है, पशु-पक्षियों के अकृत्रिम सौहार्द से अत्यन्त आकृष्ट हुआ है। प्रकृति की गोद में पलकर उसकी हृदय-लतिका ने चेतन-अचेतन सभी को स्नेह के ललित बंधन से बाँध रखा है। पिता कण्व के प्रति उसके हृदय में [illegible] प्रेम है। प्रियंवदा और अनसूया तो उसके प्राणों में घुल-मिल गई हैं। [illegible] वह सर्वथा अनभिज्ञ थी। पर दुष्यन्त की धीरगम्भीर आकृति, मधुर भाषण और असामान्य पराक्रम से उसके मन में एक अनुभूत प्रेम-विकार उत्पन्न होता है— 'किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृता।' स्वाभाविक लज्जा के कारण उसने अपना प्रेम-विकार सखियों पर प्रकट नहीं किया। उनके बहुत आग्रह करने पर ही उसने अपनी मदन-व्यथा प्रकट की। अपने प्रिय सम्मुख भी वह लज्जा का परित्याग नहीं करती—'पौरव रक्ष विनयम्। मदनसंतप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि।' इससे उसका स्वात्माभिमान् तथा गुरुजनों के प्रति आदर की भावना प्रकट होती है।

'शकुन्तला तपस्विनी होकर भी गृहस्थ है, ऋषिकन्या होकर भी प्रेमिका है, शांति की गोद में पली होने पर भी चपल है।' वह एक नारी है, और नारी-हृदय के प्रेम, उमंग और उच्छ्वास की उसमें पर्याप्त मात्रा है। दुष्यन्त की भाँति उसके चरित्र का महत्व उसके पतन और उत्थान में है। उसका प्रायश्चित उसके प्रत्याख्यान से शुरू होता है और विरहव्रत से पूर्ण होता है। उसका प्रथम प्रेम उद्दाम और प्रबल था।

वानप्रस्थी बनकर तपस्या करने के लिए वन में चले जाते थे। नृपतिगण भयग्रस्त मनुष्यों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे। राजा प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था।[१] दुष्यन्त की प्रजा में निम्नवर्ग के लोग भी कुमार्गगामी नहीं थे (५।१०)। राजा सदैव प्रजाहित में तत्पर रहता था।[२] राजा को प्रजा की आय का छठा भाग कर-रूप में लेने का अधिकार था। इसीलिए वह 'षष्ठांशवृत्ति' (५।४) कहलाता था। न्याय निष्पक्ष होने पर भी कठोर नहीं था। धनी व्यापारी धनमित्र के निःसन्तान मरने पर राजनियमानुसार उसकी सारी सम्पत्ति राजा की थी। किन्तु निर्लोभी और दयालु राजा ने उसकी गर्भवती विधवा को वह सम्पत्ति दे देने की आज्ञा दी। अपनी वृद्धावस्था में राजा अपने पुत्र को राज्य सौंपकर स्त्री-सहित किसी आश्रम में जाकर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करते थे (४।१९)। कैदी को या अपराधी को मारने के लिए उस समय भी पुलिस के अधिकारियों के हाथों में खुजली उठा करती थी। रिश्वत लेने में भी वे लोग खूब अभ्यस्त थे।

कालिदास ने तत्कालीन पारिवारिक एवं सामाजिक प्रथाओं का भी सजीव चित्र उपस्थित किया है। धनिक-वर्ग में तथा राजाओं में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। पुत्र का न होना दुर्भाग्य समझा जाता था। पुरुषों का स्त्रियों के प्रति शिष्ट एवं सभ्य व्यवहार होता था। उच्च कुल की महिलाएँ जनसमूह में परदा किया करती थीं। दुष्यन्त के दरबार में शकुन्तला 'अवगुण्ठनवती' होकर आई थी। पति के साथ गुरुजनों के सम्मुख जाने में स्त्रियाँ लज्जा का अनुभव करती थीं—'जिह्रेमि आर्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।' पति का पत्नी पर पूर्ण अधिकार होता था (५।२६)। कन्याओं का वयस्क होने पर विवाह होता था। लोग शकुन और अपशकुनों पर विश्वास करते थे। उस समय स्त्रियाँ शिक्षित हुआ करती थीं। प्रियंवदा और अनसूया दोनों साक्षर थीं। दुष्यन्त की अँगूठी पर अंकित नाम पढ़कर ही उन्हें उनके राजा होने की बात मालूम हुई। शकुन्तला ने अपने प्रेम-पत्र में अपना प्रणयभाव जिस मार्मिक ढंग से व्यक्त किया, उससे उसकी शिक्षा तथा भाव-प्रकाशनपटुता का परिचय मिलता है। लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त स्त्रियों को चित्रकला, संगीत, गृहकृत्य आदि उपयोगी विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियों के लिए प्राथमिक चिकित्सा का ज्ञान भी आवश्यक था। अपने प्यारे मृगशावक के घाव पर इंगुदी का तेल लगाकर शकुन्तला ने उसकी चिकित्सा की थी (४।१४)।

'शाकुन्तल' में उस समय के धार्मिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों की ओर भी

१. प्रजाः प्रजाः स्वा इव तंत्रयित्वा। ५।५
२. प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः। ७।३५

संकेत किया है। बुरे ग्रहों के शान्ति के लिए तीर्थ-यात्रा आदि मांगलिक कार्य संपन्न होते थे। राष्ट्र के जीवन में आश्रमों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। आश्रमों की रक्षा करना राजा का धर्म था। वहाँ जीव-हिंसा न होने का कड़ा नियम था। बालक-बालिकाओं दोनों की शिक्षा के लिए इन आश्रमों में समुचित प्रबन्ध था (५।१३)। आश्रमों का वायुमंडल पावन एवं रमणीय था। (१।१४; ७।११)। हेमकूट पर्वत पर स्थित मारीच-आश्रम के विषय में दुष्यन्त कहते हैं—'स्वर्गादधिकतरंनिर्वृत्तिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।' तपस्या के अद्भुत प्रभाव पर कालिदास ने स्थान-स्थान पर प्रकाश डाला है। 'शाकुन्तल' के अन्तिम पद्य में कवि ने सामाजिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों का अटूट सम्बन्ध दिखाते हुए आध्यात्मिकता को ऊँचा पद दिया है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिहतां महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

अमर सन्देश—'शाकुन्तल' की सबसे बड़ी विशेषता उसका अमर सन्देश है। शकुन्तला और दुष्यन्त प्रणय के प्रथम आवेश में विवाह कर लेते हैं, किन्तु प्रेम का वास्तविक मूल्य उन्होंने नहीं पहचाना था। इसलिए कवि को उन्हें एक पाठ पढ़ाना था—

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम्॥

'एकान्त की मित्रता बहुत विचार कर करनी चाहिये। नही तो जिसके हृदय को अच्छी तरह नहीं पहचाना, उसके प्रेम का पर्यवसान वैर में होता है।' प्रेमी-प्रेमिका को पश्चात्ताप और बियोग को करालाग्नि में हृदय-शुद्धि करनी पड़ती है, तब कहीं वे सच्चे स्नेह की सरिता तक पहुँचते हैं—'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।' कालिदास ने दुष्यन्त और शकुन्तला के बाह्य मिलन को कण्टकाकीर्ण मार्ग में ले जाकर आभ्यन्तरिक मिलन से सार्थक कर दिया है। कवि रवीन्द्र ने ठीक ही कहा है कि 'शकुन्तला के आरम्भ के सौन्दर्य ने मंगलमय परिणति से सफलता प्राप्त कर मर्त्य को अमृत के साथ सम्मिलित कर दिया है।' प्रसिद्ध जर्मन-कवि गेटे ने इस नाटक का अनुवाद पढ़कर जो उसकी प्रशंसा की है वह अक्षरशः ठीक है—

Wouldst thou the young years' blossoms
and the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed,
enraptures, feasted, fed ?
Wouldst thou the earth and heaven itself
in one sole name combine ?

I name thee, O Shakuntala, and all at
once is said.

इसका महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी-कृत सुन्दर संस्कृत रूपांतर देखिये—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ।।

'यदि यौवन-वसन्त का पुष्प-सौरभ और प्रौढ़त्व-ग्रीष्म का मधुर फल परिपाक एकत्र देखना चाहते हो, अथवा अंतःकरण को अमृत के समान संतृप्त एवं मुग्ध करने वाली वस्तु का अवलोकन करना चाहते हो, अथवा स्वर्गीय सुषमा एवं पार्थिव ऐश्वर्य इन दोनों के अभूतपूर्व सम्मिलन की अपूर्व झाँकी करना चाहते हो तो एक बार 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुशीलन करो।' महाकवि गेटे का यह पद्य आनन्द की अत्युक्ति भर ही नहीं है; यह रसज्ञ का विचार है, जो दीप-शिखा की भाँति सारे 'शाकुन्तल' को क्षण भर में उद्भासित कर देता है।

सौन्दर्य और प्रेम के कवि कालिदास—यों तो सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण संसार के सभी उत्कृष्ट कवियों ने किया है, फिर भी कालिदास ने इन दो विषयों के वर्णन में अपनी जिस असामान्य प्रतिभा का परिचय दिया है, वह उन्हें शृङ्गार-रस के कवियों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करती है। कालिदास की दृष्टि में सौन्दर्य को बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं (शा० १।१८)। वास्तविक सौन्दर्य सभी अवस्थाओं में मनोरम एवं रमणीय होता है। 'अहो सर्वास्व-वस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्'। उसकी चारुता उसके 'अक्लिष्ट कांति' होने में ही निहित है। कालिदास का मत है कि समस्त दृश्य प्रकृति में जो सौन्दर्य या रमणीयता फैली हुई है, मानवीय लावण्य उसी का अंगभूत है। इसलिए वे स्त्री-सौंदर्य की तुलना प्रकृति की लताओं और पुष्पों से करते हैं—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम् ।। शा० १।१९

'शकुन्तला का अधर कोमल किसलय के समान रक्तवर्ण है। उसकी सुकुमार भुजाएँ लता की कोमल शाखाओं के समान हैं। उसके अंगों में यौवन (उरोज) खिले हुए पुष्प के समान आकर्षक हैं।' जिस अनुपम सौंदर्य को अलंकृत करने के स्थान पर आभूषण स्वयं उससे अलंकृत होते हैं[1], प्रकृति के पुष्प उस सौंदर्य की शोभा में भी

---

१. आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ।। विक्रमोर्वशीय २।३

अभिवृद्धि अवश्य करते हैं। तभी तो अलका की रमणियाँ हाथ में लीलाकमल, केश-पाश में कुन्दकली, मुख पर लोध्र पुष्प का पराग, कानों में सुन्दर शिरीष-पुष्प और सिर की माँग में कदम्ब-पुष्प धारण किया करती थीं। कालिदास के अनुसार आकृति की सुन्दरता और हृदय की वक्रता दोनों साथ-साथ नहीं रह सकतीं—'न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति।' रमणी-रूप के वर्णन में कालिदास अद्वितीय हैं। निम्नलिखित पद्य में पार्वती की मुस्कराहट का क्या ही मनोरम वर्णन है—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥ कु० १।४४

'यदि जूही की कलियाँ चुनकर अरुण-वर्ण के कोमल किसलयों पर सजा दी जायँ, अथवा लाल-लाल मूँगों पर मोतियों के दाने तरतीब से बैठा दिया जायँ, तब कहीं जाकर पार्वती के अरुण अधरों पर खेलनेवाली मुस्कराहट की उपमा दी जा सकती है, अन्यथा नहीं।'

कालिदास ने मानव-सौंदर्य का ही वर्णन नहीं किया है, पशु-सौंदर्य का भी उन्होंने भव्य और हृदयग्राही चित्रण किया है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥ शा० १।७

'देखो यह मृग कैसे मनोहर ढंग से अपनी गर्दन मोड़-मोड़कर पीछे वेग से बढ़नेवाले इस रथ को बार-बार देखता जा रहा है। कहीं बाण आकर चुभ न जायँ, इस भय से यह अपने शरीर के पिछले हिस्से को समेटकर शरीर के अगले हिस्से में मानो घुसा जा रहा है। थकावट के कारण हाँफने से इसके खुले मुख से अधचबाई घास गिरती जा रही है। इसकी लम्बी-लम्बी छलाँगों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह हवा में तो अधिक और पृथ्वी पर कम ही चल रहा है।'

कालिदास की दृष्टि में नारी केवल उपभोग की वस्तु नहीं है। वह गृहिणी है, सचिव है, सखी है और है समस्त ललित कलाओं में निष्णात गृहस्वामिनी। कण्व के मुख से उन्होंने परिवार को भूषण अथवा दूषण बनानेवाली स्त्रियों का वर्णन कराया है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥ शा० ४।१८

'तुम गुरुजनों की सेवा करना, सौतों के साथ प्रिय सखियों के सदृश व्यवहार करना, पति के नाराज होने पर भी क्रोध के कारण विरुद्ध आचरण न करना, परिजनों के प्रति उदार भाव रखना और ऐश्वर्य का गर्व कदापि न करना। स्त्रियाँ ऐसे आचरण से ही गृहिणी पद पाती हैं। इसके विरुद्ध आचरण करनेवाली स्त्रियाँ कुल को रोग की तरह कष्ट पहुँचाने वाली होती हैं।'

कालिदास के अनुसार सुन्दर शरीर का सौंदर्य ही स्त्रियों का परम गौरव और चरम सौंदर्य नहीं है। इसीलिए; 'निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती', पार्वती ने मन-ही-मन अपने रूप की निन्दा, की फिर 'इयेषा सा कर्तुमवन्ध्य रूपताम्' उसने अपने रूप को सफल बनाने की चेष्टा की। कालिदास ने सौन्दर्य की परिणति प्रेम में मानी है—'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।' उन्होंने प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा माना है। काम का कर्त्तव्य से विरोध नहीं होना चाहिये, यह उनको सारी कृतियाँ घोषित कर रही हैं। शिव अर्थात् मंगल का विरोधी काम भस्मावशेष कर दिया जाता है। कालिदास ने प्रेम का मूलभूत कारण पूर्वजन्म का संस्कार माना है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांच निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ शा० ५।२

'सुन्दर वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों का सुनकर सुखी मनुष्य भी उत्कंठित हो जाता है। इसका कारण यह है कि वह किसी पूर्वजन्म में होनेवाली मैत्री का अज्ञात भाव से स्मरण करने लगता है। मन बिना किसी कारण के उस सौहार्द की ओर चला जाता है।' 'मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्' कहकर कालिदास ने रघुवंश (७ १५) में इसी सिद्धान्त को पुनः प्रतिपादित किया है। प्रेम की इतिश्री इसी जन्म मे नहीं हो जाती। परित्यक्ता सीता कहती है—'भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।'

प्रेमी-प्रेमिका के मधुर सम्बन्ध का कालिदास ने बड़ी सहृदयता से चित्रण किया है। पर प्रिया के विरह से बढ़कर संसार में और कोई उग्रतर दैव-दुर्विपाक नहीं हो सकता। विरही के लिए शीतल चन्द्रमा आग का गोला, उसकी किरणें वज्र के बाण बन जाती हैं—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥ शा० ३।३

कालिदास ने अपने नाटकों में स्त्रियों के प्रथम प्रेम तथा पुरुषों के अपर प्रेम

का दिग्दर्शन कराया है। इससे उनका अभिप्राय यह है कि स्त्रियों में प्रेम की कोमलता स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है, किन्तु पुरुषों में उसका प्रादुर्भाव वासना के वेग के शान्त होने पर होता है। कालिदास कहते हैं कि स्त्री में जब प्रेम की उद्भूति होती है, तब वह उसे शब्दों द्वारा नहीं बल्कि सुकुमार हावों द्वारा व्यक्त करती है— 'स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।' प्रेम-परवश किन्तु संकोचशील शकुन्तला के उदीयमान प्रेम का मधुर दृश्य देखिये—

दर्भाकुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥ शा० २।२२

'अवसर न होने पर भी पैर में कुश, काँटा लग जाने का बहाना करके, वह सुन्दरी कुछ दूर जाकर ठिठक गई और झाड़ी की शाखा में वल्कल वस्त्र न फँसने पर भी उसको छुड़ाने के बहाने वह मुझे बार-बार मुड़कर देखने लगी।'

जिस प्रेम में कोई बन्धन नहीं, कोई नियम नहीं, जो प्रेम अकस्मात् नर-नारी को मोहित करके संयम-दुर्ग के भग्न प्राचीर के ऊपर अपनी जय-पताका को गाड़ता है, उस प्रेम की शक्ति को कालिदास ने स्वीकार किया है, किन्तु उसके हाथ आत्म-समर्पण नहीं कर दिया। उन्होंने दिखलाया है कि जो असंगत प्रेम-संभोग हम लोगों को अपने अधिकार में कर लेता है, वह स्वाभिशाप से खण्डित, ऋषि-शाप से प्रतिहत और देव-रोष से भस्म हो जाता है। दुष्यन्त और शकुन्तला का बंधन-विहीन गोपन-मिलन चिरकाल तक शाप के अंधकार में लीन रहा। शकुन्तला को आतिथ्य धर्म का विचार नहीं रहा, वह दुष्यंत के ही ध्यान में मग्न रही। उस समय शकुन्तला के प्रेम का मंगल भाव मिट गया। दुर्वासा के शाप और शकुन्तला के प्रत्याख्यान द्वारा कवि ने यह सिद्ध किया है कि जो उन्मत्त प्रेम अपने प्रेमपात्र को छोड़ और किसी की कुछ भी परवाह नहीं करता, उसके विरुद्ध सारा संसार हो जाता है। इसी से वह प्रेम थोड़े ही दिनों में दुर्भर हो उठता है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि कालिदास ने भ्रमर-वृत्ति का पक्ष नहीं लिया है, प्रत्युत दाम्पत्य-प्रेम को ही महत्त्व दिया है। पर-स्त्री की ओर दृष्टिपात करना भी वे अनुचित समझते हैं। दुष्यन्त कहते हैं—

कुमुदान्येव शशांकः सविता बोधयति पंकजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥ शा० ५।२८

'चन्द्रमा केवल कुमुदों को तथा सूर्य केवल कमलों को विकसित करता है। संयमी पुरुषों का मन परस्त्री-प्रेम से सर्वथा विमुख रहता है।' 'कुमारसम्भव' के पाँचवें सर्ग में

कालिदास ने कहा है कि प्रेम का ज्वार लोकापवाद की परवाह नहीं करता—'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते'। इसका अर्थ यह नहीं है कि ये अमर्यादित प्रेम का समर्थन करते हैं। उनके नाटकों का कमनीय काव्य-सौंदर्य किसी वीभत्स घटना, आत्यन्तिक आवेश अथवा अस्वाभाविक व्यापार से आक्रान्त नहीं होता।

कालिदास के अनुसार प्रणय की सार्थकता विवाह में और विवाह की सार्थकता सन्तानोत्पत्ति के मांगलिक व्यापार में है। समूचा 'कुमारसम्भव' काव्य कुमार-जन्म-स्वरूप महाव्यापार की उपयुक्त भूमिका है। कामदेव के बाण-प्रहार से धैर्य नष्ट होकर जो मिलन होता है, वह पुत्र-जन्म के योग्य नहीं है। वह मिलन परस्पर की ही कामना करता है, पुत्र की कमना नहीं करता। इसी से कवि ने कामदेव को भस्म कराकर पार्वती द्वारा तपस्या कराई है। कुमार-जन्म की महिमा क्या है, यही स्पष्ट करने के लिए कवि ने कामदेव की रुद्र-रोषानल में आहुति देकर अनाथा रति का करुण क्रन्दन कराया है। 'शाकुन्तल' में भी प्रथम अंक में प्रेयसी के साथ दुष्यन्त का व्यर्थ प्रणय दिखाकर अंतिम अंक में भरत-जननी के साथ उसके सार्थक मिलन को अंकित किया है।

कालिदास का प्रकृति-वर्णन—कालिदास प्रकृति के प्रवीण पुजारी थे। उनके सजीव एवं विशद प्राकृतिक वर्णन हमारे कल्पना-चक्षु के सम्मुख एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर देते हैं। बाह्य दृश्यों के इस संश्लिष्ट एवं रूपयोजनात्मक चित्रण से उनके प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम का परिचय मिलता है। उनके प्रकृति-वर्णन में निरीक्षण की नवीनता, सहृदयता की सरसता तथा कल्पना की कमनीयता पाई जाती है। हाँ, यह अवश्य है कि उन्होंने प्रधानतया प्रकृति के केवल भव्य, मनोरम और सौंदर्य-समुज्ज्वल पक्ष का ही वर्णन किया है। प्रकृति के मधुर तथा कोमल पहलू का एक स्निग्ध चित्रण देखिये—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पंक्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरंगैः॥

रघुवंश १३।५४-५७

'हे निर्दोष अंगोंवाली सीते! जरा गंगा और यमुना के संगम को देखो।

तरंगों से मिलता हुआ गंगा का प्रवाह कितना सुन्दर प्रतीत होता है ! कहीं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि मोतियों की लड़ी में चमकीले नीलम पिरो दिये गये हों, कहीं ऐसा भान होता है कि श्वेत कमलों की माला में नील कमल बीच-बीच में गुँथे हों। कहीं नील हंसों की श्रेणी में आ मिलनेवाली मानस-प्रेमी उज्ज्वल हंसों की पंक्ति के समान, कहीं कालागुरु की चित्ररेखाओं से सुशोभित भूतल की चन्दन-चर्चित चित्रकारी के समान, कहीं वृक्षों की छाया में अन्धकार से मिलनेवाली धवल चन्द्रिका के समान, कहीं शरत्कालीन शुभ्र मेघखण्डों के अन्तराल से देख पड़ने वाले नील नभः-प्रदेश के समान और कहीं काले सर्पों से अलंकृत तथा भस्मांगराग से मण्डित भगवान् शंकर के शरीर के समान गंगा-यमुना के संगम का यह मनोहर दृश्य शोभित हो रहा है।' क्या ही अलंकृत, विशद एवं रमणीय वर्णन है।

कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रकृति और प्रेम का मधुर सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने प्रकृति को मुख्यतः एक प्रेमिका के रूप में देखा है। 'मेघदूत' का यक्ष अपनी प्रियतमा के अंगों की समता प्रियंगुलता में पाता है, चकित हरिणी की दृष्टि में उसके कटाक्षों का अनुभव करता है, चन्द्रमा में उसके मुख की शोभा निरखता है, मयूर-गुच्छों में उसके अलकों का अनुमान करता है तथा नदी की लोल लहरियों में उसकी भौंहों की छवि निहारता है। पवन के झकोरों से थिरकती लताओं के रूप में नर्तकियों का कैसा सुन्दर एवं सजीव चित्र उपस्थित किया गया है—

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलता पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥ रघु० ८।३५

'उपवन में लताएँ नाच रही हैं। भ्रमरों का श्रुति-मधुर गुञ्जार ही उनका मादक संगीत है। कोमल कुसुम कलियाँ उनके चमकते दाँत हैं। वायु के झकोरों से हिलते किसलय उनके सुकुमार पाणि-पल्लव हैं, जिनसे वे मानो बीच-बीच में ताल दे रही हैं।' चन्द्रमा अपनी प्रियतमा रजनी का चुम्बन कर रहा है—

अंगुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ कु० ८।६३

'चन्द्रमा अपनी किरण-रूपी सुकुमार अंगुलियों से रजनी के अंधकार-रूपी बिखरे केश-पाश को धीरे से समेटकर उसके अर्ध-मुद्रित कमल-रूपी नेत्रोंवाले मुखमण्डल का चुम्बन कर रहा है (श्लेष से, प्रदोष-काल का स्पर्श कर रहा है)।'

मानवीय सौन्दर्य का मापदण्ड प्राकृतिक सौन्दर्य ही है। पार्वती की हृदय-हारिणी आँखों की तुलना मृगी के नेत्रों से ही हो सकती है तथा उसके सौन्दर्य की समता पल्लवित लता से ही—

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ।। कु० ३।५४

'अरुणोदयकालीन बालसूर्य के समान रक्तवर्ण के वस्त्रों को धारण किये हुई तथा उरोजों के भार से झुकी हुई पार्वती पूजा करने के लिए जा रही है। जान पड़ता है कि फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लाल-लाल नये पल्लवों को धारण करनेवाली कोई लता चली जा रही हो।'

प्राकृतिक सौन्दर्य और मानवीय सौंदर्य इन दोनों में अपेक्षाकृत कौन श्रेष्ठ है, इस प्रश्न का निर्णय कालिदास की कृतियों में कठिनाई से होता है। एक ओर तो 'मालविकाग्निमित्र' में वे प्राकृतिक सौंदर्य की श्रेष्ठता स्थापित करते हैं—

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम् ।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम् ।। ३।५

'स्त्रियों के बिम्बा-सदृश अधरों की शोभा की अपेक्षा अशोक पुष्प का सौंदर्य कहीं अधिक श्रेष्ठ है। श्याम, शुभ्र और अरुण वर्णवाला यह कुरबक पुष्प उनके मुख पर चित्रित मकरिका-पत्र को मात कर रहा है। इस भ्रमर-चुंबित पुष्प के सामने उनके ललाट पर अंकित तिलक फीका पड़ जाता है। इस प्रकार यह मधुमास स्त्रियों की मुख-प्रसाधन-विधि की अवज्ञा कर रहा है।' दूसरी ओर 'कुमारसम्भव' में वे रमणी-रूपी को प्रकृति के सौंदर्य से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं—

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कंठपाशौ मकरध्वजेन ।। कु० १।४१

'मेरी सम्मति में पार्वती के दोनों हाथ शिरीष-पुष्प से भी अधिक सुन्दर हैं, क्योंकि कामदेव जब अपने पुष्प-बाणों से शिव को वश में न कर सका तब उसने उन्हीं भुज-लताओं को उनके कंठ का पाश बनाया।'

कालिदास ने प्रकृति को मूक, चेतनाहीन अथवा निष्प्राण नहीं माना है। मानव-प्राणियों की भाँति उसमें भी सुख-दुःख, संवेदना का भाव देख पड़ता है। 'मेघ-दूत' में जब यक्ष स्वप्न में अपनी पत्नी के दर्शन कर प्रसन्नता से आलिंगन करने के लिए अपनी भुजाएँ पसारता है, तब वन-देवताओं की आँखों से मोती के समान स्थूल अश्रु-बिन्दु वृक्षों की पत्तियों पर गिर पड़ते हैं। रावण जिस मार्ग से सीता को ले गया था, वह मार्ग लताओं ने राम को अपनी शाखाओं और पल्लवों से सूचित किया था। हरिणियों ने दर्भांकुर चरना छोड़ दक्षिण दिशा की ओर दृष्टि करके वही कार्य

किया था। विरहग्रस्त प्रेमी को तो प्रकृति अवर्णनीय सांत्वना एवं संतोष प्रदान करती है। मलयानिल अग्नि-मित्र को सांत्वना दे रहा है—

आमत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां, पृच्छतेव।
अंगे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन॥ माल० ३।४

'आम्रमंजरी से सुवासित यह मलयानिल मेरे अंगों को स्पर्श कर रहा है, मानो स्वयं वसन्त अपने कोमल और प्रेमस्निग्ध हस्त से मुझे स्पर्श-सुख प्रदान करता हुआ कोयल की मधुर काकली द्वारा मुझसे सहानुभूति में कह रहा हो कि सखे, अपने मदन-ताप को सहन करो।'

कालिदास ने किस प्रकार क्रमशः प्रकृति के मार्मिक प्रभाव को हृदयंगम किया था, यह समझने के लिए उनके ग्रंथ का तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक है। 'ऋतुसंहार' का तरुण कवि प्रकृति का प्रेमी है, पर वह कामिनियों का अपेक्षाकृत अधिक प्रेमी है। 'ऋतुसंहार' में कामिनी के सौंदर्य, शृङ्गार, विभ्रम, विलास और प्रेम का वर्णन प्रधान रूप से पाया जाता है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं मे कामिनियों के मन में उत्पन्न होनेवाले विकारों का ही उसमें अधिक वर्णन है। 'कुमारसम्भव' में प्राकृतिक विभूति और दैवी विभूति में साम्य स्थापित किया गया है। प्राकृतिक सौंदर्य के केन्द्र हिमालय की पवित्रता की पूर्ति उमा-महेश्वर की तपश्चर्या से होती है। 'मेघदूत' में कवि ने मनुष्य और प्रकृति के बीच तादात्म्य स्थापित करने का अद्भुत प्रयास किया है। 'पूर्वमेघ' में विरही यक्ष सृष्टि-सौन्दर्य का दर्शन कर अपने दुखी हृदय को आश्वासन देता है। 'उत्तरमेघ' में वह प्रकृति के संयोग में अपनी प्रियतमा के अतीत एवं भावी मिलन-सुख का स्वप्न देखता है। 'रघुवंश' में कवि कुछ और ऊँचे स्तर पर पहुँच गया है। उसमें प्रकृति-जीवन का मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। उसमें कवि ने दिखाया है कि प्रकृति-जीवन से वियुक्त मानव-जीवन की समाप्ति आध्यात्मिक ह्रास, सामाजिक दुर्दशा तथा राजनीतिक अवनति में जाकर होती है। किन्तु कवि की सर्वोच्च प्रतिभा का निदर्शन, प्रकृति-संदेश का मार्मिक उद्घाटन 'शाकुन्तल' में जाकर हुआ। आद्योपांत मानवीय भावनाओं का चित्रण करते हुए भी 'शाकुन्तल' सर्वत्र मनुष्य का प्रकृति के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करता है। प्रथम अंक में ही नगर के वासनामय विलास और तपोवन के अकृत्रिम वैभव के तारतम्य पर प्रकाश डाला गया है (१।१५)। इन्द्रिय-वासना की तात्कालिक लहर शांत होते ही हम प्राकृतिक और आध्यात्मिक सौंदर्य के उच्चतर स्थान पर पहुँच जाते हैं। मृत्युलोक और स्वर्गलोक के मध्यस्थानीय हेमकूट पर्वत पर

महर्षि मारीच के पावन तपोवन में न केवल प्रेमियों का पुनर्मिलन होता है, अपितु अन्तः और बाह्य प्रकृति के चिरन्तन संयोग की पुनः प्रतिष्ठा भी होती है।

कालिदास का कला-विषयक आदर्श—कालिदास की कृतियों में स्थल-स्थल पर कलाजन्य सौंदर्य का बड़ा ही उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया गया है। जो लोग भ्रमवश कालिदास की कृतियों में केवल वासनात्मक शृङ्गार के दर्शन करते हैं, उन्हें चाहिये कि वे कालिदास के सूक्ष्म संकेतों को भी समझने की चेष्टा करें। नीचे दिये पद्य में कालिदास ने इस उच्च आदर्श की मार्मिक व्यंजना की है—

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ शा० १।२२

इस पद्य में शकुन्तला के रूप-वर्णन के व्याज से कवि ने प्रकारान्तर से यह प्रतिपादित किया है कि कलात्मक सौंदर्य की सृष्टि सर्वथा लोकोत्तर है, इस रजोमयी पार्थिव पृष्ठभूमि से परे है, वासनामय धरातल से उच्चतर है। साथ ही, उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि कलाजन्य आनन्द की अनुभूति तर्कबुद्धि द्वारा सम्भव नहीं—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयंतत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥ शा० १।१७

इस पद में कवि ने सिद्धांत की ओर सूक्ष्म संकेत किया है कि जीवन-मधु की प्राप्ति—कलाजन्य आनन्द की उपलब्धि—तत्त्वान्वेषण बुद्धि द्वारा अर्थात् तर्क की विश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा सम्भव नहीं। उस मधु के आस्वादन के लिए आवश्यकता है उस सहृदयता की—भाव-प्रवणता की—जो कला-सुन्दरी के चंचल अथच प्रतिक्षण परिवर्तमान कटाक्ष-कोरों को स्पर्श कर सके, उसके, मार्मिक रहस्य का उद्घाटन कर सके और उसके रति-सर्वस्व—रस—का आस्वादन कर सके।

महाकवि कालिदास के काव्यों या नाटकों में सर्वत्र एक अत्यन्त उदात्त नैतिकता अथवा आदर्श भारतीय मर्यादा का चित्रण हुआ है। कालिदास की उक्ति **'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'** (रघु० १।५८) और शेक्सपियर की उक्ति 'O Opportunity, the guilt is great' की तुलना से ही स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि भारतीय आदर्श और पाश्चात्य आदर्श में कितना अन्तर है। भारत की इस नैतिक एवं कलात्मक संस्कृति का जो चित्रण कालिदास ने अपनी रुचिर रचनाओं में किया है, वह मानो सारे संसार के लिए आदर्शभूत है—मानदण्ड है—**'स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः'**। वस्तुतः वाल्मीकि और व्यास के समान ही कालिदास भी भारतीय प्रतिभा के अन्यतम अवतार हैं।

अश्वघोष : शारिपुत्र-प्रकरण

अश्वघोष संस्कृत के प्रथम बौद्ध नाटककार माने जाते हैं। इनका स्थितिकाल, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ईसा की प्रथम शताब्दी में था। सन् १९१० में मध्य एशिया के तूरफान नामक स्थान में अश्वघोष के तीन नाटक डा० लूडर्स द्वारा पाये गये। उनमें एक का नाम 'शारिपुत्र-प्रकरण' है। इसमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के भगवान् बुद्ध से उपदेश ग्रहण कर बौद्धधर्म में दीक्षित होने का वर्णन है। यत्र-तत्र बौद्ध सिद्धांतों की शिक्षा भी दी गई है। अश्वघोष के काव्यों के विषय पर अब केवल दो अंक उपलब्ध होते हैं, वे भी खण्डित हैं। 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार यह एक 'प्रकरण' है। इसमें ९ अङ्क हैं। संस्कृत के अन्य नाटकों की भाँति इसमें नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार, विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग इत्यादि सभी नाटकीय लक्षण पाये जाते हैं। हाँ, अन्त मे 'भरतवाक्य' का प्रयोग नहीं मिलता। 'शारिपुत्रप्रकरण' के साथ अश्वघोष के दो और नाटको के खंडित अंश भी मिले हैं। इनमें से एक तो 'प्रबोधचन्द्रोदय' के समान रूपकात्मक है, जिसमें बुद्धि, धृति, कीर्ति और बुद्ध पात्रों के रूप में चित्रित किये गये है। दूसरा 'मृच्छकटिक' की भाँति वेश्या-नायिकात्मक नाटक है, जिसमे मगधवती नामक वेश्या, कौमुदगन्ध नामक विदूषक आदि पात्र है। पर ये दोनो नाटक अधूरे ही मिले हैं। इनके नाम का पता नहीं चलता। पर यह केवल जनश्रुति है।

अश्वघोष के नाटकों की संस्कृत में कहीं-कही कुछ अशुद्धियाँ देख पड़ती हैं, जो सम्भवतः प्राकृत भाषाओं के प्रभाव के कारण हुई है। उदाहरणार्थ, आर्त्थ (अर्थ), क्रिमि (कृमि), प्रद्वेषम् (प्रदोषम्) इत्यादि। अश्वघोष के बाद के नाटकों में नाटकीय निर्देश (जैसे, सकरुणम्, सर्वे अकर्णयन्ति, विष्क्रान्ताः, परिवृत्य आदि) पात्रों के कथनोपकथन से पृथक् दिये गये हैं, किन्तु अश्वघोष के नाटकों में उसके साथ ही दिये गये हैं। अश्वघोष की प्राकृत में कई आर्ष प्रयोग भी पाये जाते हैं।

हर्ष : रूपकत्रय

भारत के प्राचीन विद्या-व्यसनी राजाओं में सम्राट् हर्षवर्धन(६०६-६४८ ई०) का नाम परम प्रसिद्ध है। उन्होंने तीन नाटकों की रचना की है—'प्रियदर्शिका,' 'रत्नावली' और 'नागानन्द'। इन कृतियों के सम्बन्ध में कुछ आलोचकों का कहना है कि ये हर्ष की रचनाएँ नहीं हैं। उन्होंने अपने किसी आश्रित कवि (बाण का धावक) द्वारा उन्हें लिखवाकर अपने नाम से प्रचलित किया। इतना तो निश्चित है कि उक्त तीनों रचनाएँ एक ही कवि की लेखनी से प्रसूत हैं, क्योंकि (१) इन तीनों नाटकों की प्रस्तावना में एक ही रचयिता (हर्ष) का उल्लेख हुआ है। (२) 'प्रिय-

दर्शिका' और 'नागानन्द' में दो श्लोक समान हैं तथा एक श्लोक 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' में भी अभिन्न है। (३) इन तीनों नाटकों की शैली भी पूर्ण साम्य है। अब प्रश्न यह होता है। कि इनके वास्तविक रचयिता कौन थे। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में धनप्राप्ति को काव्य का एक प्रयोजन माना है—'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्'। कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ यह लगाया है कि धावक नामक किसी कवि ने रत्नावली आदि की रचना हर्ष के नाम से करके प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त की। किन्तु इस किंवदन्ती के समर्थन में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। इत्सिंग (६७१-६९५ ई०) ने अपने यात्रा-वर्णन में महाराज हर्ष को 'नागानन्द' नाटक का रचयिता बतलाया है। दामादरगुप्त (८०० ई०) ने अपने 'कुट्टनीमत' में किसी राजा द्वारा रचित 'रत्नावली' नामक नाटिका का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त हर्ष स्वयं एक अच्छे कवि थे। बाण ने उनकी काव्य-चातुरी की प्रशंसा अपने 'हर्ष-चरित'[1] में की है। जयदेव ने उन्हें 'कविताकामिनी का हर्ष' कहा है। सोड्ढल ने हर्ष को 'गीर्हर्ष'[2] की उपाधि से विभूषित किया है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन तीनों नाटकों की रचना हर्ष की लेखनी से ही हुई।

रचना-क्रम के अनुसार 'प्रियदर्शिका' हर्ष की प्रथम रचना है। उनको अन्य दो रचनाओं को देखते हुए इसमे उनकी नाट्य-कला का अपेक्षाकृत कम परिष्कार लक्षित होता है। 'रत्नावली' हर्ष की दूसरी रचना है, क्योंकि यह अधिक परिष्कृत एवं कलापूर्ण है। 'नागानन्द' नाटक यद्यपि 'रत्नावली' के समान प्रौढ़ एवं परिमार्जित नहीं है, तथापि इसमें हर्ष के उत्तरार्ध जीवन के बौद्ध आदर्शों का निरूपण होने के कारण वह हर्ष की अन्तिम कृति मानी जानी चाहिये।

'प्रियदर्शिका' चार अंकों की एक नाटिका है। इसमें राजा वत्स के अंतःपुर की प्रेम-कहानी चित्रित है। इसमें तथा कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में पर्याप्त साम्य देख पड़ता है। राजा दृढ़वर्मा युद्ध में हार जाते हैं। उनकी कन्या प्रियदर्शिका दुर्घटना के कारण राजा वत्स के अन्तःपुर में पहुँच जाती है। वहाँ वह 'आरण्यका' नाम से रानी की दासी बनकर रहती है। वत्स उस पर मुग्ध हो जाते हैं।

---

१. 'काव्यकथास्वपीतामृतमुद्वमन्तम्,' विमलकपोलप्रतिबिम्बितां चामरग्राहिणीं विग्रहिणीमिव मुखवासिनीं सरस्वतीमादधानम्', 'अपि चास्य''''''प्रज्ञायाः शास्त्राणि कवित्वस्य वाचः'''न पर्याप्तो विषयः।'

(नि० सा० संस्करण, पृष्ठ ७१, ७४, ७८)

२. श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
गीर्हर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा संपूजितः कनककोटिशतेन बाणः॥

अंतःपुर के रंगमंच पर वत्स और वासवदत्ता के विवाह का अभिनय होता है, जिसमें आरण्यका वासवदत्ता बनती है और वत्स स्वयं वत्स। प्रेम का अभिनय न रहकर वास्तविक हो जाता है। रानी की ईर्ष्या के कारण आरण्यका राजा की दृष्टि से दूर हटाकर बन्दीगृह में डाल दी जाती है। अन्त में उसके राजकुलोत्पन्न होने का रहस्य प्रकट हो जाता है और राजा तथा प्रियदर्शिका के विवाह की अनुमति रानी स्वयं देती है।

हर्ष के अन्य नाटकों की भाँति 'प्रियदर्शिका' में उनके रचना-नैपुण्य तथा कल्पना-वैभव का पारिपाक परिलक्षित नहीं होता। हर्ष को अपने कथानक का बीज 'बृहत्कथा' से प्राप्त हुआ है, फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि उसके विकास मे कवि ने अपनी कल्पना-चातुरी का यथेष्ट परिचय दिया है। अपनी प्रासादिक शैली, वस्तु-रचना की सरलता, अनेक रोचक घटनाओं एवं अवस्थाओं की सृष्टि तथा कतिपय उत्कृष्ट वर्णनों द्वारा हर्ष अपनी 'प्रियदर्शिका' नाटिका को रोचक बनाने में सफल हुए हैं। तीसरे अंक में 'गर्भाङ्क' नाटक 'प्रियदर्शिका' की उल्लेखनीय विशेषता है। यह दृश्य कवि के नाट्य-कौशल का सुन्दर उदाहरण है।

'रत्नावली' भी चार अंकों की नाटिका है। इसमें वत्सराज उदयन तथा उनकी रानी वासवदत्ता की परिचारिका सारिका की रोचक प्रेम-कहानी वर्णित है। नायिका वास्तव में सिंहल देश की राजकन्या रत्नावली है, जो दुर्घटनावश दासी का कार्य कर रही है। अन्त में इस रहस्य का उद्घाटन होने पर नायक-नायिका का विवाह हो जाता है। 'रत्नावली' में प्रधान रस शृंगार है। नायक 'धीरललित' है। कथानक कौतूहल से परिपूर्ण है। घटनाएँ नाटकीय ढंग से घटित होती हैं। 'रत्नावली' अभिनय की दृष्टि से भी सफल कृति है। वेष-विपर्यय का दृश्य बड़ा रोचक हुआ है। काव्य-सौंदर्य के साथ-साथ इसमें चरित्र-चित्रण भी विशद हुआ है। 'नाट्यशास्त्र' के नियमों का इसमें पूर्णतया पालन हुआ है। धनञ्जय ने अपने 'दशरूपक' में रत्नावली के अनेक पद्य उदाहरण रूप से उपस्थित किये हैं।

'रत्नावली' की शैली सरस एवं प्रसादपूर्ण है। दुरूह शब्दों और कठिन समासों का प्रायः अभाव है। यद्यपि इस नाटक में विलासमय प्रणय का रंगीन चित्रण किया गया है, किन्तु भारतीय मर्यादा की रक्षा भी की गई है। इसके कुछ पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे पाठक स्थालीपुलाकन्याय से हर्ष की शैली का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य अपनी प्रियतमा कमलिनी से विदा माँग रहे हैं—

यातोऽस्मि पद्मवदने समयो ममैव
सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥३।६।

'कमलिनी के झुके हुए मस्तक पर स्नेहपूर्वक हाथ फेरते हुए (अथवा, अस्ताचल के शिखर पर अपनी किरणें डालते हुए) सूर्य उसे सांत्वनायुक्त विश्वास दिला रहे है कि हे कमलमुखी, अब मैं जा रहा हूँ, मेरे जाने का समय हो गया है; किन्तु मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि कल प्रातःकाल जब तुम सोती ही रहोगी मैं आकर तुम्हें जगाऊँगा।' अनुपम सुन्दरी रत्नावली की सृष्टि कर स्वयं ब्रह्मा को कितना आश्चर्य हुआ इसका वर्णन देखिये —

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विषः
चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहृतम्।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूतामिमाम् ॥२।१४

'जब ब्रह्मा ने इस त्रैलोक्यसुन्दरी (रत्नावली) की सृष्टि की, तब वे स्वयं अपनी विलक्षण कृति पर चकित हो उठे। वे अपने आसन से कमलों की पंखुड़ियों की कान्ति को मात करनेवाले अपने नेत्रों को फाड़-फाड़कर इस अपूर्व कृति को देखने लगे। उनके चारों मुखों से एक साथ ही वाह ! वाह !! की ध्वनि निकल पड़ी। विस्मय से उनके मस्तक हिलने लगे।' उद्यान-लता को देखकर वत्सराज कह रहे हैं—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥२।४

'अहा ! देखो, इस उद्यान-लता की कलियाँ कैसी चटक रही हैं, इसका वर्ण कैसा शुभ्र है, थोड़ी ही देर में यह खिलनेवाली है, हवा के लगातार झोंकों से यह कैसी मतवाली होकर थिरक रही है ! किन्तु इस उद्यान-लता की ओर देखकर मैं आज अवश्य ही महारानी के मुखमण्डल को ईर्ष्याजिन्य क्रोध से रक्तवर्ण करने का अपराधी समझा जाऊँगा, क्योंकि यह लता उस प्रेमातुर प्रमदा की भाँति है, जो अपने प्रिय से मिलने के लिए अत्यधिक उत्कण्ठित हो रही है, जिसका वर्ण विरह के कारण पीला पड़ गया है, जो विरहजन्य जागरण के कारण बार-बार जँभाई ले रही है और जो निरन्तर दीर्घ निःश्वासों के कारण अत्यधिक विकल हो रही है।'

'नागानन्द' उपर्युक्त दोनों नाटिकाओं से सर्वथा भिन्न है। इसमें पाँच अंक हैं। जीमूतवाहन नामक राजकुमार के आत्मत्याग का बौद्ध आख्यान इसमें वर्णित है। जीमूतवाहन एक विद्याधर राजकुमार है। राजा मित्रावसु की भगिनी मलयवती से उसका विवाह होता है। एक दिन मित्रावसु के साथ टहलते समय जीमूतवाहन

हड्डियों का ढेर देखता है। उसे ज्ञात होता है कि दिव्य पक्षी गरुड़ को प्रतिदिन साँपों की भेंट चढ़ाई जाती है। यह उन्हीं मरे हुए साँपों की हड्डियों का ढेर है। वह निश्चय करता है कि मैं प्राणों का बलिदान करके भी इस हत्याकांड को रोकूँगा। शंखचूर्ण सर्प के बदले वह अपना बलिदान करता है। गौरी अपने प्रभाव से उसे पुनः जीवित करती है। अमृत की वर्षा से गरुड़ द्वारा मारे गये सारे सर्प भी जीवित हो उठते हैं। अन्त में गरुड़ भविष्य में उन्हें न मारने का वचन देता है।

'नागानन्द' पर बौद्धधर्म की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। नायक का मलयवती से प्रेम मुख्य कथा से असम्बद्ध है। नाटकीय दृष्टि से 'नागानन्द' सफल नहीं कहा जा सकता। प्राणियों के प्रति दया तथा आत्मोत्सर्ग की भावना का इस नाटक में सुन्दर निदर्शन हुआ है। भाषा तथा शैली हर्ष की अन्य कृतियों की भाँति प्रसादपूर्ण एवं मनोहर है। जीमूतवाहन की मृत्यु पर उसके पिता शोक करते हैं—

निराधारं धैर्यं, कमिव शरणं यातु विनयः ?
क्षमः क्षान्तिं वोढ क इह ? विरता दानपरता।
हतं सत्यं सत्यं, व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा ?
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय लोकान्तरगते ॥५॥३१

'हे पुत्र, तुम्हारे स्वर्गवासी होने पर धैर्य बिना आधार का हो गया। विनय अब किसकी शरण में जाय ? क्षमा को अब कौन धारण करेगा ? दानशीलता अब उठ गई। सत्य सचमुच नष्ट हो गया। निस्सहाय करुणा अब कहाँ जाय ? तुम्हारे बिना यह संसार सूना हो गया।'

भवभूति

संस्कृत के महान् नाटककारों में भवभूति का नाम कालिदास के बाद ही लिया जाता है। उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में बहुत-कुछ निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं। मम्मट (११०० ई०), धनंजय (९९५ ई०) और सोमदेव (९५९ ई०) ने अपनी रचनाओं में भवभूति के ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं। राजशेखर (९०० ई०) अपने को भवभूति का अवतार बताते हैं—

बभूव बल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥

बा० रा० ११९६

वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में भवभूति-कृत 'उत्तररामचरित' के 'इयं गेहे लक्ष्मीः' (१।३८) इस पद्य को उद्धृत किया है। अतः भवभूति के स्थितिकाल की नीचे की सीमा ७५० ई० के लगभग सिद्ध होती है। दूसरी ओर

बाण ने 'हर्षचरित' में भास, कालिदास जैसे प्रसिद्ध कवियों के साथ भवभूति का उल्लेख नहीं किया है। बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध था। अतः यह भवभूति के समय की ऊपरी सीमा है और वे ६५० से ७५० ई० के बीच में हुए होंगे।

कल्हण-कृत 'राजतरंगिणी' (११४८ ई०) से विदित होता है कि भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित कवि थे—

> कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
> जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिबन्दिताम् ॥४।१४४

इसक पहले (४। ३४) कल्हण ने बतलाया है कि कश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने इन्हीं यशोवर्मा को परास्त किया था। डा० स्टीन[1] का मत है कि यह घटना ७३६ ई० के पूर्व की नहीं हो सकती। 'राजतरंगिणी' के उक्त पद्य (४।१४४) में भवभूति के साथ वाक्पतिराज का भी नाम आया है। वाक्पतिराज ने अपने प्राकृत-काव्य 'गौडवहो' में यशोवर्मा का यशोगान किया है। इस काव्य के अधूरे होने से प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने अपने काव्य की रचना यशोवर्मा के विजयी दिनों में प्रारम्भ की थी, किन्तु कश्मीर के राजा ललितादित्य के हाथों यशोवर्मा की पराजय होने पर उसे अधूरा ही छोड़ दिया। इसलिए 'गौडवहो' की रचना ७३६ ई० के बाद की नहीं हो सकती। 'गौडवहो' (गौडवधः) मे वाक्पतिराज ने भवभूति की इस प्रकार प्रशंसा की है—

> भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसाकणा इव स्फुरन्ति ।
> यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु ॥७९९

इस पद्य के 'अद्यापि' शब्द से प्रतीत होता है कि भवभूति वाक्पतिराज से पहले हुए थे और यशोवर्मा के राज्यकाल के पूर्वार्ध में उनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी। इन प्रमाणों के आधार पर यह कहा जाता है कि भवभूति ७०० ई० के आसपास हुए थे।

भवभूति ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में अपना कुछ परिचय दिया है। वे विदर्भ (बरार) देश के पद्मपुर नामक नगर के निवासी थे। उनका जन्म एक उदुम्बर-वंशी ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इस वंश के ब्राह्मण 'कृष्णयजुर्वेद' की तैत्तिरीय शाखा को माननेवाले, वेद-वेदांगों के ज्ञाता तथा सोमयज्ञ के करनेवाले थे।[2] भवभूति के पाँचवें पूर्वज का नाम महाकवि था, जो वाजपेय यज्ञ के करनेवाले विद्वान् ब्राह्मण थे। भवभूति के पितामह का नाम भट्टगोपाल, पिता का नीलकंठ और माता का जातुकर्णी था। उनका प्रारम्भिक नाम श्रीकण्ठ था। उनका भवभूति नाम क्यों पड़ा, इस

---

१. Stein's translation of राजतरङ्गिणी; p. 89 and his notes on IV. 134.

२. Keith : Bhavabhuti and the Veda, JBRAS, July; 1914.

विषय में कुछ लोग कहते हैं कि उन्होंने दो श्लोक लिखे थे जिनमें 'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः' अथवा 'गिरिजायाः कुचौ वंदे, भवभूतिसिताननौ' यह पंक्ति थी। भवभूति-कृत 'मालतीमाधव' की एक ४०० वर्ष प्राचीन हस्तलिखित प्रति में भवभूति को प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल (७०० ई०) का शिष्य बताया गया है और छठे अंक की पुष्पिका में उस शिष्य का नाम उम्बेकाचार्य बताया गया है। भवभूति के गुरु का नाम ज्ञाननिधि था, जो वास्तव में ज्ञान के भण्डार ही थे।

रचनाएँ— भवभूति के तीन नाटक उपलब्ध हैं—'महावीरचरित', 'मालती-माधव' और 'उत्तररामचरित'। 'शारङ्गधरपद्धति' और 'रसिक-जीवन' जैसे प्राचीन सूक्ति-संग्रहों में उनके नाम से कुछ ऐसे पद्य पाये जाते हैं, जो उनकी उपलब्ध कृतियों में नहीं मिलते। भवभूति के तीनों नाटकों का अभिनय, जैसा कि उनकी प्रस्तावना से मालूम पड़ता है, भगवान् कालप्रियनाथ के उत्सव पर हुआ था। विद्वानों की सम्मति में उज्जयिनी के महाकाल महादेव का ही दूसरा नाम कालप्रियनाथ है। 'महा-वीरचरित'[1] तथा 'मालतीमाधव'[2] की प्रस्तावना से पता चलता है कि भवभूति की नटों से घनिष्ठ मिलता थी, अतः यह स्पष्ट है कि भवभूति के नाटक अभिनय के ही लिए लिखे गये थे।

'महावीरचरित' भवभूति का प्रथम नाटक है। इसमें सात अंकों मे रामायण के पूर्वार्द्ध—राम-विवाह, राम-वनवास, सीताहरण और राम-राज्याभिषेक—की कथा वर्णित है। आरम्भ से अंत तक रावण राम के विनाश के लिए भाँति-भाँति के कुचक्र करता है। सीता के स्वयंवर में रावण सीता की याचना के लिए दूत भेजता है, किन्तु राम शिव-धनुष को तोड़कर सीता का वरण कर लेते हैं। इस पराजय का बदला लेने के लिए रावण और उसका मन्त्री माल्यवान्, परशुराम को राम के विरुद्ध उकसाते हैं। परशुराम राम से युद्ध करते हैं, पर मुँहकी खाते हैं। तब माल्यवान् शूर्पणखा को मंथरा के रूप में भेजता है। उस समय राम जनक के यहाँ मिथिला में थे। मंथरा-रूपधारी शूर्पणखा कैकेयी का एक पत्र राम को देती है, जिसमें उन्हें चौदह वर्ष का वनवास दिया जाता है। माल्यवान् ही वाली को राम से लड़ने के लिए प्रेरित करता है। रावण और मेघनाद के वध के पश्चात् लंका और अलकापुरी की अधिष्ठात्री देवियाँ परस्पर समवेदना प्रकट करती हैं।

'महावीरचरित' पर भास के 'अभिषेक' नाटक तथा 'बालचरित' का प्रभाव देख पड़ता है। इसमें कवि ने रामायण की कथा को रोचक नाटक के रूप में प्रस्तुत

---

१. सूत्रधारः—'कविर्मित्रधेयमस्माकम्।'
२. 'निसर्गसौहृदेन भरतेषु वर्तमानः।'

करने का प्रयास किया है। पर इस कृति में भवभूति की नाट्यकला का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है। लम्बे-लम्बे संवादों या वर्णनात्मक प्रसंग के कारण इस नाटक में कई स्थलों पर घटनाओं की गति में अवरोध उत्पन्न हो गया है। पात्रों के चरित्र का उत्तरोत्तर विकास नहीं देख पड़ता। साथ ही इसमें मानव-हृदय का वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं और भाव-भाषा की वह उदात्तता नहीं जो उनके बाद के दो नाटकों में पाई जाती है। इसी कारण भण्डारकर महोदय ने इसे 'अरोचक और अपरूप' कहा है। 'मालती-माधव' की प्रस्तावना (१।८) में भवभूति ने अपने आलोचकों के प्रति जो कठोर शब्द कहे हैं, उनसे जान पड़ता है कि 'महावीरचरित' का उनके हाथों स्वागत नहीं हुआ था। फिर भी इनमें वीर-रस का सुन्दर परिपोष हुआ है। शिव-धनुषभंग होने पर लक्ष्मण की कैसी दर्पपूर्ण उक्ति है—

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिंडिमः।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद् ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥

'आर्य राम ने अपनी वलिष्ठ भुजाओं ने शिव के धनुष का भंग कर दिया है। इससे जो भीषण टंकार-शब्द निकला है, वह डंके की चोट से सारे संसार मे मेरे ज्येष्ठ भ्राता के पराक्रम की घोषणा कर रहा है। उसकी भयावह ध्वनि से ब्रह्माण्ड के जो भाग ध्वस्त हो गये हैं, उनके खंडहरों मे गूंजती हुई उस भयानक टंकार की प्रतिध्वनि अब तक शान्त नहीं हो रही है।'

'मालतीमाधव' दस अंकों का एक 'प्रकरण' है। इसमें मालती और माधव के प्रेम और विवाह की कल्पना-प्रसूत कथा चित्रित है। पद्मावती-नरेश के मंत्री भूरिवसु अपनी पुत्री मालती का विवाह अपने बचपन के मित्र देवरात के पुत्र माधव के साथ करना चाहते हैं। इधर राजा का साला और सखा (नर्मसुहृद) नन्दन मालती से विवाह करना चाहता है। इसमे राजा, नन्दन का समर्थक है। माधव का साथी मकरन्द है और मालती की सखी मदयन्तिका (नन्दन की बहन) है। मालती और माधव दोनों एक शिव-मंदिर मे मिलते हैं। वहाँ मकरन्द मदयन्तिका की एक बाघ से रक्षा करता है और ये दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। इधर राजा, नंदन और मालती का विवाह कराने पर तुले हुए हैं। माधव अपनी प्रेम-सिद्धि के लिए श्मशान में जाकर तंत्र की साधना करता है। वहाँ अघोरघण्ट और उसकी शिष्या कपालकुण्डला मालती को चामुण्डादेवी की बलि चढ़ानेवाले ही थे कि संयोगवश माधव वहाँ पहुँच जाता है और अघोरघण्ट का मारकर मालती को बचा लेता है। राजा की आज्ञा से मालती का विवाह नन्दन से होने जा रहा है। पर मकरंद मालती का स्थान

ले लेता है। उधर माधव और मालती भाग जाते हैं। वधू-रूप में मकरन्द नन्दन को दुत्कार देता है। इस पर मदयन्तिका अपनी भाभी को उलाहना देने आती है। पर उसे अपना प्रेमी मकरन्द पाकर वह स्वयं उसके साथ भाग जाती है। इस भगदड़ में मालती को कपालकुण्डला चुरा ले जाती है। माधव अपनी प्रियतमा की खोज करता है। सौदामिनी की सहायता से उसे मालती मिल जाती है और राजा की अनुमति से दोनों का विवाह हो जाता है।

'मालतीमाधव' की रचना भास के 'अविमारक' नाटक से प्रभावित हुई जान पड़ती है। दोनो का कथानक लोक-कथाओं से लिया गया है तथा दोनो के प्राकृतिक चित्रण में शैली का साम्य देख पड़ता है। 'अविमारक' की हाथीवाली घटना के आधार पर सम्भवतः मालती-माधव की बागवाली घटना रची गई है और वियोगिनी के परामर्श से माधव की रक्षा विद्याधर के हाथों अविमारक की रक्षा का स्मरण दिलाती है।

'महावीरचरित' की अपेक्षा 'मालतीमाधव' में कवि की प्रतिभा का अधिक विकास देख पड़ता है। रोचक कथानक, यथार्थ एवं विशद चरित्र-चित्रण तथा सुन्दर भाषा के कारण वह आलोचकों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। पाँचवें अङ्क का श्मशान-वर्णन तथा नवें अंक का वन-वर्णन भवभूति के प्रकृति-चित्रण-नैपुण्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। भाषा तथा शैली में भी यथावसर सरलता एवं सजीवता का समावेश दर्शनीय है। पति-पत्नी के आदर्श सम्बन्ध का सुन्दर वर्णन देखिये—

प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ॥६।१८

'वत्स, तुम्हें यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि स्त्री के लिए उसका पति और पति के लिए उसकी विवाहिता पत्नी, दोनों एक दूसरे के लिए परम प्रिय मित्र हैं। यही सबसे बड़ा सम्बन्ध है, सारी इच्छाओं की पूर्णता है, सबसे बड़ी निधि है, अधिक क्या, स्वयं जीवन ही है।' प्रेम का प्रभाव माधव के लिए वर्णनातीत है—

परिच्छेदातीतः सकलवचनानाम विषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभव पथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥१।३०

'एक ऐसा मनोविकार, जिसकी व्याख्या असम्भव है, जिसके विषय मे कुछ कहा नहीं जा सकता, जिसे मैंने इस जन्म मे पहले कभी अनुभव नही किया, जिसने मेरे विवेक को हर लिया है तथा जिसने मुझे महामोहान्धकार से ढक लिया है, मेरे अन्तःकरण को जड़ीभूत कर रहा है और संतप्त भी कर रहा है।'

'उत्तररामचरित' भवभूति का अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसमें कुल सात अंक हैं। इसके कथानक का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—प्रथम अंक में राम-राज्याभिषेक के अनन्तर जनक के चले जाने पर सीता उदास हो जाती हैं। राम उन्हें सांत्वना देते हैं। सीता के मनोविनोदार्थ राम, सीता और लक्ष्मण के साथ उन चित्रों को देखते हैं, जिनमे उनके पूर्व-चरित्र अंकित है। सीता एक बार पुनः भगवती भागीरथी में अवगाहन करने की अभिलाषा प्रकट करती है। चित्र-दर्शन के श्रम से सीता थक-कर सो जाती है। दुर्मुख नामक गुप्तचर सीता के चरित्र के संबंध में प्रचलित लोकापवाद की सूचना राम के कान में देता है। इस दुःसंवाद से राम को मर्मान्तिक पीड़ा होती है, किंतु कर्तव्यपालन के लिए वे सीता का परित्याग करने को तैयार हो जाते हैं। भागीरथी-दर्शन की इच्छा सीता की थी ही। इसी इच्छा की पूर्ति के बहाने वह निर्वासित कर दी जाती है। बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर दूसरे अंक का आरम्भ होता है। इसमें आत्रेयी नामक तपस्विनी तथा वासन्ती नामक वनदेवता के संवाद से विदित होता है कि राम ने अश्वमेध-यज्ञ आरम्भ कर दिया है। महर्षि वाल्मीकि एक देवी द्वारा सौंपे गये दो कुशाग्र-बुद्धि सुन्दर बालकों का लालन-पालन कर रहे हैं। राम दण्डकारण्य में प्रवेश कर शूद्र-तपस्वी शम्बूक का वध करते है। तीसरे अंक में तमसा और मुरला नदियाँ परस्पर सम्भाषण में बताती है कि सीता अपने जीवन का अंत करने के लिए गंगा में कूद पड़ी थीं। वही जल में लव-कुश का जन्म हुआ। गंगा ने सीता की रक्षा की तथा उनके दोनों पुत्रों को वाल्मीकि के संरक्षण में सौंप दिया है। इसके बाद सीता छाया के रूप में प्रकट होती हैं। राम भी आते हैं, पर सीता को देख नहीं पाते। अपने पुराने क्रीड़ास्थलों को देख जब राम मूर्च्छित हो जाते हैं, तब सीता अपने स्पर्श से उन्हें चेतन करती हैं। सीता के शोक में राम प्रमुक्तकण्ठ हो करुण विलाप करते हैं। चौथे अंक में कौसल्या और जनक परस्पर सांत्वना प्रदान करते हैं। इसी समय वाल्मीकि-आश्रम के कुछ बालक खेलते-कूदते उनके पास आते हैं। इनमें एक (लव) विशेष कान्तिमान् है। वह राम के अश्वमेध के घोड़े को पकड़ लेता है। पाँचवें अंक में यज्ञीय अश्व के रक्षक चन्द्रकेतु और लव मे दर्पयुक्त कथोपकथन होता है, पर साथ ही दोनों में परस्पर अनुराग भी होता है। छठे अंक में दोनों वीरों के युद्ध का वर्णन एक विद्याधर और उसकी स्त्री के संवाद के रूप में किया गया है। राम के आगमन से युद्ध रुक जाता है। उनके हृदय में लव और कुश के प्रति स्नेह की भावना उमड़ पड़ती है, पर उन्हें यह नहीं ज्ञात कि वे उन्हीं की संतान हैं। सातवें अंक में एक दिव्य नाटक का अभिनय होता है। परित्यक्ता सीता गंगा में कूद पड़ती हैं। किन्तु एक-एक शिशु को गोद में लेकर भागीरथी और पृथ्वी सीता को जल से बाहर ले प्रकट होती हैं। पृथ्वी राम की कठोरता की निन्दा करती हैं, गंगा उसका कारण बताती हैं :

दोनों सीता को आदेश देती हैं कि तुम इन शिशुओं का तब तक पालन करो जब तक कि वे वाल्मीकि मुनि के संरक्षण में रखने योग्य बड़े न हो जायँ। इस दृश्य को वास्तविक समझ राम शोकावेग से मूच्छित हो जाते हैं। सहसा अरुन्धती सीता को लेकर प्रकट होती है। सीता स्वामी की परिचर्या कर उन्हें स्वस्थ करती हैं। वाल्मीकि भी लव-कुश को समर्पित करते हैं। इस प्रकार नाटक का सुखद पर्यवसान होता है।

मूल कथानक में परिवर्तन—'उत्तररामचरित' का मूल आधार रामायण का उत्तरकाण्ड है। पर भवभूति ने नाटकीय रूप देने के लिए मूल कथा में मौलिक परिवर्तन किये हैं। रामायण की कथा का अन्त शोकपर्यवसायी है। उसमें अन्त में सीता पृथ्वी के गर्भ में समा जाती हैं। पर भारतीय नाट्य-कला के आदर्शानुसार नाटक का दुःखान्त होना वर्जित है। अतः भवभूति अन्त में राम-सीता का मिलन कराकर नाटक को सुखान्त रूप देते है। भवभूति राम का लव-कुश से युद्ध कराकर अपने नायक का पराभव नहीं दिखाते। उन्होने चन्द्रकेतु और लव मे ही युद्ध कराया है। चित्रदर्शन-दृश्य, राम का वनदेवता वासन्ती से मिलन, दण्डकारण्य मे छाया-सीता की उपस्थिति, वाल्मीकि-आश्रम मे जनक, कौसल्या, वसिष्ठ, अरुन्धती आदि का आगमन तथा सातवें अंक का गर्भाङ्क नाटक, ये सभी कवि की मौलिक कल्पनाएँ हैं।

रामायण के अतिरिक्त, 'पद्मपुराण' के पाताल खण्ड में तथा 'उत्तररामचरित' के चौथे, पाँचवें और छठे अंकों की घटनाओं में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। इस आधार पर डा० बेलवेलकर का कथन है कि 'उत्तररामचरित' की कथा का मूल स्रोत 'पद्मपुराण' है। किन्तु पुराणों में समय-समय पर प्रक्षेप होते रहे हैं। अतः यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है कि 'पद्मपुराण' के उक्त पातालखंड की रचना भवभूति के पूर्व हो चुकी थी या नही।

उत्तररामचरित की नाटकीय विशेषताएँ—'उत्तररामचरित' सर्वसम्मति से भवभूति की कला का चूड़ान्त निदर्शन है—**उत्तरे रामचरिते भव भूतिर्विशिष्यते।** उनकी उत्कृष्ट नाट्यकला को हृदयंगम करने के लिए 'उत्तररामचरित' की किंचित् विस्तृत आलोचना करना आवश्यक है।

प्रथम अंक की प्रस्तावना में ही कवि ने नट के मुख से 'सर्वथा ऋषियो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति' यह कहलाकर नाटक के सुखान्त होने की ओर संकेत किया है। इसी प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि प्रजाजनों में सीता के चरित्र के विषय मे संदेह फैल रहा है। किन्तु इसके पहले कि राम इस प्रवाद को सुनें, कवि प्रेक्षकों को कुछ आवश्यक बातों से परिचित करा देता है—(१) राम स्वयं सीता के सच्चारित्र्य मे पूर्ण विश्वास रखते हैं (१।१३)। (२) राम में लोकोत्तर कर्त्तव्य-परायणता की भावना विद्यमान है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥१।१२

(३) राम सद्यः राज्याभिषिक्त हुए हैं और वसिष्ठ का सन्देश (१।११) उन्हें प्रिय-से प्रिय वस्तु का उत्सर्ग करने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार कवि ने सीता-निर्वासन की घटना उपस्थित करने के पूर्व एक ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी है, जिससे प्रेक्षकों के हृदय में राम के प्रति समवेदना तथा सीता के प्रति करुणा की भावना पूर्ण रूप से जाग उठे।

प्रथम अंक का चित्र-दर्शन-दृश्य भी कवि के उक्त उद्देश्य की पूर्ति में सहायक है। पत्नी का त्याग करने के पश्चात् राम किस प्रकार शोकाकुल हो जायेंगे, इसका आभास हमें इसी दृश्य मे मिलता है (१।३३)। इसके अतिरिक्त चित्र-दर्शन के दृश्य में प्रायः उन सभी घटनाओं का बीजांकुर देख पड़ता है, जिसका उत्तरोत्तर विकास आगे के अंकों मे हुआ है।

द्वितीय एवं तृतीय अंक मे राम पंचवटी जाते हैं। पंचवटी के पूर्व परिचित दृश्यों को देख उनकी वेदना तीव्र एवं प्रगाढ़ हो उठती है। अनेक आलोचकों का कहना है कि तृतीय अंक मे नाटकीय क्रियाशीलता स्थगित हो गई है, उसमें केवल करुण-रस की अतिरंजित व्यंजना मात्र है। किन्तु वह धारणा सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कही जा सकती। कारण यह है कि, तृतीय अंक में बाह्य क्रियाशीलता नही आंतरिक क्रियाशीलता है। भवभूति ने राम के नेत्रों से इतने आँसू व्यर्थ ही नहीं बहवाये हैं। सच पूछा जाय तो इन्हीं आँसुओं से राम और सीता के उस मिलन-वृक्ष की जड़ें सींची गई है, जिनकी सुखद छाया में अन्त में दर्शकों को अपूर्व विश्रान्ति मिलती है। इन्हीं आँसुओं से कवि ने सीता के परित्याग-जन्य परिताप का पूर्णतया प्रक्षालन किया है।

परित्याग के बाद सीता के हृदय मे राम के प्रति क्षोभ और उदासीनता के भाव हैं। वे उनके लिए 'आर्यपुत्र' का प्रयोग न कर 'राजा' शब्द का प्रयोग करती है—'दिष्ट्या अपरिहीनराजधर्मः खलु स राजा।' किन्तु राम की करुण अश्रुधारा में सीता का सारा क्षोभ धुलकर बह जाता है। सीता के हृदय मे शनैः-शनैः श्रद्धा और आत्म-समर्पण की भावना संचरित होती है। अंत मे वे स्वीकार करती हैं कि मेरे हृदय से 'परित्याग-लज्जाशल्य' निकल गया। इस परिसंधान की तीन अवस्थाएँ हैं—(१) राम को मूर्च्छित होते देख सीता उपचार के लिए दौड़ पड़ती है, पर शीघ्र ही लौट आती हैं (एतावदेवेदानीं मे बहुतरम्) और अपने को दैवाधीन मानने लगती है—'हा देव! एषा मया विनाऽहमप्येतेन विनेति स्वप्नेऽपि केन सम्भावित मासीत्'। कवि ने सीता को विश्वास दिलाया है कि राम उन्हें भूले नहीं हैं। (२) दूसरी अवस्था में सीता कुछ और आगे बढ़ती हैं। जब वासन्ती राम को पत्नी के प्रति निर्दय होने का उपा-

लम्भ देती है (३।२७), तब सीता स्वयं पति का पक्ष ग्रहण करती हैं। (३) अब एक और प्रतिक्रिया होती है। वासन्ती सीताहरण की चर्चा (३।४३) करती है। सीता तुरन्त त्रस्त होकर 'आर्यपुत्र ! परित्रायस्व, परित्रायस्व' चिल्ला उठती हैं, पर शीघ्र ही अपनी उद्भ्रांत अवस्था पर आश्चर्य प्रकट करती है। इसके बाद सीता को आश्वासन मिलता है कि राम का उनके प्रति प्रगाढ़ प्रेम है कि वे द्वितीय विवाह भी नहीं करेंगे। दोनों हृदयों का आंतरिक अनुसंधान पूर्ण हो चुका। सीता श्रद्धावसिक्त होकर कहती हैं—'नमो नमोऽपूर्वपुण्यजनितदर्शनाभ्यामार्यपुत्रचरणकमलभ्याम् ।'

करुण-रस के दीर्घ प्रवाह के अनन्तर चौथे अंक के अन्त तथा पाँचवे अंक की घटनाएँ विविधता तथा रोचकता से पूर्ण है। पाँचवें अंक में वीररस का चित्रण भी प्रभावोत्पादक है।

'उत्तररामचरित' में जहाँ तृतीय अंक में भावों का चरमोत्कर्ष देख पड़ता है, वहाँ छठे अंक में घटनाओं की सार्थकता, नाटकीय अवस्थाओं की परिणति देख पड़ती है। कवि ने द्वितीय अंक के 'विष्कम्भक' से ही छठे अंक की भूमिका प्रारम्भ कर दी है। वहीं अश्वमेध-यज्ञ का सर्वप्रथम उल्लेख है। इसी प्रकार तीसरे अंक के अन्त में राम पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या लौटने का प्रयत्न करते हैं, जिससे यह सम्भावना होती है कि मार्ग में वे वाल्मीकि-आश्रम में भी जायँगे। इस प्रकार कवि ने छठे अंक में राम की उपस्थिति का कारण स्पष्ट कर दिया है। साथ ही, लव का अश्व को देख उसे पकड़ लेना तथा युद्ध का आरम्भ होना—सभी घटनाएँ स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी प्रतीत होती हैं। प्रत्यभिज्ञान-दृश्य भी कुशलता से अंकित किया गया है। सातवें अंक का गर्भाङ्क नाटक भी नाट्य-कला की दृष्टि से अद्भुत एवं अभूतपूर्व है। नाटक को सुखांत बनाने मे यह अंक विशेष रूप से सहायक है।

प्रथम और द्वितीय अंक के बीच बारह वर्ष का समय व्यतीत हो जाता है। भवभूति ने इस दीर्घकाल का आभास प्रेक्षकों को बड़े कौशल से—गोचर-रूप से—कराया है। राम देखते हैं कि पंचवटी में पहले जहाँ नदियों की धाराएँ बहती थीं, वहाँ अब बड़े-बड़े रेतीले मैदान निकल आये हैं (२।२७), जिस मोर के बच्चे को पहले सीता ताली बजा-बजाकर नचाया करती थीं, वह अब बड़ा होकर अपनी मयूरी के साथ क्रीड़ा करने लगा है (३।१६,१८) और जो हाथी का बच्चा अपनी छोटी सी सूँड़ से सीता के कानों से लवली-पल्लव निकाल लिया करता था, वह अब इतना बड़ा हो गया है कि बड़े-बड़े हाथियों को भी पछाड़ देता है (३।१५)। प्रकृति में ही नहीं मनुष्यों में भी प्रभूत परिवर्तन हो गया है। जनक ने राज-पाट त्यागकर वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया है। ऋष्यश्रृंग का द्वादश वार्षिक सत्र भी समाप्त हो चुका है। किन्तु इस परिवर्तन के अनवरत प्रवाह में कुछ ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो स्थिर हैं। पर्वत जैसे-के-तैसे हैं

(२।२७)। हरिण सीता को अब भी याद करते हैं (३।२०,२१)। वसिष्ठ और अरुन्धती रघुकुल के हितों की रक्षा में पूर्ववत् तत्पर हैं। राम के हृदय में सीता की स्मृति भी ज्यों-की-त्यों है (३।१४)।

'उत्तररामचरित' में 'विष्कम्भकों' का प्रयोग बड़ी नाटकीय कुशलता से हुआ है। उसमें सभी आवश्यक घटनाओं की सूचना दे दी गयी है, जो कथामूत्र के निर्वाह के लिए अनिवार्य हैं। द्वितीय एवं चतुर्थ अंक के विष्कम्भक इस दृष्टि से पूर्ण सफल हैं। भवभूति ने 'नाटकीय सोत्प्रास' (Dramatic Irony) के भी कई सुन्दर उदाहरण उपस्थित किये हैं। जिस समय राम सीता के विषय मे कहते है—'किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः' (१।३८), उसी क्षण प्रतिहारी प्रवेश करके कहती है—'देव ! उपस्थितः।' राम भय-चकित होकर पूछते हैं—'अयि कः ?' इस प्रकार वह उत्तर देती है—'आसन्नपरिचारिको देवस्य दुर्मुखः।' यहाँ 'उपस्थितः' शब्द के 'पताकास्थानक' से भावी घटनाओ की ओर कैसा सुन्दर संकेत उपस्थित हो गया है। चौथे और पाँचवें अंक तथा सम्पूर्ण प्रत्यभिज्ञान दृश्य मे भी सोत्प्रास दर्शनीय है।

दोष—इस प्रकार 'उत्तररामचरित' मे एक सरल नाटक के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। हाँ, एक त्रुटि, जिसकी ओर अनेक आलोचकों ने निर्देश दिया है, यह है कि इनमें वर्णनात्मक प्रसगों का आधिक्य और घटनाओ की न्यूनता पाई जाती है। द्वितीय, तृतीय तथा पंचम अंकों में कथानक का प्रवाह अवरुद्ध-सा हो गया है। एक आलोचक ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यदि द्वितीय और पंचम अक निकाल भी दिये जायँ तो नाटक की कथावस्तु में कोई क्षति नही पहुँचेगी। वर्णनात्मक प्रसगों के प्राचुर्य के कारण ही मैक्डॉनल महोदय 'उत्तररामचरित' को नाटक कहने की अपेक्षा नाट्य-काव्य कहना अधिक संगत समझते हैं। किन्तु हमे यह न भूलना चाहिये कि 'उत्तररामचरित' में बाह्य घटनाओ का घात-प्रतिघात गौण है और भावों का अतर्द्वन्द्व ही प्रधान है। भारतीय आलोचकों ने तो भवभूति को उत्कृष्ट कोटि का नाटककार माना है। धनपाल ने अपनी 'तिलकमंजरी' में भवभूति की नाट्य-कला की इस प्रकार प्रशंसा की है—

स्पष्टभावरसा चित्रैः पदन्यासैः प्रवर्तिता।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना ॥३०

भवभूति की शैली—संस्कृत भाषा पर भवभूति का असामान्य अधिकार था। 'उत्तररामचरित' के आरम्भ में ही उन्होंने जो गर्वोक्ति की है—'यं ब्रह्माणमियाँ देवी वाग् वश्येवानुवर्त्तते', वह अक्षरशः सत्य है। वास्तव में, भाषा एक दासी की भाँति उनके संकेत पर चलती है। भवभूति की शैली का विशेष गुण उनका समुचित शब्द-विन्यास है। उनका शब्द-शोधन अद्वितीय है। अवसर के अनुरूप भाषा का प्रयोग

करते हैं। उनकी भाषा तथा भावों में अनुपम सामंजस्य है। जो भवभूति भयंकर युद्ध-वर्णन के समय अथवा प्रकृति के प्रचण्ड और भैरव दृश्यों के चित्रण के समय लम्बे-लम्बे समासवाले ओजोगुणविशिष्ट क्लिष्ट पद्य[1] लिख सकते हैं, वही भवभूति ललित एवं सुकुमार भावों का वर्णन करते समय समासरहित सरल मधुर पदावली का प्रयोग[2] भी करते हैं। गौड़ी शैली के धुरन्धर आचार्य होते हुए भी वे वैदर्भी रीति के प्रयोग में पारंगत हैं। जब कभी वे हमारी अन्तर्भावनाओं को आन्दोलित कर किसी तीव्र मनोराग की व्यंजना करना चाहते हैं, तब वे सरल-सुगम शैली का ही आश्रय लेते हैं। एक नमूना देखिये। वासन्ती राम को सीता का परित्याग करने के कारण उपालम्भ दे रही है—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तिमथवा किमिहोत्तरेण ॥३।२६

'हे देव, पहले तो आपने उस भोली-भाली (सीता) को ऐसे-ऐसे सैकड़ों प्रिय वाक्यों से फुसलाया कि—तुम प्राण हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों की चन्द्रिका हो और तुम्हारा गात्र-स्पर्श मेरे अंगों को अमृत के समान सुखदायक है; और बाद में हाय ! उसी को आपने····! अथवा जाने दीजिये, उसे कहने से लाभ ही क्या ?' वासन्ती के इस क्षोभपूर्ण उपालम्भ मे अंतर्गूढ़ व्यथा का कैसा तीव्र दंशन है ! फिर भी पदावली कैसी सरल और प्रांजल है ! अंतिम पंक्ति मे तो कवि ने उसके मुख से कुछ भी न कहलाकर मानो सब कुछ कहला दिया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भवभूति का भाषा पर असामान्य अधिकार था। क्लिष्ट-से-क्लिष्ट और सरल-से-सरल भाषा के प्रयोग मे समान रूप से कुशल थे। वे जिस सुगमता से "कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः' जैसी समास-बहुल क्लिष्ट पदावली का प्रयोग कर सकते थे, उसी सुगमता से 'वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे' जैसी सर्वथा समास-रहित सरल पदावली का भी। कभी-कभी तो वे अपने इस भाषा-नैपुण्य का परिचय एक ही पद्य में देते है, जिसके पूर्वार्द्ध में कोमल भाव के प्रकाशन के लिए वैदर्भी रीति की सुकुमार पदावली प्रयुक्त की गई है और उत्तरार्ध में वीरोल्लास को व्यंजना के लिए गौड़ी की गाढ़बंधता रखी गई है—

---

१. उ० च० २।८, २।१६, २।२८, ५।८, ५।१४, ६।१
२. उ० च० १।३६, २।४, ३।५, ३।२५, ४।११, ६।५

यथेन्द्रावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
तथैवास्मिन् दृष्टिर्मम कलहकामः पुनरयम् ।
झणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद् गुरुधनु-
र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालोल्बणरसः ।।५।२६

'जिस प्रकार परिपूर्ण चन्द्रमण्डल के उदय होने पर कुमुदिनी प्रमुदित हो उठती है, उसी प्रकार मेरे नेत्र इस (चन्द्रकेतु) को देखकर हर्षोत्फुल्ल हो रहे है। फिर भी, यह मेरी भुजा युद्ध करने के लिए आतुर हो रही है, जिस (भुजा) ने भीषण टंकार और गुंजार करती हुई प्रत्यंचा से युक्त इस विशाल धनुष को प्रेमपूर्वक धारण कर रखा है और जो विकट एवं विकराल वीर-रस से ओत-प्रोत हो रही है।'

भवभूति ने अपनी शैली का आदर्श बताते हुए कहा है कि भाषा का प्रौढ़त्व, व्यंजना-प्रणाली का औदार्य तथा अर्थ-गौरव ही पांडित्य और वैदग्ध्य (कलात्मक प्रतिभा) के परिचायक हैं—

यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम् ।
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः ।।

भवभूति ने अपनी कृतियों में स्वयं इस आदर्श का पूर्णतया पालन भी किया है। इस कसौटी पर उनकी शैली खरी उतरती है। वास्तव में उनके नाटकों में भाषा की प्रौढ़ता, शब्द-विन्यास की प्रांजलता, भावों की गरिमा, ये सभी गुण सर्वत्र समान रूप से परिलक्षित होते हैं। अतः यह निःसंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि भवभूति की शैली में पाण्डित्य और प्रतिभा इन दोनों का अपूर्व मणिकांचन संयोग हुआ है।

भवभूति की रचनाओं में काव्य-कला का भाव-पक्ष ही प्रधान है और विभाव पक्ष गौड़। मानवीय मनोभावों के विश्लेषण और मार्मिक चित्रण में भवभूति अद्वितीय हैं। किसी राग या मनोविकार का चित्रण करते समय वे कालिदास के समान उपमा आदि अलंकारों का आश्रय नहीं लेते, वरन् अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में उसकी गूढ़-से-गूढ़ दशा का बड़ा ही सूक्ष्म और ब्योरेवार वर्णन उपस्थित कर देते हैं। चित्र-दर्शन के दृश्य में सीताहरण का चित्र देखकर राम की व्यथा पुनः जागृत हो उठती है, पर उसे किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक दबा देते हैं, इसका कवि ने लक्ष्मण द्वारा कैसा हृदयग्राही वर्णन कराया है—

अयं ते बाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो-
विसर्पन्धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः ।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः ।।१।२८

'आपका यह अश्रु-प्रवाह, मोतियों की टूटी लड़ी की भाँति, अनेक धाराओं में टप-टप गिरता हुआ पृथ्वी पर पहुँचकर बिखर रहा है। बरबस दबाये जाने पर भी आपके हृदय का यह भरा हुआ उद्वेग, आपके फड़कते हुए ओठों तथा नासापुटों द्वारा, दूसरों को सहज ही सूचित हो रहा है।'

भवभूति किसी भाव-विशेष अथवा अवस्था-विशेष का ऐसा सजीव और क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत कर देते हैं कि एक चित्र-सा उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार के वर्णनों में काव्यालकारों का अभाव भले ही हो, फिर भी वे अत्यन्त प्रभावोत्पादक होते हैं। एक नमूना देखिये। राम सीता को वनवास के मधुर दिनों की याद दिला रहे हैं—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥१।२७

'(इस गोदावरी के तट पर) हम दोनों जब विश्राम करते समय कपोल से कपोल सटाकर तथा परस्पर एक दूसरे की भुजाओं के आलिंगन मे बद्ध होकर धीमे स्वर मे इधर-उधर की बाते किया करते थे, तब रात्रि के प्रहर कब बीत जाते थे, इसका हम लोगों को पता ही नही चलता था।'

भवभूति भावों की इतनी गहराई तक पहुँचते हैं कि वे कभी-कभी अनेक भावों का एक साथ ही पचामृत उपस्थित कर देते है। बारह वर्ष के दीर्घ वियोग के बाद दण्डकारण्य मे अपने प्राणवल्लभ राम का साक्षात्कार कर सीता के हृदय में एक साथ ही कितने प्रकार के भावों का संचार हो रहा है। इसका अपूर्व चित्र देखिये—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥३।१३

तमसा सीता से कह रही हैं—'हे बेटी, इस समय तुम्हारा हृदय पुनः समागम की आशा न रह जाने से उपेक्षामय, अकारण परित्याग से विषादपूर्ण, दीर्घ वियोग में अचानक भेंट हो जाने से नितान्त स्तब्ध, राम से सहज सौजन्य से प्रसन्न, प्रिय के विलापों के कारण अत्यन्त शोकाकुल तथा निरतिशय प्रेम के कारण सर्वथा द्रवीभूत-सा हो रहा है।' यहाँ पर कवि ने किस कौशल से एक के बाद दूसरे भाव का क्रमशः उदय और लय दिखलाया है।

भवभूति की विशद वर्णना-शक्ति अद्भुत है। वे प्रवाहयुक्त शोभा (६।२५) के साथ वर्णन कर सकते हैं और मार्मिक वेग (५।३३) के साथ भी। वे बाल्यावस्था की मुग्धकारिणी सरलता (१।२०; ४।४), किशोरावस्था की सहज चपलता (४।२६), यौवन की उद्दाम किन्तु मर्यादित शृङ्गार-भावना (७।३५) तथा प्रौढ़त्व एवं वार्धक्य की स्नेहपूर्ण वात्सल्य वृत्ति (४।१९; ६।२२) का बड़ा ही सरल एवं हृदयग्राही वर्णन करते हैं। अनेक रसों के वर्णन मे भवभूति सिद्धहस्त हैं। 'महावीरचरित' में वीर-रस का और 'मालतीमाधव' में शृंगार-रस का सजीव चित्रण हुआ है। करुण-रस की मार्मिक अभिव्यक्ति 'उत्तररामचरित' मे की गई है! अनेक रसों का सुन्दर समन्वय एक ही पद्य मे कर देना भवभूति की विशेषता है, जैसे भयानक और वीभत्स का (२।१६), अद्भुत और वीर का (५।३) तथा शृंगार और करुण का (१।२४)। पुरुष-सौन्दर्य का वर्णन भवभूति ने अनेक स्थलों[1] पर किया है। कुश के पौरुषातिरेक का वर्णन देखिये—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानः वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥६।१९

'इसकी दृष्टि तीनों लोकों की सारभूत शक्ति का तृणवत् समझ रही है। इसकी धीर और उद्धत चाल मानो पृथ्वी को कँपा रही है। बालक होने पर भी इसमे पर्वत की-सी गरिमा है। यह मूर्तिमान् वीर-रस चला आ रहा है अथवा साक्षात् दर्प ही ?'

भवभूति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे परम्पराभुक्त प्रणाली का अनुसरण न कर नई-नई मौलिक कल्पनाओं की उद्भावना करते हैं। गजविहार का एक रोचक चित्र देखिये—

लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु सम्पादितः
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसंक्रान्तयः ।
सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामे पुनः
यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ॥३।१६

'देखो, इस हाथी ने पहले तो सहज ही अपने सूँड़ से कमलनालों को उखाड़-उखाड़कर और उनके छोटे-छोटे टुकड़ो को कौर बनाकर इस (हथिनी) को खिलाये। फिर खिले हुए कमल-पुष्पों से सुवासित इस तालाब के स्वच्छ जल को अपने सूँड़ मे भर-भरकर उसके मुँह में डाला। उसके बाद सूँड़ से जल-कणों के फौवारे निकालकर उसके शरीर पर भरपूर छिड़काव किया। अन्त में अत्यन्त प्रेमपूर्वक अपनी प्रियतमा के मस्तक के ऊपर एक सीधी नालवाले कमल के चौड़े से पत्ते का छाता भी तान दिया।' इस

---

१. उ० च० ३।२२, ५।२, ११, ३६; ६।२०

प्रकार भवभूति ने पशु-जगत् मे भी शुद्ध दाम्पत्य-प्रेम की कैसी सुन्दर झाँकी दिखाई है ! भवभूति ने पशुओं के कई सुन्दर चित्र[1] उपस्थित किये हैं और मानव भावनाओं से समन्वित[2] दिखाया है।

भवभूति अपने पद्यों में अर्थ के अनुकूल ध्वनि पैदा करने में विशेष कुशल हैं। उनके शब्दों में वर्ण्य-वस्तु की झंकार स्पष्ट सुनाई पड़ती है। तूफान का भयावह दृश्य उपस्थित करते समय,[3] रणक्षेत्र के भीषण दृश्यों का चित्रण करते समय[4] अथवा श्मशान का बीभत्स दृश्य प्रस्तुत करते समय[5] उनकी पदावली अपनी नादात्मक प्रतिध्वनि मे ही उन दृश्यों के स्वरूप का आभास देती है। पर्वत की पाषाणमयी कन्दराओं मे प्रवाहित होती हुई गोदावरी-धारा का ध्वनि-चित्र देखिये—

'एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयः' (२।३०)।

भवभूति ने छन्दों के प्रयोग मे भी बड़ी प्रवीणता दिखाई है। वे कभी तो मसृण अथवा विकट वर्णों के विन्यास-कौशल से और कभी छन्द की नादात्मक गति मे ही भाव की व्यंजना कर देते हैं। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पद्य को पढ़िये, जिसमें राम के मनस्ताप की उत्तरोत्तर वृद्धि का चित्रण कैसे छन्दःकौशल के द्वारा किया गया है—

हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥ ३।३८

'हा देवि ! तुम्हारे विरह से मेरा हृदय फटा जाता है। शरीर टुकड़े-टुकड़े हो रहा है। संसार मेरे लिए शून्य-सा हो रहा है। मैं भीतर-ही-भीतर विरह-ज्वाला में जला जा रहा हूँ। मेरा विकल अन्तस्तल गाढ़ान्धकार में धँसा जा रहा है। चारों ओर से मुझे मूर्च्छाजनक मोह घेर रहा है। हाय ! मैं मन्दभागी अब क्या करूँ ?' छन्दों में 'शिखरिणी' के प्रयोग मे भवभूति अद्वितीय माने जाते हैं। क्षेमेन्द्र ने भवभूति की शिखरिणी की बड़ी प्रशंसा की है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥ सुवृत्ततिलक ३।३३

भवभूति अपने पात्रों के मुख से तदनुरूप भाषा का ही प्रयोग करते हैं। वाल्मीकि-शिष्य लव की भाषा (५।३१) उसकी धार्मिक शिक्षा तथा आश्रम-वास का

१. उ० ३।१५, १९ २. उ० ३।१६, १८, २०, २१ ३. मा० मा० ९।१७
४. उ० ५।०; ६।१ ५. उत्कृत्योत्कृत्य०'—मा० मा० अंक ५

परिचय देती है। जनक और तपस्विगण अपने शब्दों द्वारा अपने दार्शनिक ज्ञान का आभास देते हैं। तमसा आदि नदियाँ अपनी बातचीत में ऐसी ही उपमाएँ देती हैं जिनका सम्बन्ध जल से है (३।४७)।

भवभूति ने अलंकारों का प्रयोग एक कलाकार की भाँति किया है। उन्होंने मौलिक उपमाओं का आविर्भाव किया है। हृदय-कुसुम को सुखाने वाला दीर्घ शोक, जानकी के, डाल से तोड़े गये कोमल किसलय के समान, पीले शरीर को उसी भाँति सुखा रहा है जैसे शरत्काल की कड़ी धूप केवड़े के अन्दर की कोमल पंखुड़ियों को (३।५)। रावण द्वारा अपहरण की जानेवाली सीता मेघ के बीच छटपटाती हुई विद्युत् के समान है (३।४३)। कुश की मधुर मांसल कंठध्वनि से राम का शरीर उसी प्रकार पुलकित हो उठता है जैसे नये नीले बादलों के गम्भीर गर्जन से कदम्ब का पुष्प खिल जाता है (५।१७)। उपमा-प्रयोग में भवभूति की यह विशेषता है कि वे द्रव्य की उपमा किसी गुण से देते हैं अथवा मूर्त वस्तु की उपमा किसी अमूर्त भाव से। विरह-विधुरा जानकी करुण-रस की साक्षात् मूर्ति हैं अथवा मूर्तिमती विरह-व्यथा ही (३।४)।

भवभूति की गद्य-शैली का एक उदाहरण देखिये। सीता राम के चित्र का वर्णन कर रही हैं—'अहो दलन्नवनीलोत्पलश्यामलस्निग्धमसृणमांसलेन देहसौभाग्येन विस्मयस्तिमिततातदृश्यमानसौम्यसुन्दरश्रीरनादरखण्डितशंकरशरासनः शिखण्डमुग्ध-मुखमण्डल आर्यपुत्र आलिखितः।'—'अहा, प्रस्फुटित नूतन नील कमल के समान श्यामल, स्निग्ध, मसृण (चिकने), शोभायुक्त और मांसल (गठीले) शरीर से युक्त यह कैसा अवर्णनीय सौंदर्य है! आकार सौम्य एवं सुन्दर है, मुखमण्डल भोलेपन से भरा और काकपक्ष की भाँति कटे हुए केशों से कमनीय है। आर्यपुत्र की ओर पिताजी (जनक) विस्मयपूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। आर्यपुत्र ने अनायास ही शंकर के धनुष को तोड़ डाला है। अहा! आर्यपुत्र की कैसी मनोरम मूर्ति इस चित्र में अंकित है।'

भवभूति कहीं-कहीं व्यंग्य का बड़ा मार्मिक प्रयोग करते हैं। प्रथम अङ्क में राम को 'नूतन राजा' कहा गया है, जो कोई भी (सीता-निर्वासन का भी) आदेश दे सकते हैं, जिसके पालन में 'ननु-नच' की आवश्यकता नहीं। तृतीय अंक में राम का विशेषण 'रघुनन्दनः' है, जिससे यह संकेत मिलता है कि वे अपने वंश की ही चिन्ता करते हैं। चौथे अंक में हमें 'प्रजापालकस्य' मिलता है, न कि 'प्रियापालकस्य'। यहाँ पर राम द्वारा अपनी निर्दोष लक्ष्मी-सम भार्या के परित्याग की ओर व्यंग्यात्मक संकेत है। लव की राम के प्रति क्या ही अनूठी व्यंग्योक्ति है—

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते
सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीण्यपराङ्मुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥५।३५

'श्री रामचन्द्रजी वयोवृद्ध हैं। अतः उनके चरित्र की आलोचना उचित नहीं। उनके विषय में क्या कहा जाय ? सुन्द की अबला स्त्री (ताटका) को मारकर भी उनके धवल यश में बट्टा नहीं लगा और वे संसार में अब भी महापुरुष माने जाते हैं; खर राक्षस से युद्ध करते समय वे जो तीन डग पीछे हटे थे अथवा इन्द्र के पुत्र (बाली) को मारने में उन्होने जिस कौशल का आश्रय लिया था, उन सभी बातों से सारा संसार भली-भाँति परिचित है।'

भवभूति की गम्भीर शैली में हास्य के लिए विशेष अवकाश नहीं था। फिर भी अपने नाटकों में उन्होंने जहाँ कहीं हास्य की अवतारणा की है, वहाँ उनका हास्य बड़ा ही संयत, शिष्ट एवं परिष्कृत रुचि का परिचायक हुआ है। उनका गम्भीर हास्य स्मित की सीमा का उल्लंघन नहीं करता—हृदय में एक कोमल गुदगुदी-सी पैदा करके अपने वैदग्ध्य-मात्र से मुग्ध कर देता है। उनका हास्य 'विकृतांगवचोवेशैः' प्रणाली से उत्पन्न न होकर बौद्धिक विनोद पर अवलंबित रहता है। उनके शिष्ट हास्य के कुछ उदाहरण देखिये। सीता चित्र में ऊर्मिला की ओर संकेत करके लक्ष्मण से विनोद करती हैं—'वत्स, इयमपरा का ?', किन्तु यह परिहास भी सीता की मातृत्व-भावना के सर्वथा अनुकूल है। चौथे अंक के विष्कम्भक में दाण्डायन और सौधातकि की बातचीत भी विनोदपूर्ण हुई है। वाल्मीकि के आश्रम में रहनेवाले बालकों ने पहले-पहल घोड़े को देखकर जो उसका परिचयात्मक वर्णन किया है, वह भी कम हास्यजनक नहीं (४।२७)।

भवभूति व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे (पदवाक्यप्रमाणज्ञः)। उन्होंने 'उत्तररामचरित' में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो 'अमरकोश' तक में नहीं मिलते, जैसे 'आकूत' (५।३५), 'उत्पीड' (१।८), 'कन्दल' (३।११), 'कुम्भीनस' (२।२८), 'प्रचलाकिन' (२।२८), 'प्रतिसूर्यक' (२।१६) आदि। उनके नाटकों में अनेक स्थलों पर उनके वैदिक ज्ञान का भी परिचय मिलता है। भवभूति ने कुछ वाक्यों की वैदिक शैली में रचना भी की है, जैसे—'परं ते ज्योतिः प्रकाशताम्। अयं त्वा पुनातु देवः परोरजा य एष तपति।' (उ० च० अंक ४)

भवभूति शब्दों, पदों और समग्र श्लोकों को अपनी कृतियों में प्रायः दुहराते हैं। 'उत्तररामचरित' में कम-से-कम १७ श्लोक हैं जो 'महावीरचरित' या 'मालती-माधव' में प्रयुक्त हो चुके हैं। भवभूति चुने हुए शब्दों में भाव-प्रकाशन के स्थान पर

विस्तार से भावों का प्रदर्शन करते हैं, उसमें वाच्य अर्थ की प्रधानता है। वे पर्याप्त कहने पर भी रुक नहीं सकते। वे हृदय की व्यथा को अत्यधिक व्यक्त करके उसे किंचित् अतिरंजित कर देते हैं। विलाप-वर्णन में तथा युद्ध-वर्णन में उनका विपुल वाग्विलास कुछ लोगों को खटकता है। फिर भी भवभूति की काव्य-धारा एक अवर्णनीय रसानन्द का संचार करती है 'तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते।'

भवभूति का प्रकृति-वर्णन—भवभूति की शैली में उनके संश्लिष्ट एवं चित्रोपम प्रकृति-वर्णन का भी प्रमुख स्थान है। प्रकृति के प्रति उनका अनंत अनुराग था। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन उन्होंने आलम्बन के रूप में ही किया है, उद्दीपन के रूप में नहीं। उनका जन्म विदर्भ प्रान्त में हुआ था, अतः वहाँ के कान्तारमय भीषण प्राकृतिक दृश्यों का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। यही कारण है कि प्रकृति-वर्णन करते समय भवभूति की दृष्टि प्रकृति के सामान्य, चिर-परिचित, सीधे-सादे, प्रशान्त एवं मधुर दृश्यों की ओर न रहकर उसके असाधारण, प्रचण्ड और घोर दृश्यों की ओर ही अधिकतर रहती है। अपने तीनों नाटकों[1] में उन्होंने प्रकृति के प्रभावोत्पादक दृश्यों का स्थान-स्थान पर विशद वर्णन किया है। दण्डकारण्य की भीषणता देखिये—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥२।१६

'इस भीषण वन में कहीं बिलकुल सन्नाटा छाया हुआ है। और कहीं हिंस्र पशुओं की प्रचण्ड गर्जना सुनाई पड़ती है; कहीं स्वेच्छापूर्वक सोये हुए, गम्भीर फूत्कार करने वाले सर्पों के निःश्वासों से प्रज्वलित होकर आग लग गई है; कहीं गड्ढों में थोड़ा-सा पानी झिलमिला रहा है और कहीं प्यास के मारे विह्वल कृकलास (गिरगिट) अजगर के शरीर का पसीना पी रहे हैं।' भवभूति के प्रकृति-वर्णन जितने विशद हैं, उतने ही सूक्ष्म एवं यथार्थ भी। दोपहर की भीषण गरमी के समय गोदावरी के किनारे का दृश्य देखिये—

कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन सम्पातिभिः
घर्मस्रंसितबन्धनैः स्वकुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम्।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः ॥२।८

'गोदावरी के तट पर स्थित वृक्षों के तनों से जब बड़े-बड़े हाथी अपनी खुजली मिटाने

---

1. मा० मा० ९।१६; म० च० ७।१०

के लिए अपने कपोल-स्थलों को रगड़ते हैं। तब ये वृक्ष हिल पड़ते हैं, जिससे धूप से कुम्हलाये हुए उनके शिथिल-वृन्त पुष्प गोदावरी के जल में चू पड़ते हैं, मानो ये वृक्ष इस प्रकार भगवती गोदावरी की पूजा कर रहे हों। इन वृक्षों के घोंसलों में बैठे हुए, दोपहरी की भीषण उष्णता से त्रस्त और विकल पक्षी कूज रहे हैं। कहीं-कहीं इन वृक्षों की शाखाओं पर छाया में बैठे हुए कुछ जंगली पक्षी अपनी चोंचो से छालों को कुरेद-कुरेदकर कीड़ों को निकालकर खा रहे है।'

भवभूति ने प्रकृति के घोर और भयावह दृश्यों का ही चित्रण नही किया है, कभी-कभी वे प्रकृति के रम्य रूपों का भी उद्घाटन करते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि वे इन रम्य रूपों पर अपनी कल्पना का पुट चढाकर उन्हें रंगीन नहीं बनाते, अपितु उनकी नैसर्गिक नग्न सुषमा का ही यथावत् चित्रण करते हैं। बहते हुए पहाड़ी झरनों का एक सुन्दर दृश्य देखिये—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥२।२०

'देखो, ये झरने बह रहे हैं। इनके किनारे बेंत की कुंजों में बैठे मधुर कंठ वाले पक्षी कलरव कर रहे हैं। इन कुंजों की छाया झरनों के प्रवाह पर पड़ रही है। कुंजों के फूल गिर-गिरकर झरनों के जल को सुगन्धित बना रहे हैं। जब ये झरने पके हुए काले फलों के गुच्छों से लदी जामुन की सघन शाखाओं से टकराकर प्रवाहित होते हैं, तब अनेक धाराओं में फूट पड़ते हैं।' कैसा स्वाभाविक बिम्बग्राही चित्रण है ! ऐसे संश्लिष्ट रूपयोजनात्मक चित्रण संस्कृत साहित्य में बहुत कम मिलते हैं। सच पूछा जाय तो भवभूति प्रकृतिदेवी के अनन्य उपासक थे। उन्होंने प्रकृति से आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित किया था। तभी तो उनकी वन-देवी (वासन्ती) और नदियाँ भी मूर्तिमती हो साक्षात् सजीव प्राणियों जैसा आचरण करती हैं (३।२)। भवभूति की दृष्टि मे वन के पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि हमारे सखा और स्नेही स्वजन हैं—'यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे' (३।८)। अतः उनका प्रकृति-पर्यवेक्षण सर्वथा मौलिक और प्रभावोत्पादक है।

करुण-रस के आचार्य भवभूति—करुण-रस के क्षेत्र में महाकवि भवभूति की समानता करनेवाला अन्य कोई कवि नहीं है—'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते'। भवभूति के करुण-रस की प्रशंसा करते हुए श्री गोवर्धनाचार्य अपनी 'आर्यासप्तशती' में कहते हैं—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतात्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥ आ० स० १।३६

'भवभूति (कवि भवभूति अथवा शिव) के सम्बन्ध से सरस्वती भी शैलाधिराजतनया पार्वती के समान शोभित हो रही है, क्योंकि जब यह (भवभूति की वाणी अथवा पार्वती) करुण-भाव की व्यंजना (अथवा विलाप) करने लगती है, तब औरों की तो बात ही क्या, पत्थर भी रो पड़ते हैं ।' गोवर्धनाचार्य की इस प्रशंसात्मक सूक्ति में 'उत्तररामचरित' की इस लोकप्रसिद्ध पंक्ति—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' (१.२८) की ओर कैसा सुन्दर संकेत हुआ है !

'उत्तररामचरित' भवभूति का करुण-रस-प्रधान नाटक है । इसमें करुण-रस की अपूर्व व्यंजना हुई है । यद्यपि 'नाट्यशास्त्र' के नियमानुसार किसी भी संस्कृत नाटक का प्रधानभूत रस शृंगार या वीर ही होना चाहिये और इसी रूढि के अनुसार कुछ विद्वान् 'उत्तररामचरित' को विप्रलंभ शृंगार के अंतर्गत घसीटने का व्यर्थ प्रयास भी करते हैं, तथापि वास्तविक बात यह है कि भवभूति ने इस पुरानी पड़ी रूढ़ि की उपेक्षा कर एक अभिनव आदर्श की सृष्टि की । उन्होंने उत्तर-चरित में 'करुण' को ही प्रधानता दी । करुण-रस के व्यापक और स्थायी प्रभाव को भवभूति भली-भाँति जानते थे । वे तो यहाँ तक कहते हैं कि और सब रस करुण-रस के ही रूपांतर हैं—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान् ।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम् ॥३।४७

'करुण-रस ही एकमात्र मुख्य रस है । जिस प्रकार एक ही (समुद्र का) जल कभी भँवर के रूप को, कभी बुद्बुद (बबूले) के रूप को और कभी तरंगों के रूप को धारण कर लेता है, किन्तु वास्तव में है सब जल ही, उसी प्रकार निमित्त भेद से अर्थात् रस-सामग्री (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव) के वैलक्षण्य-मात्र से एक ही करुण-रस और रसों के रूप को धारण कर लेता है ।'

यह श्लोक समस्त 'उत्तररामचरित' नाटक का मानो बीज-मंत्र है । वास्तव में देखा जाय तो 'उत्तररामचरित' के सारे अङ्क स्पष्ट रूप से या प्रकारान्तर से प्रेक्षकों के हृदय में कारुण्य का ही संचार करते हैं । नाटक के प्रारम्भ में ही हम देखते हैं कि राम, जनक के चले जाने पर खिन्न-चित सीता को सान्त्वना दे रहे हैं ।[1] चित्र-दर्शन के समय भी राम और सीता अपने अतीत के दुःखों का स्मरण कर जिस परितोष का

---

१. १।७,८

अनुभव करते हैं[१] वह हृदयस्पर्शी करुण-रस से पूर्णतया सिक्त है। पंचवटी का चित्र देखकर राम और सीता दोनों अपने वियोग का अनायास स्मरण कर विकल हो उठते हैं।[२] इस चित्र-दर्शन वाले दृश्य में हम पति-पत्नी में उस प्रगाढ़ अनुराग का भी दर्शन करते हैं,[३] जो निकट भविष्य में आनेवाले शोक की गरिमा को और भी असह्य बना देता है! आघात उसी समय होता है जब राम प्रणय के निर्भर भाव में तल्लीन हो जाते हैं और क्लान्त, कातर पतिप्राणा सीता पति की अभय-दान करने वाली भुजा पर ही सो जाती हैं। आनन्द-मधु का प्याला राम के ओंठों तक आया था[४] कि निष्ठुर विधि ने उसे छीनकर फेंक दिया।[५]

दूसरे अंक में राम अपने चिर-परिचित-दण्डकारण्य एवं पंचवटी प्रदेश में प्रवेश करते हैं। इन्हीं वनों में सीता के साथ अनुभूत अपने अतीत सौख्यों को स्मरण कर राम की व्यथा उमड़ आती है—

चिराद्वेगारम्भो प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शङ्कुलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
घनीभूतः शोको विकलयति मां मूर्च्छयति च ॥२।२६

'मेरा यह घनीभूत शोक विष के समान बहुत दिनों के बाद आज अचानक उभड़कर सारे शरीर में व्याप्त हो रहा है। ऐसा मालूम पड़ता है कि हृदय में गड़े हुए शल्य को किसी ने जोर से धक्का देकर हिला दिया है। मेरे हृदय के मर्मस्थल का जो घाव भर रहा था, वह मानो आज फिर से दरक कर फूट पड़ा है। यह दारुण शोक मुझे विकल कर रहा है, मैं मूर्च्छित हुआ जा रहा हूँ।'

तृतीय अंक तो करुण-रस का मानो अगाध सागर ही है। करुण-रस की जैसी तीव्र, गम्भीर एवं मर्मस्पर्शिनी व्यंजना इसमें हुई है, वैसी शायद ही कहीं और हुई हो। इस अंक में भवभूति की वाणी वास्तव में 'करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी' ही हो उठी है।

चौथे अंक में जनक और कौसल्या एक ओर भूतकाल की सुखद स्मृतियों को याद करते हैं,[६] दूसरी ओर सीता को मृत मानकर विलाप करते हैं।[७] ब्रह्मज्ञानी जनक और राम-जननी कौसल्या को इस प्रकार प्राकृत मनुष्य की भाँति शोकाभिभूत देखकर प्रेक्षकों के हृदय में स्वभावतः उनके प्रति हार्दिक समवेदना जागृत हो उठती है। लव को देखकर जनक अपनी पुत्री सीता के अंग-लावण्य का स्मरण कर दुःखी ही होते हैं।[८]

---

१. १।२४-२७ २. १।२८-३०,३३ ३. १।१८, २०, ३४, ३६, ३७
४. १।३८, ३९ ५. १।४० ६. ४।१३, १४,१७
७. ४।३, २३ ८. ४।२१, २२

पाँचवें अंक में चन्द्रकेतु और उनके सारथि सुमन्त्र लव को देखकर रघु के किसी अज्ञात वंशज की कल्पना करते हैं,[1] पर सीता का स्मरण कर इस आशा को दुराशा मान शोक का अनुभव करते हैं।[2] लक्ष्मण-पुत्र चन्द्रकेतु तथा राम-तनय लव एक दूसरे को न जानते हुए परस्पर युद्ध करते हैं, यह घटना ही क्या कम करुणोत्पादक है?

छठे अंक में राम लव-कुश से मिलकर अपूर्व वात्सल्य का अनुभव करते हैं,[3] पर उनकी आकृति में सीता के सौन्दर्य की झाँकी कर[4] तथा निर्वासन के समय सीता की गर्भभरालसा अवस्था का स्मरण कर वे शोकाभिभूत हो जाते हैं।[5] राम की यह करुणोक्ति कितनी हृदयस्पर्शी है—

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासेऽप्याश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव ॥६।३८

'प्रिय का अनवरत ध्यान करते-करते प्रिय की मूर्ति मानो आँखों के सामने स्थापित हो जाती है, इस प्रकार वियोग में भी वह आश्वासन ही प्रदान करता है। किन्तु ज्योंही उसकी कल्पित मूर्ति ध्यान से हट जाती है, त्योंही यह सारा संसार एक सुनसान जंगल के समान लगने लगता है और हृदय मानो धधकते हुए अंगारों पर रख दिया जाता है।'

सातवें अंक में सीता और राम का पुनर्मिलन होता है, किन्तु इस मिलन के मूल में भी 'सीता-निर्वासन' का वह करुण अभिनय है, जिसे देखकर राम 'क्षुभित वाष्पोत्पीडनिर्भर' होकर अनेक बार मूच्छित हो जाते हैं। सच पूछा जाय तो यह सातवां अंक तीसरे अंक का ही नैसर्गिक चरमोत्कर्ष है। उसमें एक अपूर्व भाव-गाम्भीर्य है और करुण की ही सुखद-मधुर परिणति है।

भवभूति का करुण-रस अत्यन्त गम्भीर और मर्मस्पर्शी है। वह उस 'पुटपाक' के समान है, जिसके अन्दर तीव्र अंतर्वेदना प्रज्वलित हो रही है। यह वेदना हृदय के मर्मस्थल में अनी की तरह चुभकर दारुण यन्त्रणा तो उत्पन्न करती है, किन्तु कभी अमर्यादित उद्वेग या अनर्गल प्रलाप का रूप नहीं धारण करती।[6] यही इसका गाम्भीर्य है —

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढ घनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥३।१

हाँ, यह अवश्य है कि इस अंतर्गूढ़ व्यथा की तीव्रता या आधिक्य का आभास कराने के लिए कवि विलाप अथवा मूर्च्छादशा का बार-बार चित्रण करता है। वह जानता है

१. ५।३, ४ २. ५।२०, २५ ३. ६।१७,२१,२२
४. ६।२६, २७ ५. ६।२८ ६. उ० च० ३।३५

कि शोकातिरेक की दशा में जी भरकर रो लेने से ही हृदय हलका होता है—तालाब के लबालब भर जाने पर नालियों द्वारा बाढ़ के जल को बहा देने में ही कुशल है—'पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया ।' (३।२९)

करुण-भाव की व्यंजना में भवभूति की भावुकता मुखरित हो उठी है। वे इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि गहरे शोक के प्रकाशन के लिए अल्प शब्दों की ही आवश्यकता होती है। ये विस्तारपूर्वक हृदय की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और कोमल-से-कोमल अन्तर्दशा का मार्मिक उद्घाटन करते है। पूर्वानुभूत पवित्र दाम्पत्य-प्रेम का एक कोमल चित्र देखिये, जिसकी स्मृति राम के शोक मे और अधिक दंशक उत्पन्न कर देती है—

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥३।३७

वासन्ती राम को स्मरण दिलाती हुई कहती है—'हे देव ! देखिये यह वही लता-गृह है, जिसके द्वार पर खडे-खड़े आप सीता की बाट जोह रहे थे और सीता गोदावरी के तट पर देर तक हंसों के साथ क्रीड़ा करती हुई मनोविनोद कर रही थीं। थोड़ी देर बाद जब लौटकर सीता ने आपको उदास देखा, तब अत्यन्त कातर भाव से उन्होंने कमल की कलियों के समान अपनी उँगलियों को जोडकर (विलम्ब के लिए क्षमा-याचना करते हुए) आपको प्रणाम किया था !' इस सुकुमार प्रसंग की स्मृति से राम और सीता दोनों का शोक और अधिक उद्दीप्त हो उठता है। सीता वासन्ती को मन-ही-मन कोसती हुई कहती है—'दारुणाऽसि वासन्ति, दारुणाऽसि या एतैर्हृदयमर्मगूढशल्यसंघट्टनैः पुनः पुनरपि मां मन्दभागिनीमार्यपुत्रं च संतापयसि ।'

जिस पंचवटी के प्रकृति-रमणीय प्रदेश मे राम ने सीता के साथ जीवन के चौदह वर्ष व्यतीत किये थे, उस प्रदेश में पहुँचकर यदि उनकी अंतर्गूढ़ व्यथा एकबारगी भड़क उठे तो उसमे आश्चर्य ही क्या ! वहाँ के वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, मृग आदि सभी तो जानकी के साहचर्य से सम्बद्ध और उनकी स्मृति से संयुक्त थे। फिर एसे स्थल पर राम का शोक-संतप्त हृदय क्यों न पिघल उठे—

करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पै-
स्तरुशकुनिकुरङ्गान् मैथिली यानपुष्यत् ।
भवति मम विकारस्तेषु दृष्टेषु कोऽपि
द्रव इव हृदयस्य प्रस्तरोद्भेदयोग्यः ॥ ३।२५

ऐसी परिस्थिति में यदि पंचवटी की प्रत्येक वस्तु मे, प्रत्येक दृश्य में राम को सीता

की स्पष्ट छाया दीख पड़े[1] अथवा उनके पुलककारी स्पर्श की अनुभूति हो तो क्या यह मनोविज्ञान के साहचर्य-सिद्धांत (Law of Association) के सर्वथा अनुकूल नहीं ? सच पूछिये तो इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर भवभूति ने छाया-सीता की कल्पना की तथा तृतीय अंक का नाम छाया-अंक रखा। भले ही कुछ कट्टर यथार्थवादी भवभूति की इस कल्पना को अति मानुषिक या अलौकिक मानें, किन्तु जो लोग मनोविज्ञान के रहस्य को भली-भाँति समझते हैं, वे भवभूति की प्रशंसा ही करेंगे।

अतः भवभूति ने 'उत्तरचरित' में जो करुण-रस की मन्दाकिनी प्रवाहित की है, वह वास्तव में संस्कृत साहित्य की एक अभूतपूर्व एवं अमूल्य निधि है। इस मन्दाकिनी की अविरल धारा में सीता का परित्याग-जन्य मालिन्य सदा के लिए धुल जाता है और दो हृदयों का सच्चा अनुसंधान हो जाता है। भवभूति के करुण-रस का ही यह प्रभाव है कि जड़ भी चेतन और चेतन जड़ हो जाते हैं—

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्याः हसतः स्म स्तनावपि ॥

आदर्श प्रेम के मर्मज्ञ भवभूति—प्रेम के सम्बन्ध में भवभूति का आदर्श अत्युच्च और महान् है। उन्होंने अपने नाटकों में विशुद्ध प्रेम का ही चित्रण किया है। प्रेम के वर्णन में भवभूति कभी कामुकता के स्तर पर नहीं उतरते। वे यौवन की रोमांचकारी अवस्थाओं का चित्रण तो करते हैं,[2] किन्तु कभी कामलिप्सा की ओर संकेत नहीं करते। वे सर्वत्र अपना उदात्त गाम्भीर्य स्थिर रखते हैं।

प्रेम की व्याख्या करते हुए भवभूति कहते हैं कि प्रेम सौन्दर्य आदि बाह्य कारणों पर अवलम्बित नहीं—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयते।
विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥६।१२

'कोई आन्तरिक अनिर्वाच्य कारण ही पदार्थों या प्राणियों में प्रीति-संयोग स्थापित करता है। प्रेम कभी बाह्य कारणों पर आश्रित नहीं होता है। देखो न, सूर्य के उदय होने पर ही कमल खिलता है और चन्द्रमा के उदय होने पर ही चन्द्रकान्त-मणि द्रवीभूत होती है।' कोई बता सकता है कि ऐसा क्यों होता है ? भवभूति कहते हैं—

---

१. रामः—अयि चण्डि जानकि ! इतस्ततो दृश्यसे नानुकम्पसे ! (उ० च० अङ्क ३)
२. उ० च० १।२७

'स्नेहश्च निमित्त सव्यपेक्षश्च इति विप्रतिषिद्धमेतत्'—'प्रेम हो और फिर वह किसी कारण आश्रित हो, ये दोनों बातें एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं।' तो अकारण, स्वतः-प्रेरित और अनिर्वाच्य होता है। प्रेम का रहस्य तो केवल हृदय ही जानता है—'हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्।' (६।३२)

भवभूति के अनुसार प्रेम की ज्योति, सुख के समीर तथा दुःख की आँधियों में समान रूप से जला करती है--

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेमसुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥१।४०

'शुद्ध प्रेम जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में एकरस रहता है। हृदय को उसमें एक अनिर्वचनीय सुख और शान्ति की अनुभूति होती है। अवस्था का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वार्धक्य के कारण उसकी सरलता में कोई कमी नहीं आती। कुछ दिनों के बाद जब संकोच या दुराव का भाव दूर हो जाता है, तब वह और भी अधिक परिपक्व एवं प्रगाढ़ हो जाता है। ऐसे कल्याणकारी पवित्र दाम्पत्य-प्रेम की प्राप्ति बड़े भाग्य से ही किसी को होती है।' अपने इसी उदात्त एवं निःस्वार्थ प्रेम-भाव की व्याख्या करते हुए भवभूति कहते हैं कि प्रिय चाहे प्रेमी के लिए कुछ भी न करे किन्तु प्रेमी के लिए वह एक अमूल्य निधि है। प्रिय के सान्निध्य मात्र से प्रेमी का सारा दुःख दूर हो जाता है—

अकिंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥६।५

भवभूति ने जिस दाम्पत्य-प्रणय का चित्रण किया है, वह दुग्ध के समान धवल और गंगाजल के समान पवित्र है ---

स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते
धवलबहलमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः।

इस कथन द्वारा उन्होंने दाम्पत्य-प्रणय की इसी धवलता और पवित्रता की ओर संकेत किया है। क्या 'मालती-माधव' और क्या 'उत्तरचरित' दोनों दाम्पत्य-प्रेम का उन्होंने उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है। दाम्पत्य-प्रणय की परिणति संतान की प्राप्ति में है, इस बात को प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं—

अन्तःकरणतत्त्वस्य दंपत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते ॥३।१७

'संतान ही पति और पत्नी के स्नेहसिक्त हृदयों को एक सूत्र में बाँधने वाली आनन्द-मयी ग्रन्थि है।'

प्रेम-सम्बन्धी अपने उच्च आदर्श के कारण ही भवभूति ने अपने नाटकों में विदूषक की अवतारणा नहीं की है। उनका प्रेम किसी विलासी नृपति की प्रणय-लीला या कामुक की काम-क्रीड़ा नहीं है, जिसमें विदूषक की सहायता की आवश्यकता हो। विदूषक का उद्देश्य तो प्रायः नायक को परकीया की प्राप्ति में सहायता पहुँचाना होता है। फिर भला भवभूति की उदात्त एवं पावन-प्रणय-कल्पना में विदूषक को कैसे स्थान मिल सकता था ?

भवभूति और कालिदास—संस्कृत नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में यदि कवि-कुलगुरु कालिदास के समकक्ष गिने जाने का गौरव किसी को प्राप्त है तो महाकवि भवभूति को ही। कुछ विद्वानों की तो यहाँ तक धारणा है कि 'उत्तररामचरित' में भवभूति कालिदास से भी आगे बढ़ गये हैं—'उत्तरे रामचरिते भवभूति विशिष्यते।' कालिदास और भवभूति इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है, इस प्रश्न को लेकर हमारे प्राचीन पंडित-समाज में एक रोचक विवाद उठ खड़ा हुआ था, जैसा कि इस प्रचलित पद्य से पता चलता है—

कवयः कालिदासाद्या भवभूतिर्महाकविः।
तरवः पारिजाताद्याः स्नुहीवृक्षो महातरुः॥

भवभूति के समर्थक कहते थे—'कालिदास आदि तो केवल कवि हैं, किन्तु हमारे भवभूति महाकवि हैं।' इस पर कालिदास के प्रशंसक यह मुँहतोड़ उत्तर देते कि 'ठीक है, स्वर्ग के पारिजात आदि भी तो केवल वृक्ष ही हैं; स्नुहीवृक्ष (सेंहुड़) अवश्य 'महावृक्ष' है।' (आयुर्वेद में सेंहुड़ नामक कटीले वृक्ष को 'महातरु' कहते हैं)।

भवभूति और कालिदास की कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि भवभूति पर कालिदास का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। भवभूति ने कहीं-कहीं कालिदास के भावों से प्रेरणा भी प्राप्त की है। 'उत्तररामचरित' के प्रथम अंक के चित्र-दर्शन दृश्य की कल्पना 'स्वप्नवासवदत्त' के चित्र-दर्शन दृश्य से अथवा 'रघुवंश' के निम्नलिखित श्लोक से ली गई जान पड़ती है—

तयो र्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥१४।२५

'संसार के समस्त अभीष्ट सुखों का उपभोग करनेवाले राम और सीता जब अपनी चित्रशाला में बैठकर अपने अतीत जीवन के उन चित्रों का अवलोकन करते थे जिनमें दण्डकारण्य की दुःखद घटनाओं का चित्रण किया गया था, तब चिन्तन के क्षेत्र में आ जाने के कारण वे पूर्वानुभूत दुःख भी एक अपूर्व सुख की सृष्टि करते थे।' इसी प्रकार 'उत्तररामचरित' के छठे अंक में राम और लव-कुश के अज्ञात मिलन की कल्पना

'शाकुन्तल' के सातवें अङ्क में दुष्यन्त और भरत के अज्ञात मिलन से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। सीता की छाया-रूप में कल्पना करने का संकेत सम्भवतः 'शाकुन्तल' के छठे अंक से मिला होगा, जहाँ सानुमती अप्सरा अदृश्य रूप से ही दुष्यन्त की विरह-दशा का अवलोकन करती है। 'मालतीमाधव' के नवें अंक तथा 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अंक में भी पर्याप्त साम्य है। इसी प्रकार विरही माधव अपनी प्रेमिका मालती के पास मेघ द्वारा जो सन्देश भेजता है, उसमें भी भाव, भाषा, छन्द—सभी दृष्टियों से 'मेघदूत' का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

कालिदास और भवभूति दोनों ही संस्कृत के शीर्षस्थानीय नाटककार हैं। दोनों महाकवि अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। दोनों की कलात्मक विशेषताओं में अन्तर है। कालिदास की कविता में व्यंजना-वृत्ति की प्रधानता है तो भवभूति की वाणी में वाच्यार्थ की प्रगल्भता। कालिदास थोड़े-से चुने हुए शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति कर देते हैं तो भवभूति विपुल वाग्विस्तार द्वारा किसी भाव का विशद वर्णन करते हैं। कालिदास बहुत-कुछ अपने पाठक की कल्पना पर छोड़ देते हैं तो भवभूति सब कुछ स्वयं ही कह देते हैं। एक उदाहरण लीजिए। दुष्यन्त शकुन्तला को देखकर कहते हैं—'**अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्।**' 'अहा, मेरे नेत्रों को निर्वाण (मोक्ष अर्थात् परमानन्द) मिल गया।' उधर भवभूति का 'माधवमालती' को देखकर तथा उसकी स्नेह-निष्यन्दिनी धवल दृष्टि में स्नान कर कहता है—

अविरलमिव दाम्ना पौण्डरीकेण नद्धः
स्नपित इव च दुग्धस्रोतसा निर्भरेण।
कवलित इव कृत्स्नश्चक्षुषा स्फारितेन
प्रसभममृतवर्षेणेव सान्द्रेण सिक्तः॥

'श्वेत कमलों की माला ने मानो मुझे सिर से पैर तक ढक लिया है। दूध की अविरल धारा से मानो मुझे स्नान कराया जा रहा है। कानों तक फैले हुए मालती के विशाल सतृष्ण नेत्र मानो मुझे पी रहे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मुझ पर अमृत की सघन वर्षा हो रही है।'

अतः जहाँ कालिदास संकेत-मात्र करते हैं, वहाँ भवभूति विस्तृत वर्णन करते हैं। कालिदास की रचना-प्रणाली सरल और आडम्बर-शून्य है, पर भवभूति की वचनभंगी प्रायः प्रौढ़ और दीर्घ-समास-संकुल है। कालिदास की भाषा मसृण और कोमल है, भवभूति की प्रायः प्रगल्भ और उदात्त। दोनों कवियों की उपमा-प्रयोग-प्रणाली भी भिन्न है। कालिदास अधिकतर मूर्त्त की उपमा मूर्त्त से देते हैं, भवभूति बहुधा अमूर्त्त से। कालिदास वल्कलधारिणी शकुन्तला की उपमा सिवार में लिपटे कमल-पुष्प से देते हैं तो भवभूति सीता की तुलना मूर्तिमती करुणा या विरह-व्यथा से करते हैं।

कालिदास ने प्रायः प्रकृति के ललित एवं कोमल पहलू पर ही दृष्टि डाली है। भवभूति ने प्रकृति के प्रचड एवं घोर पक्ष को अपनाया है। कालिदास शृङ्गार-रस के क्षेत्र में अद्वितीय हैं तो भवभूति करुण-रस के क्षेत्र में अप्रतिम हैं। कालिदास ने नारी बाह्य सौन्दर्य का रमणीय वर्णन किया है तो भवभूति ने उसके अन्तःसौन्दर्य का उद्घाटन किया है। कालिदास की दृष्टि में यदि नारी 'श्रोणीभारादलसगमना' और 'पक्वबिम्बाधरोष्ठी' है, तो भवभूति की कल्पना में वह 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्ति र्नयनयोः' है। कालिदास की कला में नैसर्गिकता है तो भवभूति की कला में आदर्श। कालिदास में सजीवता है तो भवभूति में गाम्भीर्य।

भारतीय नाट्य-साहित्य के इन दोनों अमर कलाकारों की कृतियों की तुलना करते हुए स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय महोदय लिखते हैं—'विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंग-क्रीड़ा में, भाषा के गाम्भीर्य में और हृदय के माहात्म्य में 'उत्तररामचरित' श्रेष्ठ है और घटनाओं की विचित्रता में कल्पना के कोमलत्व में, मानव-चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता और लालित्य में 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' श्रेष्ठ है। संस्कृत साहित्य में ये दोनों नाटक अद्वितीय हैं। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' शरद्-ऋतु की पूर्ण चाँदनी है, 'उत्तररामचरित' नक्षत्र-खचित नील आकाश है। एक व्यंजन है, दूसरा हविष्यान्न है; एक वसन्त है, दूसरा वर्षा है; एक नृत्य है, दूसरा अश्रु है; एक उपभोग है, दूसरा पूजन है।'

विशाखदत्त : मुद्राराक्षस

संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' के कर्त्ता विशाखदत्त अथवा विशाखदेव का समय निर्धारित करने के लिए बहुत ही अल्प सामग्री प्राप्त होती है। वे सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र तथा महाराज पृथु के पुत्र थे।[१] किन्तु इन व्यक्तियों के सम्बन्ध में और कुछ पता नहीं चलता। 'मुद्राराक्षस' के अन्तिम श्लोक में 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः', 'पार्थिवो दन्तिवर्मा', 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' इत्यादि पाठ मिलते हैं। पहले पाठ के आधार पर प्रो० शारदारंजन राय[२] का कहना है कि 'मुद्राराक्षस' में विशाखदत्त ने गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५-४१३ ई०) की ओर संकेत किया है। वे अपने नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल का चित्रण कर प्रकारान्तर से अपने आश्रयदाता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की प्रशंसा करते हैं। 'मुद्राराक्षस' का घटना-स्थल पाटलीपुत्र है, जो उस समय एक समृद्ध नगर रहा होगा। फाहियान ने

१. Keith : Sanskrit Drama, p. 304.
२. S. Ray's Introduction to his edition मुद्राराक्षस, p. 9-14.

पाटलीपुत्र को मगध की राजधानी बतलाया है। ह्वेनसांग ने उसे भग्नावशेष पाया।[१] इसके अतिरिक्त 'मुद्राराक्षस' में जो बौद्ध-धर्म की ओर संकेत (७।५) है, उससे प्रतीत होता है कि उस समय बौद्ध-धर्म का अभ्युदयकाल था। यह दशा फाहियान के भारत आने के समय थी। इन प्रमाणों के आधार पर कुछ विद्वान् 'मुद्राराक्षस' को पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ की रचना मानते हैं।

दूसरे ('पार्थिवो दन्तिवर्मा') पाठ के आधार पर 'मुद्राराक्षस' की रचना पल्लव-राजा दन्तिवर्मा (७७८-८३० ई०) के समय में मानी जा सकती है।[२] किन्तु दक्षिण में हूणों का (जिनका 'मुद्राराक्षस' में स्पष्ट उल्लेख है) आतंक नहीं फैला था, अतः यह मत मान्य नहीं हो सकता।

तेलंग[३] महोदय तीसरे पाठ ('पार्थिवोऽवन्तिवर्मा') को प्रामाणिक मानते हैं। उनके मतानुसार ये अवन्तिवर्मा, राजा हर्ष (६०६-६४८ ई०) के बहनोई ग्रहवर्मा के पिता मौखरि राजा अवन्तिवर्मा थे। इस मत के अनुसार 'मुद्राराक्षस' की रचना सातवीं शताब्दी में हुई। मेकडॉनल[४] तथा रैप्सन[५] इसी मत को स्वीकार करते हैं।

याकोबी[६] की सम्मति में अवन्तिवर्मा से अभिप्राय इसी नाम के कश्मीर के राजा से है, जिनका राज्य-काल ८५५-८८३ ई० था। याकोबी के मतानुसार 'मुद्राराक्षस' में जिस चन्द्र-ग्रहण का उल्लेख हुआ है (१।३), वह २ दिसम्बर, ८६० ई० को पड़ा था। उनकी धारणा है कि अवन्तिवर्मा के मन्त्री शूर ने इसी अवसर पर 'मुद्राराक्षस' का अभिनय कराया था। किन्तु इस विचित्र धारणा के समर्थन में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं उपलब्ध होता।

'मुद्राराक्षस' का कथानक ऐतिहासिक है। अतः उसका रचना-काल निर्धारित करने के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं की भी समीक्षा करना चाहिये। इस समीक्षा के आधार पर ध्रुव महोदय[७] 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' पाठ अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनके मतानुसार ये अवन्तिवर्मा कन्नौज के मौखरि राजा थे, जिनकी सहायता से स्थाण्वीश्वर के महाराज प्रभाकरवर्धन ने हूणों को परास्त किया था। यह घटना ५८२ ई० के आस-पास की है। म्लेच्छों की इस महान् पराजय के उपलक्ष्य में विशाख-

---

१. Elphinstone's History of India, p. 292.
२. M. Krishnamachariae : Hist. of Cl. Skt. p. 605, footnote 3.
३. Telang's Introduction to his edition of मुद्राराक्षस।
४. Skt. Lit., p. 365
५. JRAS, 1900 p. 535.
६. Vienna Oriental Journol, ii pp. 212 ff.
७. His. edn. of मुद्राराक्षस, pp. viii-x.

दत्त ने 'मुद्राराक्षस' की रचना की और इस पराजय का संकेत उन्होंने अपनी कृति (७।१८) में किया भी है। अतएव 'मुद्राराक्षस' की रचना छठी शताब्दी के अन्त में मानी जा सकती है।

उक्त समय की पुष्टि विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक से भी होती है, जिसके कुछ अंश हाल में उपलब्ध हुए हैं। इस नाटक में ध्रुवदेवी (अथवा ध्रुवस्वामिनी) के चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा शत्रु के पंजे से मुक्त किये जाने की घटनाएँ वर्णित है। इस नाटक से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के बाद उनके पुत्र रामगुप्त सम्राट् बने थे। इस कायर राजा ने समकालीन शक-नरेश के आक्रमण के भय से सन्धि के रूप में अपनी रूपवती रानी ध्रुवदेवी को उसे समर्पित कर देने का वचन दिया था। किन्तु उनके छोटे भाई कुमार चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने रानी का वेश बना एक अप्रत्याशित कूटनीतिक चाल से शकपति को मार डाला। बाद में चन्द्रगुप्त ने अपने बड़े भाई रामगुप्त को मार कर गुप्त-साम्राज्य हस्तगत कर लिया और ध्रुवदेवी से, जो उनके अतिशय साहस के कारण उन पर अनुरक्त थी, विवाह कर लिया। यह ध्रुवदेवी कुमारगुप्त की माता हुई। यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि विशाखदत्त ने 'देवीचन्द्रगुप्त' की—एक ऐसे नाटक की जिसमें चन्द्रगुप्त अपने भाई को मारकर उसकी रानी से विवाह कर लेते हैं—रचना चन्द्रगुप्त अथवा कुमारगुप्त के राज्यकाल में की होगी। ऐसी स्थिति में 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' पाठ ही अधिक संगत जान पड़ता है। उस प्रकार 'देवीचन्द्रगुप्त' के उपलब्ध अंशों के आधार पर विशाखदत्त का समय छठी शताब्दी ही प्रतीत होता।[1]

सुभाषित-ग्रन्थों में दिये गये उद्धरणों से पता चलता है कि विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस' और 'देवीचन्द्रगुप्त' के अतिरिक्त 'राघवानन्द' नामक और एक नाटक की रचना की थी, पर यह कृति अब उपलब्ध नहीं है।[2]

'मुद्राराक्षस' जैसे ऐतिहासिक-राजनीतिक नाटक पर भास के 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' का प्रभाव देख पड़ता है। चाणक्य और यौगन्धरायण में बहुत कुछ साम्य है। चन्दनदास और उसके पुत्र के अन्तिम मिलन का करुण दृश्य 'उरुभंग' के दुर्योधन और दुर्जय के मिलन के ही समान है।

'मुद्राराक्षस' समग्र संस्कृत साहित्य में अपने ढंग का एक ही नाटक है। यद्यपि इसकी रचना 'नाट्यशास्त्र' के नियमों के सर्वथा अनुकूल नहीं हुई है, फिर भी यह

१. Winternitj, 'Historical Dramas in Sanskrit Literature', Krishnaswamy Aiyangar Com., Vol, p. 360.
२. K. H. Dhruva in the Poona Orientalist, Octo , 1936, p. 42.

एक अनूठा और बेजोड़ नाटक है । सस्कृत के अन्य नाटकों की भाँति रस-प्रधान न होकर यह एक शुद्ध घटना-प्रधान नाटक है । राजनीति की कुटिल चालों और कूट-नीति के दाँव-पेंचों का इसमें बड़ा ही सजीव और सफल चित्रण हुआ है । इसके कथानक का केन्द्रबिन्दु नन्दवंश का महामात्य 'राक्षस' है, जिसकी योग्यता और स्वामिभक्ति से प्रभावित होकर चाणक्य चाहता है कि वह किसी प्रकार चन्द्रगुप्त का मंत्री होना स्वीकार कर ले । चाणक्य यह भली-भाँति जानता है कि यदि राक्षस जैसा राजनीति-धुरन्धर एवं स्वामिभक्त व्यक्ति चन्द्रगुप्त का प्रधान मन्त्री बनना स्वीकार कर ले, तो चन्द्रगुप्त का राज्य अटल हो जायगा । बस, इसी लक्ष्य को लेकर चाणक्य और राक्षस के बीच जो राजनीतिक चालों की चोटें चली हैं, उन्हीं का इस नाटक के घटना-चक्र में रोचक चित्रण हुआ है ।

'मृच्छकटिक' की भाँति 'मुद्राराक्षस' में भी घटनाओं का वास्तविक एवं सजीव चित्रण हुआ है । उसमें घटनाओं की एकाग्रता दर्शनीय है । यह सत्य है कि 'मुद्राराक्षस' में भवभूति का प्रगाढ़ करुणा अथवा कालिदास की रमणीय सुकुमारता के दर्शन नहीं होते, किन्तु इसमें जिस पौरुष, उत्साह एवं ऊर्जस्विता का चित्रण हुआ है, वह इस घटना-प्रधान नाटक के सर्वथा अनुरूप है । अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में विशाखदत्त ने विशेष कौशल दिखलाया है । वे नाटक के पात्रों को इस तुलनात्मक ढंग से चित्रित करते हैं कि उनकी विशेषताएँ बिलकुल स्पष्ट हो जाती हैं । चाणक्य और राक्षस का तुलनात्मक चित्रण पूर्ण सफल हुआ है । चाणक्य यदि स्थिरचित्त, प्रतिक्षण जागरूक, कठोर, 'शाठ्यनीति'-निपुण और कभी न झुकने वाला है, तो राक्षस अस्थिरचित्त, विस्मरणशील, उदारहृदय, सज्जन और अन्त में झुक जाने वाला है । इसी प्रकार चन्द्रगुप्त और मलयकेतु, भागुरायण और सिद्धार्थक, निपुणक और विराधगुप्त, वैहीनरि और जाजलि आदि पात्रों का सुन्दर तुलनात्मक चित्रण किया गया है ।

संस्कृत नाट्य-कला की दृष्टि से 'मुद्राराक्षस' में कई मौलिक नवीनताएँ भी दीख पड़ती हैं । भास और कालिदास के नाटकों में अंक का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया है । उनमें मुख्य पात्र के अंक के आरम्भ से लेकर अन्त तक रंगमंच पर रहते हैं । पर 'मुद्राराक्षस' में अंक का दृश्यों में विभाजन स्पष्ट होता है । उदाहरणार्थ, तृतीय अंक में अनेक दृश्य परिवर्तनों का स्पष्ट आभास मिलता है । 'मुद्राराक्षस' में स्त्री-पात्रों का एक प्रकार से सर्वथा अभाव है । केवल एक स्थल पर (अंक ७) चन्दन-दास की पत्नी वध्यस्थल के दृश्य में रंगमंच पर आती है । विषकन्या का भी केवल उल्लेख ही हुआ है । 'मुद्राराक्षस' में शृङ्गाररस का भी नितान्त अभाव है । हाँ, एकाध स्थल पर राजनीतिक विषयों का शृङ्गारिक चित्रण अवश्य उपलब्ध होता है (२।१२) । कुछ विद्वानों के मतानुसार 'मुद्राराक्षस' वीररस-प्रधान नाटक है । किन्तु यह मत

'मुद्राराक्षस' पर 'नाट्यशास्त्र' के नियमों को घटाने का एक असफल प्रयास मात्र जान पड़ता है। वस्तुतः जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'मुद्राराक्षस' रस-प्रधान न होकर एक शुद्ध घटना-प्रधान नाटक है। इसी प्रकार इस नाटक का नायक चाणक्य है अथवा चन्द्रगुप्त, इस प्रश्न पर विद्वानों में काफी मतभेद है। 'नाट्य-शास्त्र' के नियमों की रूढ़ि का अनुसरण करने वाले विद्वान् चन्द्रगुप्त को भले ही नायक मानें, किन्तु निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर चाणक्य ही इस घटना-प्रधान नाटक का नायक प्रतीत होता है, क्योंकि आरम्भ से अन्त तक वही इसकी समग्र घटनाओं का सूत्र-संचालन करता है।

शैली—'मुद्राराक्षस' की शैली प्रवाह, प्रासादिकता और ओज लिए हुए है। इसके वाक्य छोटे-छोटे और मुहावरेदार हैं। दीर्घ समास-बहुल पदावली का प्रयोग कम हुआ है। अलंकारों का उपयोग सीमित मात्रा में ही किया गया है। विशाखदत्त ने पद्यों के बाहुल्य से अपनी नाटकीय शैली को कृत्रिम नहीं बनाया है। उनका शब्द-विन्यास बड़ा ही सशक्त और प्रभावशाली है। पद्य की अपेक्षा उनका गद्य अधिक ओज-पूर्ण है। उसमें भावुकता के स्थान पर प्रभविष्णुता अधिक है। कहीं-कहीं व्यंग्यपूर्ण हास्य का भी पुट दिया गया है। संवादों में स्वाभाविकता है। नपे-तुले शब्दों में जोरदार भाषा प्रयुक्त हुई है। कुछ उदाहरण देखिये—'अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः', 'न प्रयोजनमन्तरा चाणक्यः स्वप्नेऽपि चेष्टते', 'तन्मयास्मिन् वस्तुनि न शयानेन स्थीयते', 'सर्वज्ञतामुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि', 'ननु वक्तव्यं राक्षस एवास्मदंगुलीप्रणयी संवृत्त इति', 'कीदृशः पुनः तृणानामग्निना सह विरोधः', 'चाणक्योऽपि जितकाशितया तैस्तै राज्ञाभंगैश्चन्द्रगुप्तस्य चेतः पीडामुपचिनोति', 'ननूपायैरेवासौ हृदयेशयः शंकुरिवोद्धृत्य दूरीकृतः' इत्यादि।

'मुद्राराक्षस' में नाटककार ने श्लेष का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया है। यह श्लेष अधिकतर व्यंग्यार्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। 'पताकास्थानक' का भी श्लेष-गर्भित प्रयोग (११६) किया गया है। 'मुद्राराक्षस' में 'भङ्ग्यन्तरकथन' का भी आश्रय अनेक स्थलों पर लिया गया है। कवि किसी एक ही बात को गद्य में कहकर उसे पुनः पद्य में दोहराता है।[1] कुछ विद्वानों की धारणा है कि 'मुद्राराक्षस' में लगभग २४ ऐसे गद्यांश हैं, जो अपने मूल रूप में पद्य में रहे होंगे।[2] उदाहरण के लिए चौथे अंक का यह वाक्य लीजिये—'किमिदानीं चन्द्रगुप्तः स्वराज्यकार्यधुरामन्यत्र

१. २१३ और उसके पहले का गद्यांश।
२. K. H. Dhruva : Verse Mistaken for Prose in मु० रा०, Poona Orientalist, Oct. 1936 and Jan. 1937.

मंत्रिण्यात्मनि वा समासज्य प्रतिविधातुमसमर्थः।' ध्रुव महोदय के अनुसार इस गद्यांश का इस प्रकार आर्या छन्द में रूपान्तर किया जा सकता है—

आत्मनि च चन्द्रगुप्तो मंत्रिणि चान्यत्र राज्यकार्यधुराम्।
किं नु समासज्य प्रतिविधातुमसमर्थं इदानीम्॥

विशाखदत्त के गद्य में जहाँ ओज है वहाँ उनके पद्यों में स्थल-स्थल पर लालित्यमय प्रवाह है। निम्नलिखित पद्यों से उनकी शैली का परिचय मिलेगा—

अस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात् स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्॥

'ऐसा कौन है जो मृगराज सिंह का अपमान कर जंभाई लेते समय उसके खुले मुँह से उसकी उस दाढ़ को उखाड़ लेने की हिम्मत करे, जो हाथी के रक्त से लाल है तथा संध्या-काल के अरुण-वर्ण चन्द्रमा की कला के समान चमक रही है।' चाणक्य की राजनीति का वैचित्र्य देखिये—

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्नश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले-
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः॥५।३

'भाग्य-चक्र की भाँति राजनीतिज्ञ की नीति कैसी विचित्र होती है! कार्यवश कभी वह अपने लक्ष्य को स्पष्ट कर देती है, कभी उसे बड़ा गहन बना देती है, कभी वह पूर्णतया विकसित हो जाती है, कभी बिलकुल अदृश्य हो जाती है, कभी उसका कारण नष्ट होता दिखाई देता है और कभी वह प्रभूत इष्टफल को प्रदान करती है।' 'मुद्राराक्षस' में सरल पद्यों में शिक्षाप्रद बातें भी मिलती हैं—

शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्वं मोहव्याधिवैद्यानाम्।
ये प्रथममात्रकटुकं पश्चात्पथ्यमुपदिशन्ति॥४।१६

कौमुदीमहोत्सव—हाल में 'कौमुदीमहोत्सव' नामक एक पाँच अंकों का नाटक उपलब्ध हुआ है। इसकी रचयित्री कोई महिला थी, पर उसके नाम का ठीक पता नहीं चलता। सम्भवतः वह कोई दाक्षिणात्य कवयित्री थी। कुछ लोग इस नाटक की रचना विज्जका द्वारा मानते हैं, जिसकी प्रशंसा राजशेखर ने की है तथा जिसके पद्य सुभाषित-ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने 'कौमुदीमहोत्सव' की रचना ३४० ई० के

लगभग मानी है, क्योंकि उनके अनुसार इस नाटक का चण्डसेन नामक पात्र वस्तुतः चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है। पर विन्टरनिट्ज महोदय उसे दण्डी (६०० ई०) के बाद की रचना मानते हैं, क्योंकि उसमें (२।१५, ५।१८) दण्डी की 'अवंतिसुन्दरीकथा' में चित्रित शौनक और बन्धुमती के प्रणय की ओर संकेत है। 'मुद्राराक्षस' का भी कुछ प्रभाव 'कौमुदीमहोत्सव' पर देख पड़ता है और सम्भवतः उसकी रचना 'मुद्राराक्षस' के बाद में हुई जान पड़ती है।

'मृच्छकटिक' की भांति 'कौमुदीमहोत्सव' में भी राजनीतिक घटनाओं को प्रणय-कथा से सम्बद्ध किया गया है। मगध के राजा सुन्दरवर्मा का सेनापति चण्डसेन मगध के शत्रुओं की सहायता से पाटलिपुत्र पर हमला करता है और सुन्दरवर्मा को मारकर स्वयं मगध का राजा बन बैठता है। किन्तु सुन्दरवर्मा का मन्त्री मंत्रगुप्त अपने स्वामी के पुत्र कल्याणवर्मा को विन्ध्य पर्वत में सुरक्षित रखकर उसे मगध का राजा बनाने का अवसर ढूंढता है। पम्पा के निकट कल्याणवर्मा की शूरसेन के राजा कीर्तिसेन की पुत्री कीर्तिमती से भेंट होती है और दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। इधर मन्त्रगुप्त चंडसेन के विरुद्ध नागरिकों का विद्रोह कराकर उसे मार डालते हैं और कल्याणवर्मा को राजा घोषित करते है। कल्याणवर्मा का राज्याभिषेक कौमुदीमहोत्सव (कार्तिकी पूर्णिमा) के दिन होता है और इसी अवसर पर 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक का अभिनय किया जाता है। कीर्तिसेन भी बड़ी प्रसन्नता से अपनी पुत्री कीर्तिमती का विवाह कल्याणवर्मा से कर देते हैं।

विन्टरनिट्स महोदय के अनुसार 'कौमुदीमहोत्सव' उसी अर्थ में एक ऐतिहासिक नाटक है, जिस अर्थ में 'मृच्छकटिक' हैं। आर्यक और पालक के संघर्ष के समान चण्डसेन और कल्याणवर्मा की कथा की भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अवश्य रही होगी। पर अभी तक 'कौमुदीमहोत्सव' की घटनाओं का इतिहास की घटनाओं से साम्य स्थापित नहीं हो सका है। 'कौमुदीमहोत्सव' के विशेष अध्ययन एवं प्रचार से उसके ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

भट्टनारायण : वेणीसंहार

'वेणीसंहार' नाटक के रचयिता भट्टनारायण पहले कन्नौज के निवासी थे, किन्तु बाद में परिस्थितिवश बंगाल जाकर बस गये। वे एक गौड़ ब्राह्मण परिवार के प्रवर्त्तक हुए, पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि वे वर्त्तमान प्रसिद्ध टागोर वंश के ही पूर्वज थे। 'भट्ट' और 'मृगराज' इनकी दो उपाधियाँ थीं। इन उपाधियों से उनकी जाति के विषय में ठीक-ठीक पता नहीं चलता, क्योंकि जहाँ 'भट्ट' शब्द ब्राह्मणत्व का सूचक है, वहाँ 'मृगराज' क्षत्रिय जाति का द्योतक है। बंगाल में जिस

राजा के आश्रय में भट्टनारायण रहते थे, वे आठवीं शताब्दी के पालवंशी राजाओं के पहले हुए थे। अतः भट्टनारायण तथा उनके आश्रयदाता का स्थितिकाल आठवीं शताब्दी के प्रथमार्ध के बाद का नहीं हो सकता। इस निष्कर्ष की पुष्टि बहिरंग प्रमाणों से भी होती है। मम्मट (११०० ई०), धनंजय (१०१० ई०), आनन्दवर्धन (८५० ई०) और वामन (८०० ई०) सभी ने अपने-अपने ग्रन्थों में 'वेणीसंहार' से उद्धरण दिये हैं। इसलिए ७२५ ई० का समय भट्टनारायण के लिए युक्तिसंगत है। सम्भवतः वे भवभूति के समकालीन भी रहे हों।

दण्डी के अनुसार भट्टनारायण ने तीन ग्रन्थों की रचना की है,[१] किन्तु इनमें से केवल 'वेणीसंहार' ही उपलब्ध होता है।

भट्टनारायण का 'वेणीसंहार' नामक नाटक ही एकमात्र ग्रन्थ उपलब्ध होता है। 'वेणीसंहार' की आख्यायिका 'महाभारत' से ली गई है। पर नाटकीय सौन्दर्य की दृष्टि से कवि ने उसमें यथेष्ट परिवर्तन भी किया है। पहले अंक में (कौरव राज-सभा में दुःशासन द्वारा द्रौपदी के केश खींचे जाने पर) भीम प्रतिज्ञा करते हैं कि दुःशासन का रक्त-पान कर तथा दुर्योधन को मारकर उसके रक्त से रंजित हाथों से मैं द्रौपदी की वेणी बांधूंगा। युद्ध आरम्भ हो जाता है। दूसरे अंक में दुर्योधन और उसकी स्त्री भानुमती का शृङ्गारिक कथोपकथन है। तीसरे अंक के द्रोणवध के अनन्तर अश्वत्थामा और कर्ण में वाक्कलह होता है। चौथे अंक में दुःशासन तथा कर्ण के पुत्र वृषसेन की मृत्यु होती है। पाँचवें अंक में गान्धारी और धृतराष्ट्र दुर्योधन को संधि कर लेने के लिए समझाते हैं, पर वह नहीं मानता। छठे अंक में चार्वाक नामक राक्षस युधिष्ठिर को यह मिथ्या संवाद सुनाता है कि दुर्योधन के साथ गदा-युद्ध में भीम और अर्जुन मारे गये। इस पर युधिष्ठिर और द्रौपदी अपने प्राण दे देने का संकल्प करते हैं। इतने में ही भीम दुर्योधन का वध करके लौटते हैं और अपने रक्तरंजित हाथों से द्रौपदी की विकीर्ण वेणी बाँधते हैं।

'वेणीसंहार' के प्रधान नायक का प्रश्न विवादपूर्ण है।[२] उसके नायक युधिष्ठिर नहीं हो सकते, क्योंकि अंतिम अंक के अतिरिक्त हम उन्हें रंगमंच पर कभी नहीं पाते। भीम को भी नायक मानना उचित नहीं, क्योंकि वे रंगमंच पर केवल प्रथम अंक में, पाँचवें अंक के अंत में और सातवें अंक में ही उपस्थित रहते हैं, तथा उनका क्रूर अभिमान-भरा व्यवहार हमारे वैरस्य का कारण बनता है, सहानुभूति का नहीं।

---

१. व्याप्तुं पदत्रयेणापि यः शक्तो भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रयव्याप्तौ चित्रं नारायणस्य किम्॥

२. Ramachandra Rao : Tragedies in Sanskrit Pro ceeding of VIII Oriental Conference, 1935, pp. 299 ff.

दुर्योधन को ही नाटक का नायक मानना युक्तियुक्त होगा; क्योंकि (१) भट्टनारायण ने दुर्योधन के चरित्र-चित्रण में विशेष परिवर्तन कर उसे हमारी दृष्टि में ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। 'महाभारत' का दुर्योधन यदि कपट और द्वेष की प्रतिमूर्ति है, तो 'वेणीसंहार' का दुर्योधन एक महान् पात्र है, जो बरबस हमारी समवेदना प्राप्त कर लेता है। यदि भट्टनारायण को अपना नायक दुर्योधन को बनाना इष्ट न होता तो वे क्यों अपनी प्रतिभा द्वारा उज्ज्वल चित्रण करते ? (२) दुर्योधन प्रथम-अंक के अतिरिक्त शेष सभी अंकों में रंगमंच पर उपस्थित रहता है, और प्रथम अंक में भी उसी के कार्यकलाप पर प्रेक्षकों का ध्यान केन्द्रित रहता है। (३) दुर्योधन अपनी वीरता और आत्मसम्मान की भावना से हमारे आदर का पात्र बन जाता है। वह एक स्नेही भ्राता, विश्वस्त मित्र और कट्टर योद्धा है। आत्मश्लाघी भीम से उसका सर्वत्र विरोध दिखाया गया है। दुर्योधन की दुर्बलताएँ हमारी सहानुभूति को जागृत करती हैं। भीम की अपेक्षा दुर्योधन में मानवता अधिक है। पराजित दुर्योधन विजयी भीम की अपेक्षा अधिक महान् प्रतीत होता है। (४) नाटक की कथा दुर्योधन के कारण ही रोचक और हृदयग्राही बनती है। कौरव-पांडव-युद्ध केवल उसी के निर्णय पर निर्भर है।

इस प्रकार 'वेणीसंहार' का नायक दुर्योधन ही है, और उसी के दृष्टिकोण से सारी कथा चित्रित की गई है। इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर 'वेणीसंहार' निस्सन्देह एक दुःखान्त नाटक हो जाता है, जिसमें नायक (दुर्योधन) का दुख, पराभव और मृत्यु चित्रित है। 'वेणीसंहार' में दुर्योधन की युद्धक्षेत्र में मृत्यु हो जाती है। अवश्य ही यह मृत्यु रंगमंच पर नहीं होती, पर उसकी सूचना हमें कंचुकी द्वारा प्राप्त हो जाती है। 'वेणीसंहार' का दुर्योधन एक 'मानशौण्ड' है, जिसका स्वाभिमान, वीरता और साहस उसे हमारी दृष्टि से ऊँचा उठाते हैं। नाटककार ने दुर्योधन को अनेकानेक आपत्तियों द्वारा ग्रस्त दिखलाकर उसे हमारी समवेदना का पात्र बना दिया है; उसके दुःखों और पराभवों का अंकन कर सारे नाटक को एक भावपूर्ण दुःखान्त नाटक बना दिया है।

'वेणीसंहार' के प्रायः सभी प्राचीन और अर्वाचीन आलोचकों ने द्वितीय अंक में दुर्योधन और भानुमती के संभोग-शृङ्गार के वर्णन को अनुचित बतलाया है। उनके अनुसार दुर्योधन को समर-व्यापार से पराङ्मुख कर प्रणयपाश में आबद्ध दिखलाना उसके दौर्बल्य का परिचायक होते हुए भी कुछ अस्वाभाविक है। मम्मट ने इसे 'अकाण्डे प्रथनम्' (अनुचित स्थान में रस-विस्तार) के अन्तर्गत रखा है। साहित्य-दर्पणकार ने भी इस प्रणय-दृश्य को अनुपयुक्त बतलाया है। कीथ महोदय का भी कथन है कि भट्टनारायण ने रूढ़ि का पालन करने के लिए ही इस अनावश्यक दृश्य का अपने नाटक में समावेश किया है। किन्तु वस्तुतः भट्टनारायण का लक्ष्य अपने नायक (दुर्योधन) को

दुःखान्त कथा को चित्रित करना और उसके पराभव और शोक की तीव्रता से प्रेक्षकों को प्रभावित करना है। इस लक्ष्य-सिद्धि के लिए नाटककार ने एक ओर दुर्योधन के अपनी प्रियतमा के प्रति प्रेम-प्रदर्शन को चित्रित कर अपने नायक के सुखी दाम्पत्य-जीवन की झाँकी कराई है और दूसरी ओर युद्ध के अंतिम दिनों में नायक के कष्टमय जीवन के साथ उसका विरोध दिखाया है। इसलिए यह स्पष्ट है कि यदि 'वेणीसंहार' को दुर्योधन के दुःखान्त जीवन का नाटक माना जाय तो उक्त प्रणय-दृश्य सर्वथा प्रासंगिक और प्रभावोत्पादक है। इससे दुर्योधन के पतन की तीव्रता द्विगुणित हो जाती है।

'वेणीसंहार' के कथानक में घटनाओं का बाहुल्य है, पर उन्हें नाटकीय ढग से प्रस्तुत करने में कवि को पर्याप्त सफलता नहीं मिली है। कहीं-कहीं पद्यों के बाहुल्य तथा वर्णनात्मक प्रसंगों की प्रचुरता के कारण इसकी नाटकीय गति में व्याघात पहुँचा है। कवि ने इस छोटे से नाटक में अनेक विषयों का समावेश करने की चेष्टा की है, इस कारण कथानक कुछ जटिल हो गया है। चतुर्थ अंक में सुन्दरक द्वारा जो युद्ध-भूमि का वर्णन हुआ है, वह कवित्वपूर्ण होते हुए भी आवश्यकता से अधिक लम्बा होने के कारण नाटकीय दृष्टि से प्रभावपूर्ण नहीं कहा जा सकता। भिन्न-भिन्न दृश्य मुख्य कथा से पूर्णतया सम्बद्ध नहीं प्रतीत होते। सभी मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण भी विशद नहीं हुआ है। युधिष्ठिर और द्रौपदी का चरित्र-चित्रण पर्याप्त रूप से नहीं किया गया है। छठे अंक में चार्वाक राक्षस के अनर्गल सदेश द्वारा धीरोदात्त युधिष्ठिर का एक प्रकार से परिहास किया गया है। इसलिए वहाँ पर जिस करुण-रस का चित्रण है, वह अस्वाभाविक और प्रभावहीन है। शैली ओजस्विनी होते हुए भी परिष्कृत नहीं है। करुण, वीर, रौद्र और भयानक रसों का कहीं-कहीं मात्रातीत चित्रण हो गया है। करुण असह्य हो जाता है और भयानक वीभत्स। प्राकृत और संस्कृत में प्रयुक्त दीर्घकाय समास तथा जटिल वाक्य-विन्यास नाटक के घटना-प्रधान कथानक के उपयुक्त नहीं है।

कुछ आलोचकों का तो यहाँ तक कथन है कि 'वेणीसंहार' की नाट्य रचना में तृतीय, चतुर्थ और पंचम अंक अनावश्यक है। पर यह कथन अतिरंजित है। तीसरे अंक में अश्वत्थामा और कर्ण के वाक्कलह का वर्णन है। जो भीम को नाटक का नायक मानते हैं, उनके लिए इस कलह का कोई महत्त्व नहीं। नाटक का नायक दुर्योधन है और उसी की दुःखान्त कथा चित्रित करना नाटककार का लक्ष्य है, इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर यह कलह दृश्य सर्वथा प्रासंगिक और महत्त्वमय बन जाता है। वाक्कलह के परिणामस्वरूप अश्वत्थामा, कर्ण के मौजूद रहते। युद्ध में सहयोग देना अस्वीकार कर देता है। क्या नायक दुर्योधन के लिए यह एक बड़ी हानि नहीं है? अश्वत्थामा के इस संकल्प का यदि किसी व्यक्ति पर प्रभाव पड़ सकता है तो

वह दुर्योधन ही है, क्योंकि उससे वह अश्वत्थामा जैसे पराक्रमी धनुर्धारी की सेवाओं से वंचित रह जाता है। इसी प्रकार यह कहना भी असंगत है कि विभिन्न अंक या दृश्य मुख्य कथा से पूर्णतया सम्बद्ध नहीं प्रतीत होते। तीसरे, चौथे और पाँचवें अंकों में दुर्योधन पर आ पड़नेवाली विपत्तियों का विवरण है। तीसरे अंक में अश्वत्थामा युद्ध से विमुख हो जाता है। चौथे अंक में दुर्योधन के भाई दुःशासन की मृत्यु होती है। पाँचवें अंक में कर्ण की मृत्यु की सूचना मिलती है।

'वेणीसंहार' संस्कृत के वीर-रस-प्रधान नाटकों में विशेष लोकप्रिय है। इसकी रचना 'नाट्यशास्त्र' के नियमों के सर्वथा अनुकूल हुई है। यही कारण है कि धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में इसके अनेक पद्य उदाहरण रूप में उद्धृत किये हैं। इसके कथोपकथन नाटकीय दृष्टि से प्रभावोत्पादक हैं। तृतीय अंक कवि के नाटकीय कौशल एवं कवित्वशक्ति का परिचायक है। पात्रों का व्यक्तित्व इस नाटक की विशेषता है। भीम की भीषणता, कर्ण का अहंकार, अश्वत्थामा का रोष एवं दयामय स्वभाव, दुर्योधन की स्वार्थपरायणता एवं विलासप्रियता विशद रूप से अंकित है। पात्रों का तुलनात्मक चित्रण भी इस नाटक का विशिष्ट गुण है। एक ओर भीम द्वारा द्रौपदी के अपमान-दग्ध हृदय को वीरोचित ढङ्ग से सांत्वना दिया जाना और दूसरी ओर विलासी दुर्योधन द्वारा भानुमती के प्रति शृङ्गारिक चेष्टाओं का प्रदर्शन किया जाना, अश्वत्थामा की भावुकता और ब्राह्मणोचित तेज तथा कर्ण की कटूक्तियाँ और व्यंग्य—इनका तुलनात्मक विवेचन यथातथ्य हुआ है।

'वेणीसंहार' की भाषा प्रभावपूर्ण एवं ओजोगुणविशिष्ट है। इसमें वीररस की एक-से-एक अनूठी उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। अश्वत्थामा अपने निःशस्त्र पिता का वध करनेवाले धृष्टद्युम्न पर जल-भुन रहा है—

तातं शस्त्रग्रहणविमुखं निश्चयेनोपलभ्य
त्यक्त्वा शंकां खलु विदधतः पाणिमस्योत्तमांगे।
अश्वत्थामा करधृतधनुः पाण्डुपांचालसेना-
तूलोत्क्षेपप्रलयपवनः किं न यातः स्मृतिं ते ॥३।८२

'तुझे यह भली भाँति मालूम था कि मेरे पिता शस्त्र-ग्रहण नहीं करेंगे, फिर भी तूने निःशंक होकर उनके सिर पर अपना कठोर हाथ चला दिया। क्या ऐसा करते समय तुझे, पांडवों और पांचालों की सेना को रूई की भाँति उड़ा देने वाले प्रलयकालीन पवन के समान, मैं याद नहीं आया ?' अश्वत्थामा के प्रति कर्ण की चुभती हुई उक्ति देखिये—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम् ॥३।३७

'मैं चाहे सूत हूँ या सूतपुत्र हूँ अथवा कोई भी क्यों न हूँ, इससे क्या ? ऊँचे कुल में जन्म पाना तो दैवाधीन है, पर पौरुष तो मेरे अधीन है।' भीष्म, द्रोण के निधन के पश्चात्, धृतराष्ट्र दुर्योधन को युद्ध समाप्त करने के लिए करुणस्वर में समझा रहे हैं—

दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ भीष्मद्रोणौ हतौ
कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत्फाल्गुनात् ।
वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपुः शेषप्रतिज्ञोऽधुना
मानं वैरिषु मुञ्च तात पितरावन्धाविमौ पालय ।। ५।५

'जिसके पराक्रम का भरोसा कर हमने पट्टीदारों की कोई परवाह नहीं की, वे भीष्म और द्रोण मारे गये। कर्ण के देखते-देखते अर्जुन ने उनके पुत्र को मार डाला। सारा संसार उससे भयभीय हो रहा है। मेरे अन्य पुत्रों का भी वध हो चुका है। तुम्हारे जीवित रहने के कारण ही शत्रु की प्रतिज्ञा अभी तक पूरी नहीं हुई है। अतएव, पुत्र, शत्रुओं के प्रति अभिमान को छोड़ो और अपने इन अन्धे माता-पिता का पालन करो। शान्त-रस का एक चित्र देखिये—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम् ।। १।२३

'अपनी अन्तरात्मा में ही रमण करनेवाले, निर्विकल्प समाधि में प्रीति लगानेवाले, ज्ञान के प्राचुर्य द्वारा अज्ञान को समूल दूर करनेवाले तथा सत्वगुण में स्थित रहनेवाले मुनिगण, जिसे अन्धकार और प्रकाश से परे कोई अनिर्वचनीय तत्व समझते हैं, उस परमात्मा (कृष्ण) को यह मूढ़ दुर्योधन भला क्या पहचाने ?' भट्टनारायण की गौड़ी रीति और ओज गुण की किसी कवि ने इस प्रकार प्रशंसा की है—

ओजः संसूचकैः शब्दैः युद्धोत्साहप्रकाशकैः ।
वेण्यामजृम्भयन् गौड़ीं भट्टनारायणो बभुः ।।

मुरारि : अनर्घराघव

'अनर्घराघव' नाटक के प्रणेता मुरारि मौद्गल्य-गोत्र के श्रीवर्धमानक के पुत्र थे। उनकी माता का नाम तन्तुमती देवी था। उन्होंने 'उत्तररामचरित' के दो श्लोकों से (३।३०,३२) को अपनी कृति (१।६,७) में उद्धृत किया है। अतः वे निश्चय ही भवभूति (७०० ई०) के पश्चात् हुए थे। रत्नाकर (८५० ई०) ने अपने 'हरिविजय' (३८।६८) में मुरारि की ओर स्पष्ट संकेत किया है। मंखक-कृत 'श्रीकण्ठचरित' (११३५ ई०) में मुरारि राजशेखर (९०० ई०) के पूर्ववर्ती माने गये हैं। इन प्रमाणों

के आधार पर मुरारि का स्थितिकाल ८०० ई० के लगभग माना जा सकता है। मुरारि सम्भवतः माहिष्मती (आधुनिक नर्मदा नदी पर स्थित मान्धाता नगरी) के निवासी थे।

'अनर्घराघव' सात अंकों का नाटक है। इस पर भवभूति के 'महावीरचरित' की स्पष्ट छाप पड़ी है। कथानक भी प्रायः उसी के समान है। ताटका-वध से लेकर रामराज्याभिषेक तक की घटनाएँ उसमें वर्णित हैं। कवि ने 'रामायण' की कथा में रोचक परिवर्तन भी किये हैं। जब परशुराम से लड़ने के लिए उद्यत राम के धनुष की टकार सीता के कानों तक पहुँचती है, तब सीता को भय होता है कि कहीं राम किसी दूसरी स्त्री को पाने के लिए पुनः धनुर्भंग तो नही कर रहे है। वाली-वध के हेतु मे भी नवीन कल्पना की गई है। केवट गुह पर कबन्ध राक्षस आक्रमण करता है। लक्ष्मण कबन्ध को मारकर गुह की रक्षा करते हैं; किन्तु ऐसा करने मे वे उस वृक्ष को गिरा देते हैं, जिस पर दुन्दुभि का कंकाल लटक रहा था। वाली इस बात से उत्तेजित हो राम को युद्ध के लिए ललकारता है। अतएव राम को विवश होकर उसे युद्ध में मार डालना पड़ता है। सातवें अंक मे रामचन्द्रजी की विमान-यात्रा का वर्णन भी अद्भुत एवं रुचिर है। सुमेरु पर्वत, चन्द्रलोक आदि दिव्य लोकों का भ्रमण कर वे मलय और प्रस्रवण पर्वतों के ऊपर होते हुए काञ्ची, महाराष्ट्र देश मे स्थित कुण्डनीपुर, उज्जयिनी, माहिष्मती, यमुना, गंगा, वाराणसी, मिथिला, चम्पा, प्रयाग आदि तीर्थों का दर्शन कर अन्त में अयोध्या पहुँचते हैं।

'अनर्घराघव' की प्रस्तावना मे मुरारि ने घोषणा की है कि भयानक और वीभत्स जैसे उग्र रसों के निरन्तर आस्वादन से ऊबे हुए प्रेक्षकों को मैंने अद्भुत एवं वीर-रस से युक्त एक उदात्त रचना प्रदान की है। उसका कहना है कि श्री रामचन्द्रजी के सर्व-प्रसिद्ध कथानक का उपभोग न करना भूल है, क्योंकि राम के चरित्र-चित्रण से कवि की रचना में उदात्तता एवं सौष्ठव का स्वतः संचार होता है (१।९)। परन्तु 'अनर्घराघव' की समीक्षा करने पर मुरारि की उक्तियाँ चरितार्थ नहीं होतीं। कथानक का अनावश्यक विस्तार करना कवि को विशेष प्रिय प्रतीत होता है। भावों के प्रदर्शन में अत्युक्तियों का प्रचुरता से प्रयोग किया है। पात्रों का प्राचीन रूप प्रायः वैसा ही रखा गया है। हाँ, अपना पौराणिक ज्ञान कवि ने स्थान-स्थान पर अवश्य प्रकट किया है। मुरारि की शब्द-राशि विशाल है। उनकी पदशय्या प्रौढ़ एवं गम्भीर है। उनकी उपमाएँ प्रायः मौलिक हैं। उनकी इसी विलक्षण मौलिकता को देखकर किसी ने कहा है—'मुरारिस्तृतीयः पन्थाः।' उनकी भाव-प्रकाशन क्षमता उच्च कोटि की है। परवर्ती कवियों ने मुरारि की 'गम्भीरता' की बड़ी प्रशंसा की है। उनके पद्यों का भाव-सौन्दर्य है। कवित्व की प्रौढ़ि और व्याकरण-विषयक

पाण्डित्य की दृष्टि से 'अनर्घराघव' आदर्श कृति है। सच पूछिये तो 'अनर्घराघव' में नाटकीय कला की अपेक्षा पाण्डित्य का ही प्राधान्य है। भट्टोजी दीक्षित ने 'सिद्धान्त-कौमुदी' में 'अनर्घराघव' से अनेक उदाहरण दिये हैं। मुरारि की शैली के कुछ उदाहरण देखिये—

दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधू. निर्धूतचूतांकुर-
प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटीभूमयः।
याः कृच्छ्रादतिलंघ्य लुब्धकभयात्तैरेवरेणूत्करै-
र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवी निःशंकमेणीकुलम् ॥५।६

'अहा, ये गोदावरी की मनोरम तटभूमियाँ दिखाई दे रही हैं। मतवाली कोयलों ने आम्र-मंजरियों को झकझोरकर इन तटों पर इतनी पराग-राशियाँ बिखेर दी हैं कि उनके छोटे-छोटे टीले बन गये हैं। व्याधों के भय से भागती हरिणियाँ यद्यपि इन टीलों को कठिनाई से पार कर पाती हैं, किन्तु जब इन्हीं टीलों की पराग-धूलि उड़-उड़कर उनके पद-चिह्नों को तिरोहित कर देती हैं, तब वे सुख की साँस लेने लगती हैं।' मुरारि की अतिशयोक्तियाँ बड़ी चमत्कारिणी होती हैं—

अनेन रम्भोरु भवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलया धृतस्य।
ऊनस्य नूनं प्रतिपूरणाय ताराः स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः ॥७।८७

राम सीता से कह रहे हैं कि 'हे सुन्दरी, जब तुम्हारे मुख और चन्द्रमा इन दोनों को तौला गया, तब सौन्दर्य में तुम्हारा मुख ही अधिक सारवान् सिद्ध हुआ। वजन की उसी कमी को पूरा करने के लिए मानो चन्द्रमा के साथ इन चमकते तारों को भी रखना आवश्यक हुआ।' इसी भाव को कवि ने अन्य स्थल पर और तरह से व्यक्त किया है—'ब्रह्मा ने सीता की सृष्टि करके चन्द्रमा और सीता को तुला पर रखा। सौन्दर्य में सीता का मुख अधिक भारी होने के कारण पृथ्वी पर आ गया और चन्द्रमा हलका होने से आकाश में चला गया!'

मुरारि ने अपने आपको 'बाल-वाल्मीकि' कहा है। भारतीय आलोचकों ने उनकी इस प्रकार प्रशंसा की है—

मुरारिपदचिन्ताचेत्तदा माघे रतिं कुरु।
मुरारिपदचिन्ताचेत्तदा माऽघे रतिं कुरु ॥

कुछ आलोचक मुरारि को भवभूति से बढ़कर मानते हैं—

मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररी कुरु ॥

'शाङ्गधरपद्धति' में भी मुरारि को भवभूति से ऊँचा स्थान दिया गया है—

भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः ॥

मुरारि की निम्नलिखित गर्वोक्ति भी परम प्रसिद्ध है—

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।
अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः ॥

'सरस्वती की उपासना तो अनेक कवि करते हैं, किन्तु विद्या का असली सार मुरारि कवि ही जानते हैं, क्योंकि उन्होंने गुरु के घर रहकर विद्योपार्जन में घोर परिश्रम किया है। बन्दरों ने महासागर को पार भले ही किया हो; किन्तु उसकी असली गहराई या थाह का पता तो पाताल तक डूबने वाले विपुलकाय मन्दराचल पर्वत को ही है।'

शक्तिभद्र : आश्चर्यचूड़ामणि

सन् १९२६ में मद्रास से शक्तिभद्र-रचित 'आश्चर्यचूड़ामणि' नामक नाटक प्रकाशित हुआ। कीथ[1] ने भ्रमवश इसका नाम 'आश्चर्यमंजरी' लिखा है, जो वास्तव में कुलशेखर वर्मा द्वारा रचित एक कथा है।[2] मालाबार की जनश्रुति के अनुसार शक्तिभद्र श्रीशङ्कराचार्य (७८८-८२० ई०) के शिष्य थे। अतः उनका समय नवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी शास्त्री ने 'आश्चर्यचूड़ामणि' को 'उत्तररामचरित' के बाद सर्वोत्कृष्ट राम-नाटक माना है। भास के नाटकों की भाँति इसमें भी मंगला-चरण श्लोक के पहले ही 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस वाक्य का प्रयोग हुआ है। सम्भव है, दक्षिण में रचित नाटकों की यही विशेषता रही हो। 'आश्चर्यचूड़ा-मणि' मे शूर्पणखा-प्रसंग से लेकर लंका-विजय और सीता की अग्नि-परीक्षा तक की कथा वर्णित है। सीताहरण की घटना मे परिवर्तन भी किया गया है। पहले मारीच राम और लक्ष्मण को पर्णकुटी में सीता को अकेली छोड़ने का आग्रह करता है। फिर रावण राम का रूप धारण कर पर्णकुटी पर पहुँचता है। उसका सारथि लक्ष्मण के रूप मे आकर कहता है कि तपस्वियों से मैंने सुना है कि अयोध्या में भरत शत्रुओं के कुचक्र में फँस गये हैं, अतः वहाँ सीता-सहित आपका जाना आवश्यक है। इस प्रकार रावण

---

१. Sanskrit Drama, p. 371, footnote 2.
२. S. Kuppuswami Shastri's introducton to आ० चू०, p. 11.

सरलतापूर्वक सीता का अपहरण करता है। उधर शूर्पणखा सीता का रूप धारण कर पर्णकुटी में जा बैठती है। अन्त में उसकी कपट-माया प्रकट हो जाती है। राम उसी क्षमा कर देते हैं और उसके द्वारा रावण के पास यह संदेश भेजते हैं—

त्वरितगतिना सद्यः सीता त्वया न तु वंचिता।
नियतविधवाचारः दाराश्चिरं तव वंचिताः ॥३।४०

'आश्चर्यचूड़ामणि' में प्रधान रस 'अद्भुत' है। 'अंकावतार' के यथास्थान उपयोग तथा विष्कंभक के परिमित प्रयोग के कारण इसमें 'उत्तररामचरित' की अपेक्षा अधिक क्रियाशीलता दिखाई पड़ती है। इसकी भाषा सरल, आडम्बरशून्य तथा अर्थगर्भित है। कुछ उदाहरण देखिये— 'न समाधिः स्त्रीषु लोकज्ञः', 'आर्य किं स्नेहः स्खलयति गुणदोषान्', 'कथमौष्ण्यमुष्णेनाच्छाद्यते' आदि। शक्तिभद्र ने वैदर्भी-रीति को अपनाया है। उनके पद्यों में प्रसाद और माधुर्य का सुन्दर संनिवेश है। दुर्गम वन में सुन्दरी-वेश में शूर्पणखा को देख लक्ष्मण कहते हैं—

क्वेदं वनं वनचरैरपि दुर्विगाहं
क्वेयं वधूः कुवलयच्छविचोरनेत्रा।
हेमारविन्दमकरन्दरसोपयोगां
कः श्रद्दधीत जलधौ कलहंसकन्याम् ॥१।११

'कहाँ यह वनवासियों के लिए भी दुर्गम घोर वन और कहाँ यह कमलों की भी शोभा चुरानेवाले नेत्रों से युक्त रमणी ? भला यह कौन विश्वास करेगा कि स्वर्ण-कमलों के मकरन्द-रस का पान करनेवाली कलहंसी कभी खारे समुद्र में निवास करेगी !'

दामोदर मिश्र : हनुमन्नाटक

'हनुमन्नाटक' नामक महानाटक की रचना ८५० ई० के पहले अवश्य हो चुकी होगी, क्योंकि आनन्दवर्धन ने अपने 'ध्वन्यालोक' (८५० ई०) में इसे उद्धृत किया है। इसके दो संस्करण उपलब्ध हैं। पहले और सम्भवतः प्राचीनतर संस्करण के रचयिता दामोदर मिश्र हैं। इसमें १४ अंक हैं। इसका कथानक 'रामायण' से लिया गया है। इसके आरम्भ में प्रस्तावना नहीं है। संपूर्ण नाटक में प्राकृत का बिलकुल प्रयोग नहीं हुआ है। पद्यों की प्रचुरता, गद्य की न्यूनता, पात्रों की बहुसंख्यकता तथा विदूषक का अभाव इसकी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। 'हनुमन्नाटक' का दूसरा संस्करण मधुसूदन दास-विरचित है। इसमें केवल ८ अंक हैं।

एक 'हनुमन्नाटक' हनुमानजी का भी बनाया हुआ प्रसिद्ध है। इसमें चौदह अंक हैं। बीच-बीच में कथा खण्डित है। इसके चौदहवें अंक के निम्न पद्य से यह विदित होता है कि हनुमान् की असली रचना तो मिली नहीं, किन्तु जो भी, जो कुछ भी

मिली, उसके आधार पर दामोदर मिश्र ने इसका संग्रन्थन किया है। हनुमान् का असली नाटक उपलब्ध नहीं होना है। तथापि—

रचितमनिलपुत्रेणार्थ वाल्मीकिताब्धौ
निहितममृतबुद्धया प्राङ्महानाटकं यत्।
सुमतिनृपतिभोजेनोद्धृतं तत्क्रमेण
ग्रथितमवतु विश्वं मिश्रदामोदरेण ॥

अर्थात्—'इसको पवनकुमार ने रचा और शिलाओं पर लिखा था, परन्तु जब वाल्मीकि ने अपनी रामायण रची, तब यह समझकर कि इस अमृत के सामने मेरी रचना कौन पढ़ेगा श्री हनुमानजी से प्रार्थना करके उनकी आज्ञा से इस महानाटक को समुद्र में स्थापित करा दिया, परन्तु विद्वानों से किम्बदन्ती को सुनकर परमसुबुद्धि राजा भोज ने इसको समुद्र में से निकलवाया और जो कुछ मिला उसको उनकी सभा के विद्वान् दामोदर मिश्र ने संगतिपूर्वक संगृहीत किया।' अतएव यह पुस्तक जहाँ-तहाँ अपूर्ण प्रतीत होती है। जो कुछ भी हो ऐसा कोई ही हृदयहीन होगा, जो इसकी भक्तिभरी हृदयग्राहिणी रचना सुनकर आनन्दमग्न न होता हो।

जटायु ने सीता के बचाने के लिए यत्न किया और रावण के रथ को तोड़ने की भरसक कोशिश की। उसका वर्णन देखिये—

अक्षं विक्षिपति ध्वजं दलयते मृद्नाति नद्धं युगं
चक्रं चूर्णयति क्षिणोतितुरगान् रक्षःपतेः पक्षिराट्।
रुन्धन्गर्ज्जति तर्जयत्यभिभवत्यालम्बते ताड्य-
त्याकर्षत्यवलुम्पति प्रचलति न्यंचत्युदंचत्यपि ॥

राजशेखर : रूपक-चतुष्टय

राजशेखर महाराष्ट्र की यायावर नामक क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम दुर्दुक और माता का नाम शीलवती था। उनके पिता 'महाराष्ट्र-चूड़ामणि' अकालजलद थे। उनके वंश में सुरानन्द, तरल और कविराज जैसे यशस्वी कवि हुए थे। उनका विवाह चाहमान (चौहान) जाति की अवन्तिसुन्दरी नामक एक सुशिक्षित महिला के साथ हुआ था। धन और यश कमाने के लिए वे कन्नौज चले गये। उन्हें अपनी विद्वता का बड़ा अभिमान था। 'बालरामायण' (१।१६) में उन्होंने अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ तथा भवभूति का अवतार बताया है। 'कर्पूरमंजरी' में उसकी दो उपाधियों—'बालकवि' और 'कविराज'—का उल्लेख हुआ है।

अपने नाटकों में राजशेखर ने लिखा है कि वे महेन्द्रपाल या निर्भयराज नामक राजा के गुरु थे। ऑफ्रेक्ट ने इन दोनों को एक ही व्यक्ति सिद्ध किया है। ये महेन्द्र-

पाल, महोदय अथवा कान्यकुब्ज के प्रतिहारवंशी राजा थे। सियदोनी के शिलालेख[1] में महेन्द्रपाल की ६०३-४ ई० और ६०७-८ ई० ये तिथियाँ निर्दिष्ट हैं। अतः राजशेखर का स्थितिकाल ६०० ई० के लगभग था। एक ओर राजशेखर ने उद्भट (८०० ई०) तथा आनन्दवर्धन (८५० ई०) का उल्लेख किया है दूसरी ओर 'यशस्तिलकचम्पू' (६५६ ई०), 'तिलकमंजरी' (१००० ई०) और 'व्यक्तिविवेक' (११५० ई०) में राजशेखर का उल्लेख है। इस प्रकार उनका समय दसवीं शताब्दी का आरम्भ ही निश्चित होता है।

राजशेखर ने चार नाटकों की रचना की—'कर्पूरमंजरी', 'विद्धशालभंजिका', 'बालरामायण' और 'बालभारत' या 'प्रचण्डपाण्डव'। 'बालरामायण' में राजशेखर ने अपने को छः कृतियों का रचयिता बतलाया है। इनमें चार उक्त नाटक हैं। पाँचवाँ 'काव्यमीमांसा' नामक अलंकार ग्रन्थ है। छठा हेमचन्द्र के अनुसार, 'हरविलास' नामक महाकाव्य है। 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने अपने 'भुवनकोष' नामक एक भौगोलिक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। सूक्ति-संग्रहों में भी राजशेखर के नाम से कई पद्य मिलते हैं।

'कर्पूरमंजरी' प्राकृत में चार अंकों का एक 'सट्टक' (नृत्य-प्रधान नाटक) है। इसका कथानक रत्नावली के समान है। इसमे राजा चण्डपाल और कुन्तल-राजकुमारी कर्पूरमंजरी की प्रणय-कथा वर्णित है। यद्यपि इसका कथानक लघु है और चरित्र-चित्रण भी विशद नहीं है, फिर भी कई दृष्टियों से यह एक महत्त्वपूर्ण नाटक है—(१) भारतीय साहित्य में आद्योपान्त प्राकृत में रचित यही एकमात्र नाटक उपलब्ध है।[2] (२) जहाँ अन्य नाटकों में नान्दी के बाद सूत्रधार आकर नटी या किसी अन्य पात्र के साथ वार्तालाप करता है, वहाँ 'कर्पूरमंजरी' में नान्दी के पश्चात् स्थापक आकर श्लोक कहता है। (३) इस नाटक की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि उस समय स्त्री-पात्रों का अभिनय स्त्रियाँ करती थीं। (४) 'कर्पूरमंजरी' में 'प्रवेशक' और 'विष्कम्भक' का प्रयोग नहीं हुआ है। (५) इसके प्रत्येक अंक का नाम 'जवनिकान्तर' है और 'जवनिका' शब्द का प्रयोग रंगमंच के परदे के अर्थ में पहले पहल यहीं हुआ है। (६) 'कर्पूरमंजरी' में 'चर्चरी' नामक नृत्य का भी प्रयोग किया है, जिसमें हाव-भाव का प्रधान स्थान होता है। (७) भाषा-विज्ञान पुरातत्त्व[3] तथा ग्राम-गीतों[4] के लिए भी इस नाटक में पर्याप्त सामग्री है।

'कर्पूरमंजरी' का पद-लालित्य दर्शनीय है। इसका कारण प्राकृत की स्वा-

१. Keilhorn : Epigraphica Indica, i, 171
२. हाल में रुद्रदास कृत 'चन्द्रलेखा' नामक एक और प्राकृत सट्टक प्रकाशित हुआ है।
३. ११३६; ४११०-१६;   ४. अंक २, ३

भाविक मधुरिमा है। राजशेखर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि सुकुमारता की दृष्टि से प्राकृत और संस्कृत में उतना ही भेद है जितना स्त्री और पुरुष में (१।७)। प्राकृत छन्दों के प्रयोग में भी राजशेखर कुशल हैं। प्राकृत के गीति-सौन्दर्य, अनुप्रास, माधुर्य और पद-लालित्य का एक नमूना देखिये—

रणन्तमणिणेउरं झणझणन्तहारच्छडं
कणक्कणिअकिङ्किणीमुहलमेहलाडम्बरम्।
विलोलवलआवलीजणिअमञ्जुसिञ्जारवं
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअ हिन्दोलणम् ॥२।३२

झूले पर झूलती हुई सुन्दरी का रमणीय शब्द-चित्र है। 'उसके मणि-नूपुरों से कैसी मीठी झंकार निकल रही है, उसका कंठहार किस प्रकार चमक-दमक रहा है, उसकी करधनी छोटे-छोटे बजनेवाले घुँघुरुओं से कैसी सुहावनी मालूम पड़ती है, उसके हिलते हुए कड़ों से कैसी प्रिय ध्वनि निकल रही है—ऐसी चन्द्रमुखी रमणी को झूलते देख भला किसका हृदय मुग्ध नहीं हो उठता ?'

'कर्पूरमंजरी' में हास्य-रस का भी बड़ा अनूठा चित्रण हुआ है। तृतीय अंक में विदूषक का स्वप्न-वर्णन बड़ा ही सरस और विनोदपूर्ण है। राजा का स्मर-पीड़ा तथा विदूषक की विनोदप्रियता का एक साथ चित्रण किया गया है, जो रोचक और परिहासपूर्ण है। विदूषक की अनूठी उक्तियाँ नाटक के संवादों को सजीव बना देती हैं।

'कर्पूरमंजरी' के पद्यों में महाराष्ट्री और गद्य में शौरसेनी प्राकृत प्रयुक्त हुई है। उसकी प्राकृत में कई प्रान्तीय तथा देशज शब्द आये हैं, जिनका प्रयोग बाद में हिन्दी में भी चल पड़ा, जैसे 'चट्टि' (चाटना), 'खडक्किआ' (खिड़की), 'कहि पि' (कहीं भी), 'ढिल्ल' (ढीला)। 'कर्पूरमंजरी' में लोकोक्तियों का प्रयोग भी सुन्दर हुआ है—'दक्खारसो ण महुरिज्जइ सक्कराए' (द्रक्षारसो न मधुरायते शर्कराभिः), 'एदं तं सीसे सप्पो देसन्तरे वेज्जो' (इदं तत् शीर्षे सर्पो देशान्तरे वैद्यः), 'तडं गदाए वि णावए न वीससीअदी' (तटंगतायामपि नावि न विश्वस्यते)।

'विद्धशालभंजिका' राजशेखर की दूसरी कृति है। यह चार अंकों की एक नाटिका है। इसका भी कथानक 'कर्पूरमंजरी' के समान ही अत्यन्त रोचक है। पहले अंक में लाट का राजा चन्द्रवर्मा अपनी कन्या मृगांकावली को अपना मृगांकवर्मन् नामक पुत्र घोषित कर उसे बालक के वेष में सम्राट् विद्याधरमल्ल की रानी के पास भेजता है। विद्याधर विदूषक से कहता है कि मैंने स्वप्न में एक सुन्दरी बाला को देखकर उसे पकड़ना चाहा, किन्तु वह अपनी मोतियों की माला छोड़कर भाग गई। राजा के मंत्री भागुरायण को यह पता था कि मृगांकवर्मन् वास्तव में स्त्री है और जिससे उसका विवाह होगा वह सार्वभौम राजा होगा। अतः दोनों में प्रणय उत्पन्न करने के लिए

उसने मृगांकवर्मन् को राजा के पास भेजा। तभी से राजा निरन्तर उसी का विचार करता है। संयोगवश वह अपनी चित्रशाला में अपनी प्रेयसी की खुदी हुई मूर्ति (विद्ध-शालभंजिका) देखता है। वह उसके गले में मोतियों की माला डाल देता है। दूसरे अंक में रानी, कुन्तल-राजकुमारी कुवलयमाला का विवाह मृगांकवर्मन् से करना चाहती है। इधर राजा विदूषक के साथ अपने स्वप्न की सुन्दरी मृगांकावली को उद्यान में खेलते हुए तथा एक प्रणय-लेख पढ़ते हुए देखता है। इस प्रकार दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। तीसरे अंक में राजा और विदूषक नायिका से मिलते हैं। चौथे अंक में रानी, ईर्ष्यावश, मृगांकवर्मन् को वस्तुतः बालक जान उसे स्त्री वेष पहना कर उसका विवाह राजा से करा देती है। पर वह स्वयं धोखा खा जाती है। उधर चन्द्र-वर्मा के पुत्र उत्पन्न होता है और वह अपनी पुत्रवेषधारी कन्या मृगांकावली का विवाह राजा के साथ कर देना चाहती है। विवश होकर रानी मृगांकावली का विवाह राजा से कर देती है, और कुवलयमाला का भी विवाह उनसे कर देती है।

'बालरामायण' दस अंकों का 'महानाटक'[1] है। सीता-स्वयंवर में रावण स्वयं उपस्थित होता है, पर शिव-धनुष चढाने का साहस न कर केवल सीता के भावी पति को आपत्तियों का डर दिखाता हुआ चला जाता है। राम के विरुद्ध परशुराम को भड़काकर उसे लेने-के-देने पड़ जाते हैं और परशुराम से युद्ध होते-होते बचता है। रावण को सीता की मूर्ति भेंट की जाती है। रावण उसे वास्तविक समझ धोखा खा जाता है। फिर खिन्न होकर पुरूरवा की भाँति वह अपनी प्रिया (सीता) के लिए प्रकृति—ऋतुओं, सरिताओं, पक्षियों—से याचना करता है। इसी समय नाक-कान से हीन शूर्पणखा को देख निराश प्रेमी रावण के हृदय में पुरुषोचित आवेश का संचार होता है। लंका की ओर बढती चली आ रही राम की सेना के सम्मुख सीता का कटा मस्तक फेंककर रावण असफल छल भी करता है। अन्त में रामचन्द्र उसका वध कर आकाशमार्ग द्वारा अयोध्या लौट आते हैं।

'बालरामायण' कथा का अनावश्यक विस्तार किया गया है। प्रस्तावना ही पूरे अंक के समान लम्बी हो गई है। प्रत्येक अंक प्रायः एक नाटिका के बराबर है। सारे नाटक में शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे विशालकाय छन्दों में विरचित ७४१ पद्य हैं।

'बालभारत' के केवल दो अंक उपलब्ध हुए हैं, जिनमें द्रौपदी-स्वयंवर, द्यूत-क्रीड़ा तथा द्रौपदी-वस्त्रहरण की घटनाएँ वर्णित हैं।

राजशेखर के नाटकों में प्रवाह की शिथिलता, हास्य-रस की न्यूनता तथा

---

१. सर्ववृत्तिविनिष्पन्नं सर्वलक्षणसंयुतम्।
समग्रं तत्प्रतिनिधिः महानाटकमुच्यते॥ भावप्रकाश

ला-कौशल का अभाव स्पष्ट देख पड़ता है। भवभूति की भाँति वे भी अपने नाटकों में पद्यों को दोहराते हैं। फिर भी उनका छन्दःकौशल अनुपम है। स्रग्धरा और शार्दूलविक्रीडित[1] जैसे दीर्घकाय छन्दों के प्रयोग में वे सिद्धहस्त हैं। प्राकृत में इन छन्दों का वे बड़ी कुशलता से प्रयोग करते हैं। उनके पद्यों का रमणीय गीति-सौन्दर्य, चारु शब्द-विन्यास और ध्वन्यर्थक अनुप्रास दर्शनीय है। उनके नाटकों में अनेक सुन्दर लोकोक्तियाँ पाई जाती हैं। तथा तत्कालीन सामाजिक जीवन-सम्बन्धी रोचक बातें ज्ञात होती हैं।[2] उनका भाषा-कौशल अद्भुत है। 'सर्वभाषा-विचक्षण', 'सव्वभासचदुर' ये विशेषण उनके उपयुक्त ही हैं। किसी प्राचीन कवि ने उनके विषय में ठीक ही कहा है—

पातुं श्रोत्ररसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मता
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः।
भोक्तुं स्वादुफलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः॥

क्षेमीश्वर : रूपक-द्वय

'नैषधानन्द' और 'चण्डकौशिक' के रचयिता क्षेमीश्वर राजशेखर (९०० ई०) के समकालीन थे, क्योंकि इन दोनों के आश्रयदाता कन्नौज के राजा महीपाल थे। 'नैषधानन्द' सात अंकों का नाटक है, जिसमें नल-दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा वर्णित है। 'चण्डकौशिक' में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का आख्यान उपनिबद्ध है। भाषा सरल होने पर भी इस नाटक के कथानक तथा वस्तु-विश्लेषण में कोई विशेषता नहीं है।

दिङ्नाग : कुन्दमाला

सन् १९२३ में मद्रास से 'कुन्दमाला' नामक नाटक प्रकाशित हुआ है। कुछ विद्वानों का कथन है कि उसके रचयिता ५वीं शताब्दी के बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग हैं, जिनका उल्लेख 'मेघदूत' के १४वें पद्य[3] में हुआ है और जिनको मल्लिनाथ ने उक्त पद्य की अपनी टीका में कालिदास का समकालीन और प्रतिस्पर्धी माना है। इस

---

१. शार्दूलक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरैः॥ क्षेमेन्द्र

२. Dashartha Sharma : Gleaning from Sanskrit Literature, Journal of Indian History, Vol. IX, pt. 2.

३. स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं।
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्॥

'कुन्दमाला' और भवभूति के 'उत्तररामचरित' में बहुत-कुछ समानता देख पड़ती है। दोनों का कथानक रामायण के उत्तरकांड की कथा पर अवलम्बित है। सुख-पर्यवसायी हैं तथा दोनों में अदृश्य सीता की कल्पना की गई है। इसमें सन्देह नहीं कि भवभूति दिङ्नाग से अधिक श्रेष्ठ नाटककार हैं, और दोनों की कृतियों की तुलनात्मक-समीक्षा के आधार पर यह स्वतः प्रकट हो जाता है कि 'कुन्दमाला' में 'उत्तररामचरित' का पर्याप्त अनुकरण किया गया है। दिङ्नाग में भवभूति की-सी मार्मिकता और भाव-प्रचुरता नहीं है और न वे ही भवभूति की भाँति मानव-मनोभावों के सूक्ष्म पारखी ही हैं। 'उत्तररामचरित' में दाम्पत्य-प्रणय के जो मंजुल चित्र प्रस्तुत हैं, उनका 'कुन्दमाला' में अभाव-सा है। दिङ्नाग के वर्णन प्रायः रूढ़िसम्मत होते हैं तथा उनकी कविता भी मध्यम श्रेणी की है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि 'उत्तररामचरित' जहाँ रस एवं भाव की दृष्टि से सर्वाङ्गसुन्दर एवं श्रेष्ठ है, वहाँ 'कुन्दमाला' क्रियाशीलता की दृष्टि से अधिक प्रभावोत्पादक है।

दिङ्नाग की शैली प्रासादिक और सरल है तथा उनकी भाषा में दुरूहता नहीं है। लम्बे समासों का प्रायः अभाव है। उन्होंने करुण-रस की सुन्दर व्यंजना की है। परित्यक्त सीता को देखकर वन के प्राणी कितने शोकाकुल हो जाते हैं—

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च कोकविधुराः करुणं रुदन्ति।
नृत्तं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं
तिर्यग्गतां वरममी न परं मनुष्याः॥१।१८

राम सीता के परित्याग का स्मरण कर विलाप कर रहे हैं—

नीतस्तावन्मकरवसतौ बन्ध्य शैलसेतुः
देवो वह्निर्न च विगणितः शुद्धिसाक्ष्ये नियुक्तः।
इक्ष्वाकूणां भुवनमहिता सन्ततिर्नेक्षिता मे
किं किं मोहादहमकरवं मैथिलीं तां निरस्य॥३।३

'समुद्र पर पत्थरों का पुल बाँधना निरर्थक हुआ; सीता की पवित्रता के साक्षी अग्निदेव को मैंने कुछ न गिना; संसार-पूजित इक्ष्वाकुओं की सन्तति का भी मैंने कुछ ध्यान नहीं रखा; हाय, मिथिला-राजकुमारी का परित्याग कर मैंने मोहवश क्या कर डाला है?' भवभूति की भाँति दिङ्नाग ने भी प्रकृति के भयावह पटल का वर्णन किया है—

नादः पातालमूलात् प्रभवति तुमुलं पूरयन् व्योमरन्ध्रं
पातक्लिष्टा इवैते दिशि दिशि गिरयो मन्दमन्दाश्चरन्ति।
बद्धानन्दाः समन्ताल्लवणजलधयो मथ्यमाना इवामी
सीमामुल्लंघ्य वेगादुदधिसलिलैः स्वानि वेलावनानि॥६।२४

'पाताल के गर्भ से एक महान् कलकल घोष निकलकर सारे आकाश-मंडल में व्याप्त हो रहा है। ये पहाड़ियाँ गिर जाने के भय से मानो दिशाओं में धीरे-धीरे डगमगा रही हैं। आनन्द से उन्मत्त समुद्र मानो अपने तटवर्ती वनों को अपनी सीमोल्लंघन-कारिणी उत्ताल तरङ्गों से मथ रहा है।'

'कुन्दमाला' में कुछ स्थलों पर खंडित वाक्य मिलते हैं। उसकी प्राकृत में भी कहीं-कहीं कुछ ऐसे प्रयोग हैं, जिनका संस्कृत रूपान्तर नहीं हो सका है। 'कुन्दमाला' के अधिक अध्ययन तथा प्रचार से इन त्रुटियों पर प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

कृष्णमिश्र : प्रबोधचन्द्रोदय

'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के रचयिता कृष्णमिश्र जेजाकभुक्ति के राजा कीर्तिवर्मा के शासन-काल में हुए थे। इस राजा का १०९८ ई० का एक लेख प्राप्त हुआ है। अतः कृष्णमिश्र का समय ११०० ई० के लगभग हुआ है।

संस्कृत नाटकों में 'प्रबोधचन्द्रोदय' शान्त-रस-प्रधान नाटक है। यह एक रूपकात्मक (Allegorical) नाटक है, जिसमे वेदान्त के अद्वैतवाद का रोचक ढंग से प्रतिपादन किया गया है। भास के 'बालचरित' में सर्वप्रथम अमूर्त भावों को पात्रों के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास की सफल और चरम परिणति 'प्रबोधचन्द्रोदय' में देख पड़ती है। इसमें कवि ने विवेक, मोह, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त भावों को पुरुष और स्त्री पात्रों के रूप में कल्पित कर अध्यात्म-विद्या का सुन्दर उपदेश दिया है। दार्शनिक दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त महत्वमय है। इसमें भक्ति और ज्ञान का अपूर्व समन्वय किया गया है। इसके दार्शनिक पद्यों के कुछ उदाहरण नीचे दिये गये हैं -

शान्तेऽनन्तमहिम्नि निर्मलचिदानन्दे तरङ्गावली-
निर्मुक्तेऽमृतसागराम्भसि मनाङ्मग्नोऽपि नाचामति।
निःसारे मृगतृष्णिकार्णवजले श्रान्तोऽपि मूढः पिब-
त्याचामत्यवगाहतेऽभिरमते मज्जत्यथोन्मज्जति ॥ ४१६

'इस ब्रह्म-रूपी प्रशान्त महासागर में कहीं विकार रूपी तरंगें नहीं उठतीं, सर्वत्र अनन्त महिमा व्याप्त हो रही है; सांसारिक विषय-वासनाओं से शून्य निर्मल ज्ञान-रूपी आनन्द प्रसार पा रहा है। ऐसे अमृतमय जल में निरन्तर निमग्न रहने पर भी यह मूढ़ मानव उसका जरा भी आस्वादन नहीं करता। किन्तु दूसरी ओर बार-बार निराश होने पर भी संसार के मृगतृष्णा-तुल्य निस्सार जल का बारम्बार पान करता है, आस्वादन करता है, उसमें डुबकी लगाता है, रमण करता है तथा डूबता-उतराता है।' शोकरूपी वृक्ष किस प्रकार पल्लवित होता है, इसका रूपकात्मक वर्णन देखिये —

उप्यन्ते विषवल्लिबीजविषमाः क्लेशाः प्रियाख्या नरै-
स्तेभ्यः स्नेहमया भवन्ति नचिराद्वज्राग्निगर्भांकुराः ।
येभ्योऽमी शतशः कुकूलहुतमुग्दाहं, दहन्तः शनै-
र्देहं दीप्तशिखासहस्रशिखरा रोहन्ति शोकद्रुमाः ।।५।१६

'विष-लता के बीजों के समान अनर्थकारी पुत्र-कलत्र-रूपी क्लेश-बीजों को मनुष्य इस संसार में बोते हैं। इन बीजों से शीघ्र ही वज्राग्नि के समान संतापकारक स्नेहासक्ति रूपी अंकुर फूट निकलते हैं। इन्हीं अकुरों से शोकरूपी वृक्षों का प्रादुर्भाव होता है, जो हजारों दुःख-रूप ज्वालाओं से युक्त हो तुषाग्नि (भूसी की आग) की तरह मनुष्यों की देह को भीतर-ही-भीतर जलाया करते है।' अतएव इस अज्ञान-रूपी जड़वाले संसार-वृक्ष का समूल नाश करने का एकमात्र उपाय यही है कि जगदीश्वर परमात्मा के आराधन-बीज से प्रादुर्भूत तात्विक ज्ञान का ही आश्रय लिया जाय—

अमुष्य संसारतरोरबोधमूलस्य नोन्मूलविनाशनाय ।
विश्वेश्वराराधनबीजजातात्तत्त्वावबोधादपरोऽभ्युपायः ।। ४।७

'प्रबोधचन्द्रोदय' का ही अनुकरण कर तेरहवी शताब्दी में यशपाल ने 'मोह-पराजय', चौदहवीं शताब्दी में वेङ्कटनाथ ने 'संकल्पसूर्योदय' तथा सोलहवी शताब्दी में कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाम रूपकात्मक नाटकों की रचना की। गोस्वामी तुलसीदास ने अरण्यकाण्ड में पंचवटी वर्णन-प्रसंग मे जिस आध्यात्मिक रूपक की रचना की है, उसमें 'प्रबोधचन्द्रोदय' के पात्रों का भी अपनाया है। कवि केशवदास ने इसका छन्दोबद्ध अनुवाद 'विज्ञान-गीता' में किया है।

जयदेव : प्रसन्नराघव

'प्रसन्नराघव' के कर्त्ता जयदेव (१२०० ई०) विदर्भ-देश के कुण्डिननगर के निवासी थे। उनके पिता का नाम महादेव तथा माता का नाम सुमित्रा था। उन्होंने 'चन्द्रालोक' नामक प्रसिद्ध अलंकार-ग्रंथ की रचना की है। वे 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव से सर्वथा भिन्न हैं। कवि होने के साथ ही वे उच्चकोटि के तार्किक भी थे। 'प्रसन्नराघव' की प्रस्तावना में वे स्वयं कहते हैं—

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ।।१।१६

'जिनकी वाणी काव्य की कोमल-कान्त-पदावली की रचना करने में सहज ही समर्थ हो, यदि वह तर्कशास्त्र के कर्कश और वक्र वाक्यों का भी गुम्फन कर सके तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात ! क्या जो लोग आनन्दपूर्वक अपनी प्रिया के कुच-मण्डल

का स्पर्श अपनी उँगलियों से करते हैं, वे ही बड़े-बड़े मतवाले हाथियों के मस्तक पर उन्हीं उँगलियों से बाण-संधान नहीं करते ?'

'प्रसन्नराघव' सात अंकों का नाटक है। इसमें रामायण की कथा अनेक रोचक परिवर्तनों के साथ चित्रित है। पहले अंक में बाणासुर और रावण दोनों सीता की याचना कर उपहासास्पद बनते हैं। दूसरे अंक में राम जनकपुर के उद्यान में सीता को अपनी सखी के साथ भ्रमण करते देखते हैं। राम और सीता दोनों वासन्ती-लता तथा सहकार-वृक्ष के संयोग का वर्णन कर अपने भावी मिलन की ओर उत्कण्ठापूर्ण संकेत करते हैं। दोनों में साक्षात्कार होता है और वे परस्पर आकृष्ट होते हैं। तीसरे अंक में सीता-स्वयंवर तथा चौथे अंक में राम का परशुराम से युद्ध होता है। पाँचवें अंक की घटनाओं के वर्णन में कवि की अनूठी सूझ देख पड़ती है। नदियों के संवाद द्वारा राम-वनवास से लेकर सीता-हरण तक की घटनाओं से पाठकों को परिचित करा दिया जाता है। छठे अंक में विरही राम को दो विद्याधर माया द्वारा लंका की घटनाएँ दिखाते हैं। सीता रावण के प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा देती हैं। रावण क्रोधवश उन्हें मार डालने के लिए आगे बढ़ता है, इतने में ही उसके हाथ में उसके पुत्र अक्ष का कटा सिर आ जाता है। सातवें अंक में रावण-वध कर राम आकाश-मार्ग से अयोध्या लौट आते हैं।

भवभूति के समय जयदेव का संस्कृत भाषा पर असामान्य अधिकार था। उनकी भाषा में अद्भुत विकास एवं लालित्य है। पदशय्या इतनी मसृण एवं उदार है कि भाषा में अपूर्व रमणीयता आ गई। उन्होंने अपने विषय में जो गर्वोक्ति की है— **'विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दमधुरः'**—वह बहुत कुछ उपयुक्त है। उनकी शैली बड़ी ही प्रांजल, प्रासादिक, परिष्कृत एवं मधुर है। उनकी उपाधि 'पीयूषवर्ष' सर्वथा उचित है। सच पूछा जाय तो 'प्रसन्नराघव' में जितना नाटकीय सौंदर्य नहीं है, उससे कहीं अधिक सूक्ति-सौंदर्य है। उनके सूक्ति-सौंदर्य पर ही मुग्ध होकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने उनके कई पद्यों को अपने 'रामचरितमानस' में अनुवाद करके स्वीकार कर लिया है।[1] उनकी शैली के कुछ नमूने देखिये—

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः॥ १।१८

'इस संसार में भला ऐसे सज्जन कितने हैं जो स्वरचित रचनाओं से आनन्दित होते

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृष्ठ १६३-१७४

हुए भी दूसरों की काव्यकृतियों पर पूर्ण परितोष प्रकट करते हैं ? क्या आम्र का वह वृक्ष जिसका थाला अपने सघन मकरन्द-रस से ही भर रहा हो, घड़ों के जल से सींचे जाने की कामना नहीं करता ?'

सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरङ्गं यतः
क्वासि प्रेयसि हा कुरङ्गनयने चन्द्रानने जानकि ॥ ६।१

सीता के वियोग से व्यथित राम पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्रमंडल को उदित होते देख लक्ष्मण से कहते हैं—'हे लक्ष्मण, चलो किसी पेड़ के नीचे चलें, क्योंकि देखो यह प्रचण्ड सूर्य उदित हो रहा है ।'

लक्ष्मण—'हे राघव, रात में सूर्य कहाँ से आयेगा ? यहाँ तो चन्द्रमा उदित हो रहा है ।'

राम—'हे वत्स, यह बात तुम्हें कैसे मालूम हुई ?'

लक्ष्मण—'क्योंकि यह मृग के चिह्न को धारण कर रहा है ।' लक्ष्मण के मुख से मृग नाम सुनते ही मृगनेत्री सीता का स्मरण कर राम कह उठते हैं—

'हा प्रियतमे, मृगनयनी, चन्द्रमुखी जानकी ! तुम कहाँ हो ?' 'प्रसन्नराघव' के कमनीय शब्द-विन्यास के कुछ नमूने देखिये—

'युवतिलोकललामवल्ली', 'कलकण्ठीकण्ठसंवादभूमिः' 'सततसुख-संवासवसतिः', 'केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ।'

वत्सराज : विविध प्रकार के रूपक

ये कालंजरनरेश परमर्दिदेव (११६३-१२०३ ई०) के मन्त्री थे । इन्होंने छः नाटकों की रचना की —(१) 'किरातार्जुनीय व्यायोग' भारवि के प्रसिद्ध महाकाव्य के आधार पर रचा गया एकांकी 'व्यायोग' है । (२) 'कर्पूरचरित' एक अंक का 'भाण' है, जिसमें द्यूतकर कर्पूर अपने रोचक अनुभवों का वर्णन करता है । (३) 'हास्यचूड़ामणि' एकांकी 'प्रहसन' है । (४) रुक्मिणीहरण चार अंकों का 'ईहामृग' है । (५) 'त्रिपुरदाह' चार अंकों का 'डिम', है, जिसमें शिव द्वारा त्रिपुरासुर की नगरी के विध्वंस का वर्णन है । (६) 'समुद्र-मन्थन' तीन अंकों का 'समवकार' है । इसमें देवताओं और राक्षसों द्वारा समुद्र-मंथन, समुद्र से चौदह रत्नों की उत्पत्ति, विष्णु और लक्ष्मी का प्रणय, विवाह इत्यादि घटनाएँ वर्णित हैं ।

भास के अनन्तर वत्सराज ही ऐसे नाटककार हुए हैं, जिन्होंने इतने विविध प्रकार के रूपकों की रचना की है । उनकी शैली सरल, सशक्त और ललित है । उसमें दीर्घ समासों तथा दुरूह वाक्य-विन्यास का प्रयोग नहीं किया गया है । छोटे-छोटे

नाटकों में नाटकीय क्रियाशीलता, रोचकता तथा घटनाओं की प्रधानता देख पड़ती है। उनकी शैली का नमूना देखिये—

सिध्यन्ति कामाः बलिनां,बलेन लोकस्थितिः किन्तु न लंघनीया।
वृष्ट्वैव संहृत्य मलं गिरीशः शत्रुच्छिदे सज्जयति त्रिशूलम्॥
ध० ह० २।१२

बारहवीं शताब्दी के बाद संस्कृत नाटकों का प्रचार क्रमशः कम होता गया। इसका एक कारण यह था कि कविगण अपनी रचनाएँ सुशिक्षित शिष्टवर्ग के लिए करते थे, अतः जनसाधारण के लिए दुर्बोध होने के कारण उनकी कृतियों का प्रचार व्यापक न हो सका। दूसरे, देश में विधर्मियों का शासन स्थापित हो जाने के बाद संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन और सृजन को राजकीय प्रोत्साहन मिलना बन्द हो गया। तीसरे, संस्कृत का प्रयोग दैनिक व्यवहार में कम होता गया और उसका स्थान धीरे-धीरे प्रान्तीय भाषाओं ने ले लिया। फिर भी संस्कृत कई शताब्दियों तक नाटकों की भाषा बनी रही। उदाहरणार्थ, विद्यापति ठाकुर के नाटकों में पात्र संस्कृत और प्राकृत का ही प्रयोग करते हैं, केवल पद्य मैथिली में है।

सारे मध्य युग में तथा अभी तक संस्कृत नाटक लिखे जाते हैं। संस्कृत नाटकों की एक हाल की सूची में ६५० नाटकों के नाम दिये गये हैं।

प्रो० सिल्वन लेवी के छन्दों में भारत की मौलिकता उसकी नाट्य-कला में पूर्णतया अभिव्यक्त हुई है—'इस कला में भारत की रूढ़ियों, सिद्धान्तों और संस्थाओं का मिला-जुला सार पाया जाता है। नाटक भारतीय प्रतिमा का सर्वोत्तम आविष्कार है, भारत की साहित्य-कला का चरम निचोड़ है।'

संस्कृत नाटकों की प्रमुख विशेषताएँ

संस्कृत के नाटक रस-प्रधान होते हैं। उनमें वास्तविकता अथवा कथावस्तु की यथार्थता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया, जितना प्रेक्षकों अथवा पाठकों के हृदय में किसी रस-विशेष का संचार करने की ओर। कवि की विदग्धता केवल रसाभिव्यक्ति की पूर्णता में ही मानी जाती थी। रस ही नाट्यकला का प्रधान लक्ष्य माना गया। प्रधान रस शृंगार अथवा वीर इन्हीं दो में से कोई होता था। पाश्चात्य नाटकों की तरह चरित्र-चित्रण नाटक का मुख्य अंग नहीं समझा गया। अतः नाटकों में प्रायः ऐसी ही कथा का आश्रय लिया गया, जो प्रसिद्ध होने के कारण प्रेक्षकों के मनोनुकूल हो। इस प्रकार संस्कृत नाटक रस-प्रधान तथा कवित्वमय हुए और उनमें आदर्शवाद की सृष्टि हुई। इसका आशय यह नहीं कि संस्कृत नाटक में वास्तविकता का अस्तित्व ही नहीं। सच पूछा जाय तो संस्कृत नाटकों का ही नहीं अपितु समग्र

संस्कृत काव्य-साहित्य का उद्देश्य यथार्थ और आदर्श दोनों का समुचित समन्वय उपस्थित करना था।

संस्कृत नाटकों में पात्रों की संख्या नियत नहीं रहती। पात्र लौकिक, दिव्य अथवा अर्धदिव्य होते हैं। कवियों ने व्यक्तिमूलक (individual) पात्रों की अवतारणा की ओर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना समुदायगत (typical) चरित्रों की सृष्टि की ओर। कालिदास, शूद्रक प्रभृति कुछ महान् कलाकारों की कृतियों में भले ही पात्र अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हो, किन्तु साधारणतया संस्कृत नाटककारों ने परम्परा-युक्त चरित्रों का ही निर्माण किया है। 'स्वप्नवासवदत्त', 'मालविकाग्निमित्र', 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका', 'कर्पूरमंजरी' आदि के नायक-नायिकाओं के अस्तित्व में कोई विशेष अन्तर नही प्रतीत होता। पात्र अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। संस्कृत का प्रयोग केवल नायक अथवा उच्च वर्ग के पात्रों द्वारा होता है। निम्न श्रेणी के लोग और स्त्री-पात्र प्राकृत में ही बोलते हैं।

संस्कृत नाटको में एरिस्टॉटल द्वारा निर्दिष्ट समय और स्थान की अन्विति (unities of time and place) भी नहीं पाई जाती। केवल 'कर्णभार' और 'ऊरुभंग' दो अपवाद हैं। पाश्चात्य नाटकों की भाँति संस्कृत नाटक के अंकों का विभाजन विभिन्न दृश्यों में नहीं होता। भाषा गद्य-पद्यमय होती है। पद्यों को प्रायः स्वर से पढ़ा जाता है। नाटक के अन्तर्गत नाटक, पत्र-लेखन, अभिज्ञान (पहचान की निशानी), विदूषक आदि के उपयोग में संस्कृत तथा पाश्चात्य नाटकों में समानता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत नाटक अभिनय के लिए ही लिखे जाते थे, क्योंकि इनमें नाटकीय निर्देश और अभिनय-संकेत भी दिये गये हैं। दर्शकों के बैठने के लिए नियम भी बने थे। स्त्री-पात्रों का अभिनय नटियां किया करती थी। नाटक का कथानक ऐतिहासिक, पौराणिक या कवि-कल्पित होता है। उसमें रंगमंच पर वध, युद्ध, विवाह, भोजन, यात्रा, मृत्यु आदि अशुभ या व्रीड़ा-जनक व्यापारों का अभिनय निषिद्ध माना गया है।

संस्कृत नाटक प्रायः सुखान्त होते हैं, किन्तु यह कथन युक्तिसंगत नहीं कि संस्कृत में दुःखान्त नाटकों का नितान्त अभाव है। यदि दुःखान्त नाटक का अर्थ नायक के शोक, पराभव और मृत्यु का चित्रण करना है तो इस दृष्टि से 'कर्णभार', 'ऊरुभंग', 'वेणीसंहार' और 'चण्डकौशिक' निश्चित रूप से दुःखान्त नाटक माने जाने चाहिये। 'कर्णभार' में कर्ण की मृत्यु तो नही होती पर कवच-कुण्डलों से वंचित हो जाने के रूप में वह अपने जीवन की सबसे बड़ी विपत्ति मोल ले लेता है। 'ऊरुभंग' में दुर्योधन की रंगमंच पर मृत्यु हो जाती है और 'वेणीसंहार' में उसकी मृत्यु की सूचना

हमें द्वारपाल के द्वारा मिलती है। 'चण्डकौशिक' में भी हरिश्चन्द्र दुःखों से अभिभूत हो अन्त में स्वर्ग जाते हैं।[1]

प्रत्येक संस्कृत नाटक का आरम्भ 'प्रस्तावना' से होता है। प्रस्तावना में सूत्रधार, नटी, विदूषक अथवा परिपार्श्वक के साथ बातचीत करता हुआ नाटक की कथा-वस्तु और कवि का संक्षिप्त परिचय देकर नाटक का आरम्भ कराता है। अंक की समाप्ति तक रंगमंच कभी खाली नहीं रहता। प्रथम अंक के आरम्भ में अथवा दो अंकों के बीच में 'विष्कम्भक' का प्रयोग होता है, जिसमें संवाद या स्वागत-भाषण द्वारा प्रेक्षकों को ऐसी घटनाओं की सूचना दी जाती है, जिसका रंगमंच पर दिखलाया जाना आवश्यक नहीं, किन्तु कथासूत्र के निर्वाह के लिए जिनका जानना अनिवार्य है। नाटक की समाप्ति 'भरतवाक्य' से होती है, जिसमें प्रधान पात्र देश या समाज की उन्नति की शुभ-कामना करता है। संस्कृत नाटक में कम-से-कम पाँच और अधिक-से-अधिक दस अंक होते हैं।

संस्कृत नाटकों में प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध देख पडता है। प्रकृति की रमणीयता नाटक की चारुता में अभिवृद्धि करती है। उपवन के वृक्ष, लताएँ, पशु, पक्षी आदि सभी नाटक के सजीव अंग हैं। संस्कृत नाटकों में अन्तःप्रकृति के साथ ही बाह्य प्रकृति का भी सुन्दर एवं विशद चित्रण पाया जाता है। अन्तःप्रकृति की सूक्ष्म एवं सुकुमार भावनाओं के चित्रण के लिए बाह्य प्रकृति चित्रफलक का कार्य करती हैं।

संस्कृत नाटकों की रचना का कलात्मक प्रभाव क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए 'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि कहते हैं कि नाटक दुःख, परिश्रम अथवा शोक से त्रस्त लोगों के लिए विश्राम और विनोद का साधन है—

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।
विनोदजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥

कालिदास ने नाटक को भिन्न रुचिवाले लोगों का एक सामान्य मनोविनोद बतलाया है—'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुध्याप्येकं समाराधनम्' (माल० १।४)। भवभूति ने अच्छे नाटकों के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं चित्राः कथा वाचि विदग्धता च॥

मा० मा० १।६

'विभिन्न रसों का प्रचुर एवं गहन प्रयोग, प्रीतिपूर्ण, रुचिर एवं कमनीय कार्य-कलापों

---

१. S. Ramachandra Rao : Tragedies in Sanskrit (1935), pp. 274-301.

का अभिनय, पराक्रम और प्रणय का चित्रण, विचित्र कथा-वस्तु तथा निपुण संवाद (ऐसे लक्षणों से युक्त नाटक ही उत्कृष्ट माने जाते हैं)।' धनंजय ने 'दशरूपक' में कहा है कि नाटकों की रचना तो केवल आनन्दातिरेक की विशुद्ध अभिव्यक्ति मात्र है, जो अल्प-बुद्धि उन्हें इतिहास आदि के समान व्युत्पत्तिजनक बौद्धिक ग्रन्थ ही मानता है, उसे कलाजन्य सौंदर्य अथवा आनन्द का लेशमात्र भी बोध नहीं—

आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥ १ ॥

गद्य-साहित्य

उत्पत्ति तथा विकास—संस्कृत में गद्य का प्रयोग वैदिक काल से होता आया है। 'कृष्णयजुर्वेद', 'ब्राह्मण' तथा 'उपनिषद्' अधिकांश गद्य में ही हैं। तत्पश्चात् गद्य का प्रयोग 'महाभारत' में देख पड़ता है। यास्क (७०० ई०पू०) का 'निरुक्त' गद्य में विरचित है। पतंजलि (१५० ई०पू०) ने अपना 'महाभाष्य' गद्य में लिखा है। पद्य की अपेक्षा गद्य की श्रेष्ठता दिखलाने के लिए ही प्राचीन काल से यह उक्ति प्रचलित है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—'गद्य ही कवियों की कसौटी है।' संस्कृत साहित्य में गद्य का उपयोग प्रधानतया टीकाओं में, व्याकरण-ग्रन्थों में तथा ज्योतिष-वैज्ञानिक ग्रन्थों में हुआ है। काव्य-माध्यम की दृष्टि से गद्य का स्थान पद्य की अपेक्षा गौण है और उसका प्रयोग कथाओं में, आख्यायिकाओं में तथा आंशिक रूप में नाटकों में हुआ है।

संस्कृत गद्य-काव्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। इसका उद्भव कब और कैसे हुआ, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। गद्य-काव्य का सर्वप्रथम दर्शन दण्डी, सुबन्धु और बाण की कृतियों में होता है, वह भी पूर्ण विकसित रूप में उनके पूर्व के लेखकों तथा रचनाओं का इतिहास निविड़ अंधकार में छिपा है। हाँ, इतना तो निश्चित है कि गद्य-काव्य भी संस्कृत साहित्य की एक परम प्राचीन शाखा है। कात्यायन (३०० ई० पू०) अपने 'वार्तिक' में 'आख्यायिका' का उल्लेख करते हैं।[1] पतंजलि अपने 'महाभाष्य' में तीन आख्यायिकाओं से परिचित हैं—'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी'।[2] 'बृहत्कथा', 'पंचतन्त्र' की कथाएँ तथा 'तन्त्राख्यायिका' में 'कथा' और 'आख्यायिका' (जो गद्य-काव्य के ही दो भेद हैं) का जो उल्लेख है, उनका गद्य-काव्य से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं। पर यह निर्विवाद है कि गद्य-काव्य की सृष्टि पद्य-काव्य से लोक-कथाओं के माध्यम द्वारा ही

---

१. 'लुबाख्यायिकेभ्यो बहुलम्', 'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च'—वार्तिक।
२. 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' बहुलं लुग्वक्तव्यः। वासवदत्ता सुमनोत्तरा न च भवति। भैमरथी। महाभाष्य ४।३।८७

हुई है। बाण 'हर्षचरित' में भट्टार हरिचन्द्र[1] नामक एक उच्च कोटि के गद्य-लेखक का उल्लेख करते हैं, किन्तु उनका कोई गद्य-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। कुछ उपलब्ध शिलालेखों से गद्य-काव्य का प्रचार एवं प्रसार स्पष्ट लक्षित होता है। रुद्रदामन् के शिलालेख (१५० ई०) में अलंकृत गद्य-शैली का प्रयोग हुआ है। एक गुप्तकालीन शिलालेख (४०० ई०) ऐसी शैली में रचित उपलब्ध हुआ है, जिसकी तुलना बाण की गद्य-शैली से हो सकती है। इन प्रमाणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि गद्य-काव्य की कला का प्रचार दण्डी, सुबन्धु और बाण से कई शताब्दी पूर्व से हो रहा होगा, किन्तु इन कलाकारों ने अपने अनुपम तथा उत्कृष्ट गद्यकाव्यों के प्रभाव से अपने पूर्ववर्ती लेखकों को ऐसा आच्छादित कर दिया कि उनमें से बहुतों के नाम भी उपलब्ध नहीं होते। दण्डी, सुबन्धु और बाण गद्य-काव्य के विकास-काल की चरमोन्नति के प्रतिनिधि लेखक हैं। इनसे पूर्व दीर्घकाल तक साहित्य के इस अंक का अभ्यास होता रहा होगा, यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। वररुचि-कृत 'चारुमती', रोमिल-सोमिल-कृत 'शूद्रक-कथा'[2] तथा श्रीपालि-कृत 'तरंगवती'[3] इस कथन की पुष्टि करते हैं। यद्यपि ये लेखक और ये ग्रन्थ हमारे लिये केवल नाम मात्र के ही हैं, तथापि वे गद्य-काव्य की उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास के परिचायक हैं।

कथा और आख्यायिका—संस्कृत गद्य-साहित्य के प्रधान रूप से दो विभाग किये गये हैं—'कथा' और 'आख्यायिका'। दण्डी[4] के अनुसार इनमें निम्नलिखित भेद होते हैं—(१) कथा कवि-कल्पित होती है, आख्यायिका ऐतिहासिक इतिवृत्ति पर अवलम्बित।[5] (२) कथा में वक्ता स्वयं नायक अथवा अन्य कोई रहता है, आख्यायिका में नायक स्वयं वक्ता होता है। आख्यायिका को हम एक प्रकार से आत्म-कथा कह सकते हैं। (३) आख्यायिका का विभाग अध्यायों में किया जाता है, जिन्हें उच्छ्वास कहते हैं तथा उसमें वक्त्र और अपरवक्त्र छन्द के पद्यों का समावेश रहता है, पर कथा में नहीं। (४) कथा में कन्या-हरण, संग्राम, विप्रलम्भ, सूर्योदय, चन्द्रोदय, आदि विषयों का वर्णन रहता है, पर आख्यायिका में नहीं। (५) कथा में लेखक किसी अभि-प्राय से कुछ ऐसे विशेष शब्दों (catchwords) का प्रयोग करता है, जो कथा और आख्यायिका में भेद स्थापित करते हैं।

---

१. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥—हर्षचरित

२. तौ शूद्रककथाकारौ वन्द्यौ रामिलसौमिलौ।
काव्यं ययोर्द्वयोरासीदर्धनारीश्वरोपमम् ॥—जल्हण

३. 'पुण्या पुनाति गंगेव गां तरंगवती कथा'—तिलकमंजरी

४. काव्यादर्श १।२३-३०

५. 'आख्यायिकोपलब्धार्था', 'प्रबन्धकल्पना कथा'—अमरकोष १।५।५,६

उपर्युक्त नियमों का एकान्ततः पालन संस्कृत गद्य-लेखकों ने नहीं किया है। दण्डी स्वयं ही कहते हैं कि कथा-आख्यायिका में कोई महत्त्व का भेद नहीं। इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि ये गद्य-काव्य के दो नाम मात्र हैं।

दण्डी : दशकुमारचरित

गद्य-काव्य के लेखकों में सबसे प्राचीन कृतियाँ महाकवि दण्डी की उपलब्ध होती हैं। 'शार्ङ्गधरपद्धति' में राजशेखर के नाम से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया गया है—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

इस कथन के अनुसार दण्डी ने तीन ग्रन्थों की रचना की। इनमें से दो 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' हैं। 'काव्यादर्श' अलङ्कार-शास्त्र का ग्रन्थ है तथा 'दशकुमारचरित' गद्य-काव्य है। 'काव्यादर्श' में गद्य-काव्य की शैली एवं कथावस्तु के सम्बन्ध में जिन नियमों का विधान किया गया है, उनका सर्वथा पालन 'दशकुमारचरित' में नहीं देख पड़ता। अतः कुछ विद्वानों की धारणा है कि उक्त दोनों कृतियाँ दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की लेखनी से प्रसूत हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी ने 'दशकुमारचरित' की रचना अपने साहित्यिक जीवन के प्रभात-काल में की तथा 'काव्यादर्श की रचना प्रौढ़ प्रतिभा की प्राप्ति के पश्चात्। दण्डी की तीसरी रचना के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि दण्डी की तृतीय रचना 'छन्दोविचिति' या 'कलापरिच्छेद' है, क्योंकि 'काव्यादर्श'[१] में इन नामो का उल्लेख है। पर उक्त दोनों नाम छन्दःशास्त्र-सम्बन्धी किसी भी ग्रन्थ के हो सकते हैं। पिशेल ने निम्नलिखित दो आधारों पर 'मृच्छकटिक' को दण्डी की तीसरी रचना सिद्ध करने का प्रयास किया है—(१) 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' वाला प्रसिद्ध पद्य 'काव्यादर्श' (२।२२६) तथा 'मृच्छकटिक' (।३४) दोनों में पाया जाता है। (२) 'मृच्छकटिक' तथा 'दशकुमारचरित' का सामाजिक चित्रण एक-सा है। अतः दोनों दण्डी की रचनाएँ हैं। परन्तु भास के नाटकों की खोज के उपरान्त पहला तर्क निराधार हो जाता है तथा दूसरे तर्क में भी औचित्य नहीं देख पड़ता। कुछ पण्डितों ने 'मल्लिकामारुत' नामक नाटक को दण्डी की रचना माना है। किन्तु यह नाटक मालाबार प्रान्त के उद्दण्ड रङ्गनाथ (१५०० ई०) की रचना स्वीकार हो चुका है।[२] भोजदेव ने 'द्विसन्धानकाव्य' का दण्डी

१. १।२१; ३।१७१
२. Keith : Sanskrit Drama, p. 217

की रचना के रूप में उल्लेख किया है और उसका एक श्लोक भी उद्धृत किया है।[1] सन् १९२४ में 'अवन्तिसुन्दरी कथा' नामक एक अपूर्ण गद्य-काव्य प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक एम० आर० कवि महोदय ने इसे दण्डी की रचना माना है।[2] 'अवन्ति-सुन्दरीकथा' और 'दशकुमारचरित' के कथानकों में समानता है। अन्तर केवल शैली में है। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं, क्योंकि 'काव्यादर्श' की जंघात-कृति टीका में 'अवन्तिसुन्दरी' नामक आख्यायिका का उल्लेख किया गया है। अतः 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को ही विद्वानों ने दण्डी की तीसरी रचना माना है।

दण्डी के आविर्भाव-काल के विषय में बहुत मतभेद है। ९वीं शताब्दी के ग्रन्थों में दण्डी का उल्लेख पाया जाता है। डा० बार्नेट[3] का कथन है कि सिंहाली भाषा के अलंकार-ग्रन्थ 'सिव-बस-लंकर' (स्वभाषालंकार) की रचना 'काव्यादर्श' के आधार पर की गई है। इसके रचयिता राजा सेन प्रथम का ८४६-८६६ ई० था। ८१४ ई० के कन्नड़ी अलंकार-ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' में भी 'काव्यादर्श' की यथेष्ट छाप देख पड़ती है। अतः दण्डी ८०० ई० के पहले ही हुए होंगे।

वस्तुतः दण्डी कवि की उत्पत्ति सप्तम शताब्दी में हुई है, यद्यपि इनके उत्पत्ति समय निर्धारण में मतभेद है। परन्तु अवन्तिसुन्दरी के आधार पर इनके जीवनचरित का कुछ वर्णन इस प्रकार है—महाकवि दण्डी किरातार्जुनीय के रचयिता कविवर भारवि के परममित्र दामोदर के प्रपौत्र थे अथवा कुछ विद्वानों के कथनानुसार महाकवि भारवि का नाम ही दामोदर था और दण्डी कवि उन्हीं भारवि के प्रपिता का नाम मनोरथ था तथा पिता का नाम वीरदत्त था। वीरदत्त चार भाई थे। चारों भाइयों में वीरदत्त सबसे छोटे थे तथा दर्शनशास्त्र में निष्णात थे। दण्डी की माता का नाम गौरीदेवी था। अभाग्यवश दण्डी कवि बाल्यावस्था में ही मातृ-पितृविहीन हो गये थे। ये काञ्चीपुरी के निवासी थे। यह जनश्रुति तो सुविख्यात है ही कि पल्लव-नृपति के राजकुमार को शिक्षित करने के लिए इन्होंने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'काव्यादर्श' की रचना की थी। कई लेखकों के मतों में 'काव्यादर्श' में वर्णित राजवर्मा की काञ्ची के अधिपति पल्लव-नृपति हैं। पल्लव-नृपति शैव धर्मावलम्बी थे और उसके प्रचारक भी थे। इनका राज्यकाल ईस्वी ६९० से ७२५ तक माना गया है। अतएव इस महाकवि का समय इतर प्रमाणों के अनुसार तथा अवन्तिसुन्दरी की कथा के आधार पर सातवीं शताब्दी का अन्तिम चरण ज्ञात होता है। इस कथन की पुष्टि इसके द्वारा और भी

१. उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्धनः।
धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः॥

२. Pro of Or. Conf. 1922, pp. 193-201.

३. J. R. A. S. 1906, p. 841.

मानी जाती है कि काव्यादर्श में कालिदास एवं बाण के वर्णनों के सदृश वर्णन पाया जाता है। प्रोफेसर तथा इतिहासज्ञ पाठक के कथनानुसार 'काव्यादर्श' में निर्वर्त्य तथा विकर्य एवं प्राप्य हेतु का विचार वाक्यपदीयकर्ता भर्तृहरि (६५० ई०) के समान किया गया है, परन्तु महाशय काणे ने अपनी 'साहित्यदर्पण' की भूमिका में अनेक प्रमाणों का उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि कविवर दण्डी भामह के पूर्ववर्ती कवि थे। यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि महाशय काणे भामह का काल ६०० ई० के पश्चात् मानते हैं। परन्तु, भामह का काल ६०० ई० के बाद हर्गिज नहीं है, अपितु उनका काल ५०० ई० के समीप अथवा प्रथम मानें तो कोई हानि नहीं।

हाँ, महाशय काणे का कथन विचारने योग्य अवश्य हो सकता है, क्योंकि अवन्तिसुन्दरी कथा को प्रमाणरूपेण मानने में अभी तक इतिहासज्ञों में मतैक्य नहीं है। महाशय काणे स्वमतानुरूप सिद्धान्त के समर्थन में कहते हैं कि कवयित्री विद्या (विज्जा व विज्जका) के नाम से निर्देशित एक श्लोक 'शार्ङ्गधरपद्धति' में वर्णित है। उक्त श्लोक में 'काव्यादर्श' का वर्णन है। वह श्लोक निम्नांकित प्रकार से है—

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।
वृथव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि 'काव्यादर्श' के प्रणेता (रचयिता) दण्डी कवि ही हैं। यथाक्रम दसवीं और एकादश शताब्दियों के आलंकारिकों ने अर्थात् मुकुल भट्ट और मम्मट भट्ट ने क्रमशः अपने-अपने अलंकार-ग्रन्थों में जिनके नाम 'अभिधा-वृत्तिमातृका' तथा 'शब्द-विचार' रखा है, उनमें विज्जका के अनेक श्लोकों का उद्धरण किया है। अतएव विज्जका का समय ८५० ई० पूर्व में जल्हण कवि की 'सूक्ति-मुक्तावलि' में राजशेखर-कृत श्लोक मिलता है, जिससे विदित होता है कि कर्नाटक प्रान्त में विजयांका नाम की कोई कवयित्री सरस्वती के समान तदानीन्तना थी, जैसा निम्नांकित शार्ङ्गधरपद्धति के १८४वें श्लोक से प्रतीत होता है—

सरस्वती कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या विदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥

विज्जका ही विजयांका थी तथा वही विजयांका यदि द्वितीय पुलकेशी के कुमार चन्द्रादित्य की महारानी विजयभट्टारिका रही हो तो उसका काल ६६० ईस्वी के समीप माना जाता है। अतः उससे सिद्ध हो गया कि महाशय काणे दण्डी कवि को ६००/ई० के समीप मानते हैं तथा अन्य इतिहासकार इन्हें सातवीं सदी के अन्तिम चरण में मानते हैं। इन दोनों मतों में अर्थात् महाशय काणे और अन्य इतिहासवेत्तृ मंडली के मतों में महाशय काणे का मत कुछ शिथिल मालूम पड़ता है। अस्तु, दण्डी कवि द्वारा

रचित ग्रन्थों में भी इतिहासकारों में अनैक्य मत हैं। पूर्वोक्त राजशेखर-कृत शार्ङ्गधर-पद्धति के श्लोक १७४—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥

के अनुसार स्पष्ट विदित होता है कि प्राचीन समय से दण्डी कवि रचित तीन काव्य हैं—जैसा माना जाता है। इसका कहना कठिन है क्योंकि इनका ठीक से पता नहीं है। कुछ इतिहास-लेखक इन तीन काव्यों में दो को ही दण्डी प्रणीत मानते हैं। उनमें भी कोई 'दशकुमारचरित' तथा 'काव्यादर्श' को तथा 'अवन्तिसुन्दरीकथा' तथा 'काव्यादर्श' को, लेकिन 'काव्यादर्श' को सभी एकमत दण्डी कवि-विरचित मानते हैं। परन्तु 'अवन्तिसुन्दरीकथा' की अपेक्षा दशकुमार की ओर इतिहासज्ञ अधिक मतैक्य में पाये जाते हैं। कुछ इतिहासज्ञ तो 'छन्दोविरचित' नामक एक काव्य को दण्डी कवि का तीसरा काव्य मानने के पक्ष में हैं। किन्तु छन्दस् शब्द छन्दःशास्त्र का नाम ही है। इस नाम का कोई काव्य नहीं है। अस्तु, कीथ के मतानुसार 'दशकुमारचरित' का भूगोल-चित्रण तो हर्षवर्धन के पूर्व-भारत के वर्णन से साम्य रखता है। 'दशकुमारचरित' की भाषा-प्रणाली तथा वर्णन-शैली भी दण्डी कवि को सुबन्धु और बाणभट्ट के पूर्व में होने की सूचना देती है। महाकवि भारवि काञ्ची नगरी के नृपतिसिंह विष्णुवर्मा के सभा-पंडित थे। इससे यह सिद्ध होता है कि दण्डी कवि सातवीं सदी के उत्तरार्ध में थे।

'काव्यादर्श' के कुछ पदों में कालिदास का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है।[1] अतः दण्डी कालिदास के बाद के हैं। इसके अतिरिक्त 'काव्यादर्श' में पाँचवीं शताब्दी के राजा प्रवरसेन-रचित 'सेतुबन्धु' नामक प्राकृत-काव्य का उल्लेख है। अतएव दण्डी का आविर्भाव-काल ६००-८०० ई० के बीच प्रतीत होता है।

दण्डी बाण के पहले हुए थे या बाद में, इस विषय में भी मतभेद है। पीटरसन और याकोबी की सम्मति में 'काव्यादर्श' के एक पद्य[2] में 'कादम्बरी' के शुकनासोपदेश की झलक मिलती है। दण्डी ने बाण और मयूर की प्रशंसा की है।[3] 'अवन्तिसुन्दरी-

---

'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीति सुभगं वचः'—दण्डी
'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति'—कालिदास

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः ।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः ।। काव्यादर्श २।१९७
केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम् ।—कादम्बरी

भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः ।
व्यवहारेषु जहौ लीलां न मयूरः……॥

कथा' में 'कादम्बरी' का वर्णन बाण की प्रसिद्ध कथा से मिलता-जुलता है। डा० बेलवेलकर[1] ने दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना है। कुछ विद्वान् 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के आधार पर दण्डी को भारवि का प्रपौत्र मानकर उनका उक्त समय ही निर्धारित करते हैं।

किन्तु दण्डी की शैली के अध्ययन से वे बाण से पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। 'दशकुमारचरित' की सरल एवं प्रासादिक शैली बाण की शैली से प्रभावित हुई नहीं जान पड़ती। यदि दण्डी बाण के परवर्ती होते तो उनकी शैली बाण की शैली के समान श्लेष और वक्रोक्ति जैसे अलंकारों से अवश्य आक्रान्त होती। इसके अतिरिक्त 'दशकुमारचरित'[2] का भौगोलिक और राजनीतिक चित्रण हर्षवर्धन के पूर्व के भारत की ओर संकेत करता है। इसलिए दण्डी का स्थितिकाल ६०० ई० के लगभग प्रतीत होता है।

'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' के आधार पर मालूम होता है कि दण्डी दाक्षिणात्य थे और विदर्भ देश के निवासी थे। 'काव्यादर्श'[3] मे उन्होंने महाराष्ट्रीय प्राकृत तथा वैदर्भी शैली की प्रशंसा की है। 'दशकुमारचरित' में कलिंग और आन्ध्र देशों के उल्लेख ने, 'कावेरी-तीरपत्तन' जैसे शब्दों के प्रयोग से तथा दक्षिण में प्रचलित सामाजिक एवं पारिवारिक प्रथाओं के वर्णन से भी उनका दाक्षिणात्य होना प्रमाणित होता है। 'दशकुमारचरित' के अवलोकन से पता चलता है कि दण्डी एक सम्पन्न व्यक्ति थे तथा उन्होंने सभी प्रकार के सांसारिक अनुभव प्राप्त किये थे।

'दशकुमारचरित' का वर्तमान उपलब्ध स्वरूप तीन भागों में विभाजित है—(१) पूर्वपीठिका, जिसमें पाँच उच्छ्वास हैं, (२) 'दशकुमारचरित' जिसमें आठ उच्छ्वास हैं तथा (३) उत्तरपीठिका। इनमें से केवल मध्य भाग अर्थात् 'दशकुमारचरित' को ही दण्डी की वास्तविक रचना माना जाता है। इतना तो स्पष्ट है कि आरम्भ मे दण्डी ने सम्पूर्ण 'दशकुमारचरित' की रचना स्वयं की होगी, किन्तु किसी कारणवश इस ग्रन्थ के आदि तथा अन्त भाग नष्ट हो गये। इस पर दण्डी के किसी भक्त ने, जो मूल ग्रन्थ की शैली एवं कथा-वस्तु से अवगत रहा होगा, पूर्व तथा उत्तरपीठिका जोड़कर ग्रन्थ को पूर्ण बना दिया। एम० आर० कवि महोदय ने एक और कारण सुझाया है। उनके अनुसार १२५० ई० के लगभग दण्डी के मूल ग्रन्थ का तेलुगु में अनुवाद हुआ था। समग्र मूल ग्रन्थ में उपलब्ध न होने पर किसी कुशल लेखक ने बाद में नष्ट हुए भागों का तेलुगु से संस्कृत में पुनः रूपान्तर कर दिया।

---

१. Notes on काव्यादर्श, pp. 176-77.

२. Collins : The Geographical Date of the रघुवंश and दशकुमारचरित (1907), p. 46.

३. १।३४, ४१, ४२

'दशकुमारचरित' में दस राजकुमार अपने-अपने पर्यटनों, विचित्र अनुभवों तथा पराक्रमों का मनोरंजक वर्णन करते हैं। इसे 'धूर्तों का रोमांस' कहना अनुचित न होगा। छल-कपट, मार-काट तथा चोरी-जारी से ओत-प्रोत यह एक सजीव कृति है। व्यंग्य और विनोद का पुट देकर उसमें तत्कालीन समाज का बड़ा ही गोचर चित्रण किया गया है। साहस-प्रेमी राजकुमार किसी प्रकार उचित-अनुचित का विचार छोड़ अपने कार्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते रहे हैं, इसका वर्णन एक अनूठी व्यंग्यात्मक शैली में किया गया है। दम्भी तपस्वी, कपटी ब्राह्मण, धूर्त कुट्टनी, व्यभिचारिणी स्त्रियाँ तथा हृदयहीन वेश्याएँ—इन सबका खूब भंडाफोड़ किया गया है।

'दशकुमारचरित' एक सुन्दर गद्य-काव्य है। इसमें पूर्वपीठिका, चरित और उत्तरपीठिका तीन भाग है। पाँच उच्छ्वासों की पूर्वपीठिका है। आठ उच्छ्वासों का चरित भाग है। उत्तरपीठिका तो केवल अष्टम उच्छ्वास की उपसंहार मात्र है। इस काव्य की भाषा ललित तथा मधुर है और साथ ही बाणभट्ट एवं सुबन्धु कवि की भाषाएँ सरल भी हैं। यह काव्य श्लेषालंकारहीन है। अन्य उपमा आदि अलंकार भी प्रचुरता में नहीं पाये जाते हैं। इसका कथानक राजवाहन आदि दशकुमारों की यात्रा-विलास आदि आधार पर अति रोचकता एवं सरलता से लिया गया है। इसमें पाठकों को मुग्ध एवं आकर्षित करने की खूबी है। चोरशास्त्र और राजनीति ज्ञान का उपदेश तो पदे-पदे है। कुछ स्थलों में काम-शास्त्र का वर्णन निपुणतापूर्ण वर्णित है। कुछ इतिहास के पारंगत उसे अश्लील होने से दोषमय कहते हैं, किन्तु साहित्य से वस्तुतः वह गुण ही है। बाण और सुबन्धु कवि के सदृश इस काव्य का वर्णित कथाभाग पाठकों के सदा स्मृति-पटल में स्थायी रहता है। तदानीन्तना व्यवहारों की कुटिलताएँ तो इसमें कूट-कूटकर भरी पड़ी हैं। कुछ लोगों का विचार यह है कि यह काव्य किसी एक लेखक का लिखा नहीं है। उनके विचारों से यह दो कवियों की कृति है। वे पूर्वपीठिका के लेखक को अलग तथा उत्तरपीठिका के लेखक को अलग मानते हैं। वे लोग कहते हैं कि पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका सूक्ष्म के निरीक्षण से एक-दूसरे से साम्य नहीं है। कुछ विद्वानों के मत से तो पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका दण्डी कवि निर्मित ही नहीं है। कुछ इतिहासज्ञ तो पद्मनाभ नामक कवि को उत्तरपीठिका के लेखक मानते हैं।

केवल 'दशकुमारचरित' की तीन टीकाएँ है—वे टीकाएँ पूर्वपीठिका और उत्तर-पीठिका पर नहीं हैं—उनके कर्त्ताओं के नाम तथा टीकाओं के नाम निम्नांकित हैं—शिवराम पंडित की भूषण, कवीन्द्राचार्य पंडित की पदचन्द्रिका और पंडित भानुचन्द्र की लघुदीपिका। ये तीनों टीकाएँ जो सुप्रसिद्ध हैं, पूर्वपीठिका न होने से कुछ विद्वानों के मत से पूर्वपीठिका महाकवि दण्डी निर्मित नहीं है।

भाषा-प्रयोग में महाकवि दण्डी ने सुबन्धु की अपेक्षा पाणिनीय व्याकरण का विचार रखा है। इनके काव्य में लिट् और लुङ् लकार के प्रयोग व्याकरणानुसार हैं। ऐसे प्रयोग सुबन्धु कवि ने अपने प्रसिद्ध काव्य वासवदत्ता में नहीं किये हैं।

(१) राजवाहन—मगधाधीश राजहंस का पुत्र।
(२) सोमदत्त—राजहंस के मन्त्री सितवर्मा के कनिष्ठ पुत्र सत्यवर्मा का पुत्र।
(३) पुष्पोद्भव—पद्मोद्भव के पुत्र रत्नोद्भव का पुत्र।
(४) अपहारवर्मा—मिथिलाधीश प्रहारवर्मा का पुत्र।
(५) उपहारवर्मा—मिथिलाधीश प्रहारवर्मा का द्वितीय पुत्र।
(६) अर्थपाल—धर्मपाल के सबसे छोटे पुत्र कामपाल का पुत्र।
(७) प्रमति सितवर्मा के पुत्र सुमति का पुत्र।
(८) मित्रगुप्त—धर्मपाल के बड़े लड़के सुमन्त्र का पुत्र।
(९) मन्त्रगुप्त—धर्मपाल के बीच के लड़के सुमित्र का पुत्र।
(१०) विश्रुत—पद्मोद्भव के ज्येष्ठ पुत्र सुश्रुत का पुत्र।

उच्छ्वास-विवरण—पूर्व भाग—प्रथम उच्छ्वास में पुष्पपुरी, राजहंस, वसुमति आदि का वर्णन।

पूर्व भाग—द्वितीय उच्छ्वास में कुमारों की दिग्विजय-यात्रा।
,, तृतीय में सोमदत्तचरित्र।
,, चतुर्थ में पुष्पोद्भवचरित्र।
,, पंचम में राजवाहनचरित्र का आरम्भ।

उत्तर भाग—प्रथम उच्छ्वास में राजवाहनचरित्र की समाप्ति।
,, द्वितीय में अपहारवर्मा का चरित्र।
,, तृतीय में उपहारवर्मा का चरित्र।
,, चतुर्थ में अर्थपाल का चरित्र।
,, पंचम में प्रेमचरित्र।
,, षष्ठ में मित्रगुप्तचरित्र।
,, सप्तम में मन्त्रगुप्तचरित्र।
,, अष्टम उच्छ्वास में विश्रुतचरित्र।
,, उत्तरपीठिका में विश्रुतचरित्र की और ग्रन्थ की समाप्ति।

'दशकुमारचरित' में जहाँ कथानक शिथिल है, वहाँ उनके अनुरूप वर्णन-शैली भी सरस एवं प्रवाहपूर्ण है। 'कहीं विलास का विकास हृदय को उन्मत्त कर रहा है; कहीं सौन्दर्य का सौरभ अन्तरात्मा को बेसुध बना रहा है; कहीं हास की कोमल-लहरी मानस-तल को अनूठे ढंग से तरंगित कर रही है।' दण्डी का चरित्र-चित्रण

विशद है। उनके सभी पात्र सजीव और वास्तविक प्रतीत होते हैं। समाज के उच्च और निम्न-वर्ग का वे जीता-जागता चित्र उपस्थित कर देते हैं। 'दशकुमारचरित' से उस समय की प्रचलित अनेक सामाजिक प्रथाओं का भी परिचय मिलता है। दण्डी का रचना-कौशल भी दर्शनीय है। कथा की रोचकता में अभिवृद्धि करने के लिए वे कहीं शिष्ट हास्य, कहीं मधुर व्यंग्य और कहीं गम्भीर वर्णन का आश्रय लेते हैं। कहीं वर्णन-विस्तार है तो कहीं लघु कथाएँ। कथाओं का क्रम प्रशंसनीय है। वर्णन-प्रवाह दीर्घ विषयान्तरों से आक्रान्त नहीं होता। मुख्य कथा के स्रोत में अवान्तर कथाएँ अवरोध नहीं उपस्थित करतीं। व्याकरण की दृष्टि से भी 'दशकुमारचरित' निर्दोष है। इसमें लिट् और लुङ् लकार के प्रयोग पाणिनीय नियमों के अनुसार हैं, जैसा सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में नहीं देख पडता। विशद चरित्र-चित्रण, नैसर्गिक शैली, बुद्धि-विलास, शिष्ट परिहास, विषयान्तरों की न्यूनता, रसानुकूल शब्द-विन्यास, यथार्थ और आदर्श का सुन्दर सामंजस्य आदि विशेषताएँ 'दशकुमारचरित' को संस्कृत गद्य-साहित्य मे विशिष्ट स्थान प्रदान करती हैं।

दण्डी की शैली—दण्डी सुभग एवं मनोरम वैदर्भी गद्य-शैली के आचार्य कहे जा सकते हैं। उनकी वर्णन-प्रणाली सरल और प्रासादिक है। वे अपनी भाषा को अलंकारों के आडम्बर से चित्र-विचित्र बनाने का प्रयास नहीं करते। इसी कारण वह नैसर्गिक, प्रवाहपूर्ण, मँजी हुई और मुहावरेदार है। दण्डी के गद्य में अपनी विशेषता है। सुबन्धु के गद्य के समान न तो वह 'प्रत्यक्षर-श्लेषमय' है और न बाण की गद्य की भाँति 'सरसस्वरवर्णपद' मे सुशोभित साहित्यिक गद्य का आदर्श है। वह तो बहुत-कुछ प्रतिदिन के कार्य में आनेवाला व्यावहारिक गद्य का नमूना है। वाक्य प्रायः छोटे-छोटे हैं। वाक्य-विन्यास आयासजनक नहीं, अपितु ओजस्वी, ललित एवं सुव्यक्त हैं। अर्थ की स्पष्टता, रस की सम्यक् अभिव्यक्ति, शब्द-विन्यास की चारुता तथा कल्पना की उर्वरता दण्डी की शैली के विशेष गुण हैं। दण्डी के पद-लालित्य की बड़ी प्रशंसा है—'दण्डिनः पदलालित्यम्।' अनुप्रासमय तथा मनोरम पद-विन्यास में वे कुशल हैं, जैसे 'अयुग्मशरः शरशयने शाययिष्यति', 'असत्येनास्य नास्यं संसृज्यते', 'अनेकस्यानेक आतंकश्चिरं चिकित्सकैरसंहार्यः संहृतः', 'स पुण्यैः कर्मभिः प्राप्य पुरुषायुषं पुनरपुण्येन प्रजानामगण्यतामरेषु' इत्यादि। दण्डी अपने शब्द-शोधन में तथा लौकिक सत्यों को ओजपूर्ण भाषा में व्यक्त करने में कुशल हैं, जैसे—'स्वदेशो देशान्तरमिति नेयं गणना विदग्धस्य पुरुषस्य', 'आत्मानमात्मनाऽनवसाद्योद्धरन्ति सन्तः', 'न ह्यलमतिनिपुणोऽपि पुरुषो नियतिलिखितां लेखामतिक्रमितुम्', 'इह जगति हि न निरीहं देहिनं श्रियः संश्रयन्ते', 'जीवितं हि नाम जन्मवतां चतुःपञ्चाण्यहानि'। यत्र-तत्र दण्डी अवश्य ही भाषा को अलंकृत करना नहीं चूकते। उदाहरणार्थ, सोती हुई

अम्बालिका के वर्णन को लीजिये अथवा सत्रहवें उच्छ्वास को, जहाँ वे ओष्ठ्य वर्णों का प्रयोग ही नहीं करते। किन्तु उनके वाक्यालङ्कार परिमित मात्रा में ही प्रयुक्त होते हैं और वे सर्वत्र मनोहर एवं उपयुक्त हैं, न कि दुरूह और अनवरत। सुन्दर, सुभग एवं सुबोध संस्कृत गद्य-लेखक के नाते दण्डी हमारी प्रशंसा के पात्र तथा अध्ययन के आदर्श हैं। एक भारतीय आलोचक ने दण्डी को एक-मात्र कवि बताया है—'कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः'। एक दूसरे आलोचक ने कहा है कि वाल्मीकि के प्रादुर्भाव के बाद 'कवि' शब्द का एकवचन में प्रयोग हुआ करता था, व्यास के बाद द्विवचन में 'कवी' तथा दण्डी के बाद बहुवचन में 'कवयः' होने लगा—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवि इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

'मधुराविजय' महाकाव्य की रचयित्री गंगादेवी ने दण्डी को उच्चकोटि का कवि स्वीकार किया है—

आचार्यदण्डिनो वाचामाचान्तामृतसंपदाम्।
विकासो वेधसः पत्न्या विलासमणिदर्पणम्॥

सुबन्धु : वासवदत्ता

'वासवदत्ता' नामक गद्य-काव्य के रचयिता सुबन्धु का स्थितिकाल अनिश्चित है। कुछ विद्वानों[1] की धारणा है कि सुबन्धु बाण के परवर्ती थे। सुबन्धु कई शब्दों, पदों[2] तथा घटनाओं के लिए बाण के ऋणी हैं। 'वासवदत्ता' में 'इन्द्रायुध' शब्द का प्रयोग[3] चन्द्रापीड के उसी नाम के घोड़े की ओर संकेत करता है। महाश्वेता और कादम्बरी अपने-अपने प्रेमियों की मृत्यु पर प्राण दे देने का संकल्प करती हैं, किन्तु आकाशवाणी उन्हें ऐसा करने से रोकती है। 'वासवदत्ता' में भी अपनी प्रेमिका के खो जाने पर कन्दर्पकेतु की ऐसी ही स्थिति दिखाई पड़ती है। साथ ही बाण ने 'हर्षचरित' में उस 'वासवदत्ता' का संकेत किया है, जिसका उल्लेख पतंजलि के ग्रन्थ में है। इन आधारों पर कुछ विद्वान् सुबन्धु का स्थितिकाल बाण के बाद मानते हैं।

उक्त मत के समर्थन में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। टीकाकार भानुचन्द्र (१६०० ई०) के अनुसार बाण ने अपनी 'कादम्बरी' को 'अतिद्वयी कथा' कहकर 'वासवदत्ता' और 'बृहत्कथा' की ओर संकेत किया है। म० म० काणे[4] महोदय

१. M. Krishnamachariar : Cl. Skt. Lit, p. 4[illegible]
२. जैसे, 'किं बहुना', 'देवः प्रमाणम्', 'अचिन्तयच्च', 'आसीच्चास्य मनसि'।
३. वज्रेणेवेन्द्रायुधेन मनोजवनाम्ना तुरगेण सह नगरान्निर्जगाम।
४. Introduction to his edn. of कादम्बरी, pp. 17–18.

ने सप्रमाण दिखाया है कि बाण सुबन्धु के परवर्ती थे तथा उन्होंने 'हर्षचरित' में सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' का ही उल्लेख[1] किया है—(१) वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में सुबन्धु की 'वासवदत्ता' और बाण की 'कादम्बरी' से उदाहरण दिये हैं। अतः यह दोनों ७५० ई० के पूर्व हुए होंगे। (२) कविराज (१२०० ई०) ने 'राघवपाण्डवीय'[2] में सुबन्धु बाणभट्ट और स्वयं को वक्रोक्ति में कुशल बतलाया है। ऐसा जान पड़ता है कि कविराज ने इन तीनों नामों का स्थितिकाल के अनुसार यथाक्रम उल्लेख किया है। (३) वाक्पतिराज के प्राकृत-काव्य 'गौडवहो'[3] (७३६ ई०) में सुबन्धु की रचना का उल्लेख हुआ है, पर बाण का नहीं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वाक्पतिराज के समय में सुबन्धु की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी, पर बाण अभी तक अप्रसिद्ध ही थे। इस प्रकार सुबन्धु बाण के पूर्ववर्ती प्रमाणित होते हैं। मंख के 'श्रीकण्ठचरित'[4] में सुबन्धु और बाण की एक साथ प्रशंसा की गई है। ११६८ ई० के एक कन्नड़ी शिलालेख मे सुबन्धु के काव्य-कला-कौशल की प्रशसा है।

सुबन्धु-कृत 'वासवदत्ता' के वर्णन मे तथा भवभूति-कृत मालती के वर्णन में पर्याप्त साम्य[5] देख पड़ता है। जैसा कि पीछे दिखलाया जा चुका है, भवभूति ने कालिदास के ग्रन्थों से अनेक शब्द तथा भाव लिए हैं। सम्भव है कि मालती के वर्णन में वे सुबन्धु से प्रभावित हुए हों। इस अनुमान के आधार पर सुबन्धु भवभूति (७०० ई०) के पहले माने जा सकते हैं।

सुबन्धु ने अपनी कृति में एक रमणी का इस प्रकार वर्णन किया है—'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपां, बौद्धसंगतिमिवालंकारभूषिताम्।' स्वर्गीय कीथ महो-

---

१. कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्॥

२. सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा॥१।४१

३. भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारियन्देअ आणन्दो॥८००

४. मेण्ठे स्वर्द्विरदाधिरोहिणि वश याते सुबन्धौ विधेः।
शान्ते हन्त च भारवौ विघटिते बाणे विषादस्पृशः॥२।५३

५. हृदय विलिखितमिव उत्कीर्णमिव प्रत्युप्तमिव कीलितमिव ... वज्रलेपघटितमिव ...
मर्मान्तरस्थितमिव कन्दर्पकेतु मन्यमाना।
वासवदत्ता (श्रीरंगम् संस्करण, पृष्ठ २८१-८२)

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव सा
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभवः पंचभिः
(चिन्तासन्ततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया)॥ मा० मा० ५।१०

दय के मतानुसार सुबन्धु इस स्थल पर श्लेष द्वारा नैयायिक उद्योतकर तथा बौद्ध धर्मकीर्ति के 'बौद्धसंगत्यलंकार' नामक ग्रन्थ की ओर संकेत करते हैं।[१] इन लेखकों का समय ७वीं शताब्दी का आरम्भ था।[२] इसके अतिरिक्त जिनभद्र-क्षमाश्रमण-कृत 'विशेषावश्यक-भाष्य' (६०८ ई०) में 'वासवदत्ता' और 'तरंगवती' का उल्लेख हुआ है।[३] अतएव सुबन्धु का समय ६०० ई० या इससे कुछ पूर्व माना जा सकता है।

'वासवदत्ता' ही सुबन्धु की एकमात्र उपलब्ध रचना है। सुबन्धु की यह कृति संस्कृत गद्य-काव्य के उस रूप का प्रतिनिधित्व करती है, जिनमें कथानक अति लघु रहता है, वर्णन-विस्तार का प्राधान्य होता है तथा पांडित्य-कल्पना का स्थान ले लेता है। राजकुमार कन्दर्पकेतु स्वप्न में अपनी भावी प्रियतमा के दर्शन करता है और स्मर-पीड़ित हो उसकी खोज में निकल पड़ता है। अति संक्षेप में, 'वासवदत्ता' का यही कथानक है। किन्तु इस कथा की प्रमुख विशेषता कथानक में नहीं, वरन् नायक-नायिका के रूप-सौंदर्य के सूक्ष्म वर्णन में, उनकी गुणावलि के गान में, उनकी तीव्र विरहातुरता, मिलनाकांक्षा तथा संयोग-दशा के चित्रण मे निहित है। सुबन्धु के विषय में श्री आनन्दवर्धन का यह कथन पूर्णतया चरितार्थ होता है कि कविगण बहुधा कथा-वस्तु के प्रवाह और रस की अभिव्यक्ति का ध्यान नहीं रखते तथा अपना शब्द-कौशल दिखाने में ही मग्न रहते हैं—'दृष्यन्ते च कवयोऽलंकारनिवन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रबन्धेषु।'[४] सुबन्धु की कृति में विषयान्तरों का बाहुल्य है। उनके द्वारा वे अपने अलङ्कार-कौशल एवं पांडित्य का प्रदर्शन करते हैं। १२० पंक्तियों के एक वाक्य में 'वासवदत्ता' के विलास-विभ्रम का अतिरंजित चित्रण किया गया है। सुबन्धु की रचना में जहाँ उनके वर्णन-विस्तार तथा शब्द-भण्डार का परिचय स्थल-स्थल पर मिलता है, वहाँ कल्पना तथा चरित्र-चित्रण का अभाव खटकता है।

सुबन्धु की शैली—सुबन्धु की गद्य-शैली अतिशयोक्ति, अनुप्रास तथा समास-प्रधान गौड़ी शैली का उदाहरण है। उनकी यह गर्वोक्ति सत्य है कि मैंने एक ऐसे विलक्षण काव्य की रचना की है, जिसके प्रत्येक अक्षर में श्लेष है।[५] उनकी रचना श्लेष तथा विरोधाभास का ऐसा दुर्गम महाकान्तार है कि उसमे वास्तविक काव्य-सौंदर्य को ढूंढ़ निकालना कठिन हो जाता है। अलंकारों, दीर्घकाय समासों और पौरा-

---

१. Cl. Skt., Lit p 77

२. Keith : J. R. A S. 1914, pp, 1102ff.

३. जह वा निद्दिट्ठवसा वासवदत्ता तरंगवइयाइ।
नह निद्देसग वसओ लोए मणुरक्खवाओ त्ति

४. ध्वन्यालोक (नि० सा० १९११), पृ० १५१

५. प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपंचविन्यासवैदग्ध्यनिधि प्रबन्धम्।
सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः॥

णिक संकेतों के प्रयोग में वे औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर बैठते हैं तथा इस कारण रस का आस्वादन दुर्लभ हो जाता है। दण्डी मे वीरता, विचित्रता और श्रृङ्गारिकता का स्निग्ध एवं रमणीय चित्रण है, किन्तु सुबन्धु चित्र-काव्य लिखने के फेर में पड़कर इन रम्य भावों का सफल अंकन नहीं कर सके है। स्थान-स्थान पर नये रंगों को भरकर उन्होने प्रत्येक चित्र को अतीव विचित्र बना डाला है। उनमें न तो दण्डी का हास, ओज और वैचित्र्य है और न बाण की-सी कल्पना-शक्ति और वर्णन-प्रतिभा ही। उनकी समास-प्रचुर भाषा मे सौष्ठव, प्रसाद और माधुर्य कम है, आडम्बर, कृत्रिमता और असंगति अधिक है।

सुबन्धु की चित्रोपम एवं अलकृत गद्य-शैली की आलोचना करते समय यह स्मरण रखना होगा कि कथानक के लिए सरल और अलङ्कार-रहित शैली अनुपयुक्त सिद्ध होती है। श्रृङ्गारिक वैभव के चित्रण में, तीव्र मनोराग की अभिव्यक्ति में एवं प्रभावोत्पादक वर्णन मे 'पंचतन्त्र' की-सी सरल शैली सर्वथा अप्रासंगिक होती है। यह दूसरी बात है कि सुबन्धु अलंकारों का मात्रातीत प्रयोग कर अपनी शैली के लालित्यमय प्रवाह की रक्षा नहीं कर सके। एक ही क्रिया पर आश्रित विपुलकाय वाक्य की रचना करने में सुबन्धु अद्वितीय हैं। साथ ही, वे आवश्यकता होने पर छोटे-छोटे वाक्यों का भी, विशेषकर संवादों में प्रयोग कर सके हैं। उनके समासों में एक प्रकार का स्वर-माधुर्य है तथा उनके अनुप्रासों मे संगीत है। वामनभट्ट बाण ने सुबन्धु का इस प्रकार प्रशंसा की है—

प्रतिकविभेदनबाणः कवितातरुगहनविहरणमयूरः ।
सहृदयलोकसुबन्धुर्जयति श्रीभट्टबाणकविराजः ॥

बाणभट्ट : हर्षचरित और कादम्बरी

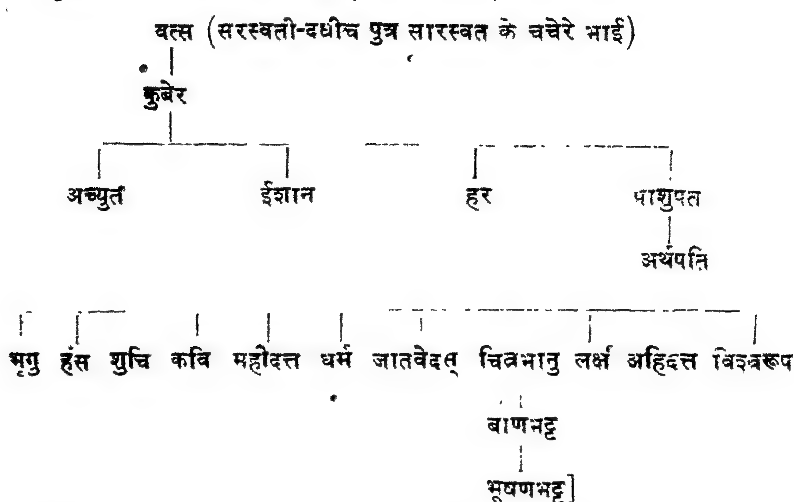
संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य का चरमोत्कर्ष बाणभट्ट की कृतियों में पाया जाता है। बाण ने दो गद्य-काव्य लिखे—'हर्षचरित' और 'कादम्बरी'। 'हर्षचरित' के पहले तीन उच्छ्वासों में बाण ने अपनी आत्मकथा लिखी है। 'कादम्बरी' के प्रारम्भ में भी उन्होंने अपने वंश का संक्षिप्त परिचय दिया है। बाण ने अपने कुल की पौराणिक उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वंश के प्रवर्तक दधीच तथा सरस्वती के पुत्र सारस्वत के चचेरे भाई वत्स थे। वत्स के कुल में कुबेर का जन्म हुआ, जिनका समय ४५०-४८० ई० के लगभग प्रतीत होता है। कुबेर उद्भट विद्वान् थे। 'कादम्बरी'[1] में बाणभट्ट कहते हैं कि उनके घर पर ब्रह्मचारी लोग सतर्क होकर वेद-गायन

---

१. जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ् मयैः ससारिकैः पंजरवर्तिभिः शुकैः ।
निगृह्यमाणा बटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शंकिताः ॥१२

किया करते थे, क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं पिंजड़े में टँगे तोते या मैना पक्षी उन्हें टोक न दें। कुबेर के चार पुत्र हुए—अच्युत, ईशान, हर और पाशुपत। पाशुपत बाण

[बाण का वंशवृक्ष इस प्रकार है:—



के प्रपितामह थे। 'कादम्बरी' में बाण ने इसका उल्लेख नहीं किया है। इनके पुत्र अर्थपति हुए, जिनके ग्यारह पुत्रों में से एक बाण के पिता चित्रभानु थे। बाण की माता का नाम राज्यदेवी था। बाण के दो पारशव (शूद्र-स्त्री से उत्पन्न) भाई—चित्रसेन और मित्रसेन—तथा चार चचेरे भाई—गणपति, अधिपति, तारापति और श्यामल—थे। बाण की बाल्यावस्था में ही उनकी माता का देहान्त हो गया। तब उनके पिता ने उनका माता की भाँति लालन-पालन किया। वत्स के समय से ही बाण के पूर्वजों का निवासस्थान प्रीतिकूट नामक ग्राम था, जो हिरण्यवाह अथवा शोणनद के पश्चिमी तट पर स्थित था। उसी के समीप मल्लकूट और यष्टिगृह नाम के दो ग्राम थे, जिनके उपरान्त हर्ष का साम्राज्य आरम्भ होता था।

बाण के उपनयन के पश्चात् उनके पिता अकाल ही में काल-कवलित हो गये। उस समय बाण की आयु १४ वर्ष की थी। किसी सुयोग्य अभिभावक के न रहने के कारण इनका यौवन-काल कुछ अव्यवस्थित रहा। वे अपने अंतरंग मित्रों के साथ पर्यटन के लिये निकल पड़े। अपने प्रवास में उन्होंने प्रचुर अनुभव प्राप्त किया, कई राजदरबारों में वे गये, अनेक गुरुकुलों में शिक्षा प्राप्त की, विद्वानों से वार्तालाप किया तथा अंत में परिपक्व बुद्धि, सांसारिक अनुभव तथा उदार विचारों के साथ वह घर लौटे।

एक दिन राजा हर्षवर्धन के भाई कृष्ण के दूत ने आकर उन्हें एक पत्र दिया, जिसमें लिखा था कि कुछ लोगों ने महाराज के पास तुम्हारी शिकायत की है। अतः तुम्हें यहाँ पर शीघ्र आकर अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहिये। जब बाण दरबार में पहुँचे, तब सर्वप्रथम तो राजा ने उनकी अवहेलना की तथा अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करने के लिए व्यंग्य किया—'महानयं भुजंगः'। बाण ने विनयपूर्वक अपनी कुलीनता तथा उच्च विद्याभ्यास की ओर राजा का ध्यान आकृष्ट किया तथा अपने पिछले कृत्यों के लिए पश्चात्ताप प्रकट करते हुए नया जीवन प्रारम्भ करने की इच्छा प्रकट की। कुछ ही दिनों में हर्ष ने उनके चरित्र एवं विद्वत्ता से प्रसन्न हो उन पर कृपादृष्टि की तथा 'वश्यवाणीकविचक्रवर्ती' की उपाधि से सम्मानित किया।

कुछ समय बाद बाण अपने निवासस्थान को लौटे। वहीं उनके बन्धु-बान्धवों ने उनका हार्दिक स्वागत किया। सूचिबाण नामक सूत ने उन्हें दो आर्या-गीत सुनाये, जिसमें सम्राट् हर्ष के जीवन की ओर मार्मिक संकेत था। उन्हे सुनकर बाण के चचेरे भाई उत्सुकतावश एक दूसरे की ओर ताकने लगे। उनमें से सबसे छोटे श्यामल ने साहस कर बाण से 'हर्षचरित' सुनाने की प्रार्थना की।

इसके बाद बाण के जीवन का कोई वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता। हर्ष की मृत्यु (६४८ ई०) के बाद जब उनके राज्य में अराजकता फैल गई, तब बाण सम्भवतः कन्नौज से अपने घर प्रीतिकूट लौट आये। हर्ष की मृत्यु हो जाने के कारण बाण अपने ग्रन्थ 'हर्षचरित' की समाप्ति के प्रति उदासीन हो गये। अपनी 'कादम्बरी' कथा को समाप्त करने के पूर्व ही उनका देहावसान हो गया। इसकी समाप्ति उनके सुयोग्य पुत्र ने की। डॉ० बूलर[1] के अनुसार बाण के पुत्र का नाम भूषणबाण था। कुछ लोग उनका नाम भूषणभट्ट बतलाते हैं। 'कादम्बरी' को कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'पुलिन्द' अथवा 'पुलिन' नाम मिलता है।[2] धनपाल ने अपनी 'तिलकमंजरी'[3] में श्लेष द्वारा बाण के पुत्र का नाम 'पुलिन्द' ही सूचित किया है।

मातंगदिवाकर और मयूर नाम के दो अन्य कवि भी बाण के समकालीन बताये जाते हैं।[4]

---

१. Peterson's Introduction to कादम्बरी, p. 4.
२. S. R. Bhandarkar : Report on the search for Sanskrit Mss, 1904-5, 1905-6, p. 34
३. केवलोऽपि स्फुरन्बाणः करोति विमदान्कवीन्।
किं पुनः क्लृप्तसंधानं पुलिन्दकृतसन्निधिः ॥ तिलकमंजरी २६
४. अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः ॥ राजशेखर
सचित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीश्वरः।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः ॥ नवसाहसांकचरित

स्थितिकाल—सम्राट् हर्षवर्धन के सभा-पण्डित होने के कारण बाणभट्ट का स्थितिकाल सरलतापूर्वक निश्चित किया जा सकता है। हर्ष का राज्याभिषेक अक्तूबर ६०६ ई० में हुआ तथा उनकी मृत्यु ६४८ ई० में हुई। ये तिथियाँ ताम्र-दानपत्रों तथा ६२९ से ६४५ ई० तक भारत में भ्रमण करने वाले चीनी-यात्री ह्वेनसांग के संस्मरणों के आधार पर स्वीकृत हो चुका है।[1] अतः बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

उक्त समय की पुष्टि बहिरङ्ग एवं अन्तरंग प्रमाणों से भी होती है। रुय्यक ने अपने 'अलंकारसर्वस्व' (११५० ई०) में बाण के 'हर्षचरित' का कई बार उल्लेख किया है। क्षेमेन्द्र (१०५० ई०) ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर बाण के नाम का उल्लेख किया है। रुद्रट-कृत 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु (१०६८ ई०) ने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' को क्रमशः कथा तथा आख्यायिका का नमूना बताया है। भोज (१०२५ ई०) ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में एक स्थल पर बाण के पद्य की अपेक्षा उनके गद्य को अधिक उत्कृष्ट बताया है—'यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः'। धनंजय (१००० ई०) के ''दशरूपक' में बाण का इस प्रकार उल्लेख हुआ है—'यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य'। आनन्दवर्धन (८५० ई०) के 'ध्वन्यालोक' में बाण की दोनों गद्य-कृतियों का उल्लेख है। वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में 'कादम्बरी' के 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य' इन शब्दों का उद्धृत किया है। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी से लगाकर आठवीं शताब्दी के प्रमुख लेखकों ने बाण तथा उनकी कृतियों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः सप्तम शतक के पूर्वार्ध में उनकी स्थिति मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये।

अन्तरंग प्रमाणों से भी उक्त समय ही सिद्ध होता है। अपने 'हर्षचरित' के प्रारम्भिक पद्य में बाण ने इन कवियों एवं कृतियों का उल्लेख किया है—व्यास, वासवदत्ता, भट्टार हरिचन्द्र, सातवाहन, प्रवरसेन-कृत सेतुबन्धु, भास, कालिदास, बृहत्कथा और आढ्यराज। इन कवियों में से कोई भी सातवीं शताब्दी के बाद में नहीं हुए। हर्ष की सभा में बाण का प्रवेश इनके शासनकाल के उत्तरार्ध में हुआ होगा। 'हर्षचरित' में बाण हर्ष के उन पराक्रमों का वर्णन करते हैं, जिनका संपादन हर्ष, बाण के मिलने से पहले कर चुके थे। इस वर्णन में दो स्थलों पर बाण ने लिखा है कि हर्ष ने अपना समस्त धन-वैभव ब्राह्मणों तथा बौद्ध-भिक्षुओं को दान कर दिया था। ह्वेनसांग एक अवसर पर ६४३ ई० में उपस्थित था। हर्ष से मिलने के समय बाण युवक

ही रहे होंगे। उनकी युवावस्था की चपलताओं का पता राजा को लग चुका था तथा उनका हाल ही में विवाह भी हुआ था—'दारपरिग्रहादभ्यागारिकोऽस्मि। का मे भुजङ्गता···चापलैः शैशवमशून्यमासीत्।'

रचनाएँ—'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' के अतिरिक्त बाण की कुछ अन्य कृतियां भी उपलब्ध होती हैं। 'चण्डीशतक' भगवती दुर्गा की स्तुति में १०० पद्यों की रचना है। 'पार्वतीपरिणय' नामक नाटक को महामहोपाध्याय काणे[1] महोदय बाण की कृति मानते हैं, किन्तु कीथ[2] उसे १५वीं शताब्दी के कवि वामनभट्ट बाण की रचना मानते हैं। 'नलचम्पू' के टीकाकारद्वय चण्डपाल और गुणविनयगणि लिखते हैं कि बाण ने 'मुकुटताडितक' नामक नाटक की रचना की थी, पर यह अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा'[3] में बाण-रचित एक पद्य को उद्धृत किया है, जिसमें चन्द्रापीड की प्रेयसी कादम्बरी की विरह-व्यथा का वर्णन है। सम्भव है कि बाण ने पद्य में भी 'कादम्बरी' की कथा लिखी हो।

'हर्षचरित' बाण की प्रथम गद्यकृति है। जैसा कि बाण स्वयं कहते हैं।[4] यह एक आख्यायिका है। इसमें आठ उच्छ्वास हैं। प्रथम तीन उच्छ्वासों में बाण की आत्मकथा वर्णित है तथा शेष में सम्राट् हर्ष का जीवन-चरित्र। 'हर्षचरित' में ऐतिहासिक विषय पर गद्य-काव्य लिखने का प्रथम बार प्रयास किया गया है। इसके ऐतिहासिक वृत्तान्त और महत्त्व पर 'ऐतिहासिक काव्य' वाले अध्याय में प्रकाश डाला जायगा। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भी 'हर्षचरित' में कई विशेषताएँ हैं। बाण की अद्भुत वर्णना-शक्ति का परिचय स्थान-स्थान पर मिलता है। प्रभाकरवर्धन के अन्तिम क्षणों का वर्णन ओज एवं कारुण्य को लिए हुये है। सती होने से पूर्व यशोवती जो उद्गार प्रकट करती है, वह अनन्यता, तेजस्विता एवं कारुण्य से परिपूर्ण है। छठे उच्छ्वास में सिंहनाद का उपदेश 'कादम्बरी' के शुकनासोपदेश की कोटि का ही है। हर्ष सर्वत्र एक महान् सम्राट् के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। वे निर्भीक और साहसी, कर्त्तव्य-परायण और स्नेहमय हैं। राज्यवर्धन भी आज्ञाकारी पुत्र, स्नेहशील भाई और शूर योद्धा हैं। सोड्ढल ने 'हर्षचरित' की इस प्रकार प्रशंसा की है—

---

१. Introduction to कादम्बरी, pp. 23.24

२. H. S. L., p. 315

३. 'यथा च भट्टबाणस्य
हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः॥
अत्र विप्रलम्भमरमग्नधैर्यायाः कादम्बर्या विरहव्यथावर्णना।'

४. तथापि नृपतेर्भक्त्या भीतो निर्वहणाकुलः।
करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्॥ हर्षचरित

बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य
शक्ति न केऽत्र कवितास्त्रमदं त्यजन्ति ।

कादम्बरी कथासार

'कादम्बरी' बाणभट्ट की, अथवा यों कहिये, समस्त संस्कृत-साहित्य की सर्वोत्कृष्ट गद्य रचना है । उसकी कथा का सार इस प्रकार है—विदिशा के राजा शूद्रक की सेवा में एक चांडाल-कन्या अपना परम मेधावी शुक भेंट करती है । यह शुक राजा को विंध्यारण्य में अपने जन्म से लेकर महर्षि जाबालि के आश्रम में पहुँचने तक का वृत्तान्त सुनाता है । जाबालि मुनि से शुक अपने पूर्व-जन्म का हाल सुनाता है । जाबालि द्वारा वर्णित कथा इस प्रकार थी—

उज्जयिनी के राजा तारापीड तथा रानी विलासवती ने तपस्या द्वारा चन्द्रापीड नामक पुत्र - रत्न प्राप्त किया । विद्याध्ययन की समाप्ति के बाद राजकुमार चन्द्रापीड अपने पिता के सचिव शुकनास के पुत्र और अपने अभिन्न मित्र वैशम्पायन के साथ दिग्विजय के लिए निकल पड़े । एक बार वह अपने घोड़े इन्द्रायुध पर एक किन्नर-युगल का पीछा करते हुए अच्छोद नामक एक परम सरोवर पर जा पहुँचे । वहां राजकुमार का महाश्वेता नामक एक शुभ्रवर्णा तपस्विनी युवती से परिचय हुआ । महाश्वेता एक गन्धर्व-राजकन्या थी, जिसके हृदय में पुंडरीक नामक युवक को देखकर उसके प्रति प्रेमांकुर जागरित हो उठा था । पर मिलन के पूर्व ही पुण्डरीक की स्मरपीड़ा से मृत्यु हो गई । इस पर महाश्वेता तपस्विनी का व्रत धारण कर भावी मिलन की आशा में अच्छोद सरोवर के किनारे रहने लगी । महाश्वेता की सखी कादम्बरी ने कौमार्य-व्रत धारण करने का निश्चय किया । महाश्वेता चन्द्रापीड को साथ लेकर कादम्बरी को समझाने जाती है । प्रथम साक्षात्कार में ही दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं । पर उज्जैन से पिता के बुला लेने पर चन्द्रापीड को शीघ्र ही लौट जाना पड़ता है । वे वैशम्पायन को सेना के साथ लौट जाने के लिए कह जाते हैं । बहुत समय व्यतीत होने पर भी जब वैशम्पायन नहीं लौटा, तब चन्द्रापीड उसकी खोज में अच्छोद सरोवर जाते हैं । वहाँ महाश्वेता उन्हें बताती है कि वैशम्पायन मुझ पर आसक्त हो मुझसे प्रेम-प्रस्ताव करने लगा, इस पर मैंने उसे शुक हो जाने का शाप दे दिया । अपने प्राणतुल्य सुहृद् का यह अन्त सुनकर चन्द्रापीड के भी प्राण उसी क्षण निकल गये । इसी अवसर पर कादम्बरी घटनास्थल पर पहुँचती है और अपने प्रेमी को निष्प्राण पाकर स्वयं प्राण-विसर्जन करने के लिए उद्यत हो जाती है । पर एक आकाशवाणी उन्हें ऐसा करने से रोकती है और आश्वासन देती है कि महाश्वेता और कादम्बरी का अपने-अपने प्रेमी से संयोग निकट भविष्य में अवश्यम्भावी है । यहाँ जाबालि की कथा समाप्त हो जाती है ।

तब शुक ने राजा शूद्रक से कहा कि जाबालि से अपने पूर्व-जन्म का वृत्तान्त सुन मेरे हृदय में महाश्वेता के प्रति अपने पूर्व-प्रेम की स्मृति हो आई और मैं आतुर हो आश्रम से उड़ा, किन्तु इस चांडाल-कन्या ने मुझे पकड़कर अपने यहाँ रख लिया। इसी ने मुझे आपको समर्पित किया है। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं जानता। तब चांडाल-कन्या ने राजा शूद्रक से निवेदन किया कि मैं पुण्डरीक (जिसका पुनर्जन्म वैशम्पायन के रूप में हुआ था) की माता लक्ष्मी हूँ और अब इसे तथा आप (शूद्रक) को मिले शाप की अवधि समाप्ति पर हो है। इस पर शूद्रक (जो अपने पूर्व जन्म में चन्द्रापीड थे) को कादम्बरी के प्रति अपने प्रेम की स्मृति हो आई। उनके प्राण तुरन्त निकल गये और उधर चन्द्रापीड जीवित हो उठे।

चांडाल-कन्या (अथवा लक्ष्मी) ने जिस शाप की ओर संकेत किया, उसका रहस्य इस प्रकार है। महाश्वेता के प्रेमी पुंडरीक ने चन्द्रमा को बार-बार जन्म लेने का शाप दिया था। चन्द्रमा ने भी पुंडरीक को ऐसा ही शाप दिया। इन शापों के फलस्वरूप चन्द्रमा ने चन्द्रापीड के तथा पुंडरीक ने वैशम्पायन के रूप में जन्म लिया। चन्द्रापीड और वैशम्पायन ने पुनः शूद्रक तथा शुक के रूप में जन्म लिया। शुक की कथा की समाप्ति के बाद शाप की अवधि भी समाप्त हो गई। इसके बाद पुंडरीक और महाश्वेता, चन्द्रापीड और कादम्बरी का सुखद मिलन हुआ और वे अवर्णनीय आनन्द का आस्वादन करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि बाण ने 'कादम्बरी' का कथा-बीज गुणाढ्य की बृहत्कथा' से लिया है। 'बृहत्कथा' अब उपलब्ध नहीं, पर उसके जो संस्कृत रूपांतर मिलते हैं, उनमें आई सुमनस् की कथा तथा 'कादम्बरी' की कथा में कुछ साम्य अवश्य देख पड़ता है। सम्भव है, बाण ने अपनी कथा की मूल घटनाएँ 'बृहत्कथा' से ली हों, किन्तु यह निर्विवाद है कि उन्होंने अपनी प्रतिभा का पुट चढ़ाकर उसे एक सर्वथा नवीन एवं मौलिक रूप दे दिया है।

'कादम्बरी' संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास है। उसके कथानक में, कथा और उपकथा के सम्मिश्रण से कुछ जटिलता अवश्य आ गई है, फिर भी उसके स्वाभाविक विकास और कुशल निर्वाह में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। सारी कथा कुतूहलमय रोचकता से ओतप्रोत है। पाठक की रुचि और उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। प्रधान नायिका कादम्बरी का उल्लेख कथा के मध्य भाग में जाकर होता है। महाश्वेता की प्रणय-कथा तो कादम्बरी के प्रणय की एक भूमिका-मात्र है। शूद्रक की राजसभा में चांडाल-कन्या का विलक्षण वैशम्पायन शुक को लेकर प्रवेश करना, यह प्रारम्भिक घटना ही ऐसे रहस्य में लिपटी हुई है कि उसके उद्घाटन के लिए आगे बरबस बढ़ना पड़ता है। यह रहस्योद्घाटन कथा के अंत में जाकर होता है।

वहाँ शूद्रक को ही प्रधान नायक जानकर 'अद्भुत रस' की प्रतीति होती है। कवि ने कादम्बरी और महाश्वेता दोनों की प्रणय-कथा स्वाभाविक रूप से परस्पर सम्बद्ध कर अपने वस्तु-विन्यास-कौशल का परिचय दिया है।

बाण ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़े विशद रूप से किया है। 'कादम्बरी' के सभी पात्र सजीव हैं। सौम्य युवक हारीत, उदार नृपति तारापीड, आदर्श अमात्य शुकनास, सुकुमार रानी विलासवती, छाया की भाँति चन्द्रापीड का अनुसरण करनेवाली किन्तु कवि की उपेक्षिता पत्रलेखा, स्नेहमय पर कठोर कपिंजल, शुभ्रवदना तपस्विनी महाश्वेता—ये पाठक के अन्तस्तल पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। 'कादम्बरी' के चित्रण में बाण ने अपने अप्रतिम कल्पना-वैभव, वर्णन-पटुता और मानव-मनोवृत्तियों के मार्मिक निरीक्षण का परिचय दिया है। चन्द्रापीड के प्रति आकृष्ट होने पर वह किस प्रकार आशा और निराशा, मिलन और विरह के परस्पर विरोधी भावों के बीच झूलती है, इसका बाण ने बड़ा हृदयग्राही चित्रण किया है।

'कादम्बरी' में बाण ने केवल अपनी कल्पना के अतिरंजित चित्र उपस्थित नहीं किये हैं, प्रत्युत अपने बहुमुखी जीवन के विविध अनुभवों को रोचक रूप में प्रस्तुत किया है। प्रासाद, नगर, वन तथा आश्रमों का यथातथ्य वर्णन उनके पर्याप्त भ्रमण का द्योतक है। शुकनास के मुख से उन्होंने चन्द्रापीड को जो उपदेश दिलाया है, वह आज भी प्रत्येक नवयुवक स्नातक के लिए दीक्षांत-भाषण से कम नहीं।

'कादम्बरी' की वर्णन-विविधता दर्शनीय है। सच तो यह है कि यदि संस्कृत साहित्य में चित्रांकन के विषयों की कमी नहीं है तो संस्कृत कवियों में बाणभट्ट की भाँति चित्रांकन में कोई निपुण नहीं हुआ। समस्त 'कादम्बरी' काव्य एक चित्रशाला है—'इस कुंजवन की गली में नये-नये रंगों के अनेक लता-वितान हैं, प्रलोभनीय अंशों की बहुलता है।' कहीं विंध्याचल की विकट अटवी का रोमांचकारी दृश्य है, कहीं जाबालि के शान्त और पावन आश्रम की सात्विक शोभा का चित्र है, कहीं शूद्रक और तारापीड के राजकीय विलास और वैभव का वर्णन है। कहीं वीणावादिनी महाश्वेता की विरहविधुरा मूर्ति का दर्शन है तो कहीं कमनीय कलेवरा कादम्बरी के प्रणयोन्माद और सलज्ज कौमार्य का स्निग्ध चित्रण है। अच्छोद सरोवर तथा हिमालय के भव्य दृश्यों का वर्णन भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। द्रविड़ यति का वर्णन इस बात का सूचक है कि बाण उपहासयोग्य विषयों का भी सफल अङ्कन कर सकते हैं। परिहास का भी उनमें अभाव नहीं, उदाहरणार्थ स्कन्दगुप्त की नाक उनकी वंशावली के समान ही लम्बी बताई गई है। इन्द्रायुध अश्व के सजीव वर्णन से बाण को 'तुरंग-बाण' की पदवी मिली। 'साधारणतः लोग घटना-वर्णन करके कथा प्रारम्भ करते हैं, पर बाण-भट्ट चित्र सज्जित करके कथा बढ़ाते हैं। इसी से उनकी कथा गतिशील नहीं है, वह

वर्णच्छटा से ही अङ्कित है। चित्र भी धारावाहिक रूप से हो, सो नहीं। एक-एक चित्र के चारों ओर करुकार्यविशिष्ट और बहु-विस्तृत भाषा-रूपी सोने के चौखटे जड़े हुए हैं। फ्रेम-सहित ऐसे चित्रों के सौन्दर्य का जिसने उपभोग नहीं किया, उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिये।'

'कादम्बरी' के अध्ययन से हमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का परिज्ञान हो सकता है। स्त्रियों द्वारा सन्तान-प्राप्ति के लिए जादू-टोनों का प्रयोग; राज्याभिषेक की परिपाटी; शैव, शाक्त और क्षपणक के सम्प्रदाय सद्योजात शिशु के उपचार; स्त्री-पुरुषों की वेशभूषा और आभूषण; विलास और अमोद-प्रमोद की सामग्री; वर्ण-व्यवस्था; सतीप्रथा आदि सभी सामाजिक जीवन के अंगों पर 'कादम्बरी' में स्थल-स्थल पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।[1]

'कादम्बरी' का प्रधान रस शृंगार है। 'कादम्बरी' जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का, जननान्तर-सौहृद का सजीव चित्रण है, विस्मृत अतीत तथा जीवित वर्तमान को स्मृति के सुकुमार तारों से संयुक्त करने वाली काव्य-शृंखला है; मानव-हृदय की मूक प्रणय-वेदना की मर्मभरी कथा है। बाण ने जिस प्रेम का चित्रण किया है, वह सर्वथा उदात्त एवं परिष्कृत है। उनके द्वारा चित्रित प्रेम का उद्दाम वेग कुल और समाज की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। 'दशकुमारचरित' की भाँति 'कादम्बरी' के शृंगार-रस-चित्रण में कहीं अश्लीलता की गन्ध नहीं पाई जाती। सच तो यह है कि महाश्वेता के प्रेम में पागल पुण्डरीक की कपिंजल द्वारा भर्त्सना कराकर कवि ने यह शिक्षा दी है कि असंयत प्रेम मानसिक और शारीरिक दुरवस्था का कारण होता है। सच्चा प्रणय सत्य की भाँति चिरन्तन है। काल की कराल छाया उसे आक्रान्त नहीं कर सकती; समय का प्रवाह उसे विस्मृति के गर्त्त में लीन नहीं कर सकता। तपस्या की कठोरता अथवा राजसी जीवन की विलासिता उसके उद्दाम वेग को दबा नहीं सकती। प्रणय की ज्योति आशा और अटल विश्वास से नूतन जीवन धारण करती है तथा आदर्श स्नेह के सहारे मृत्यु के अन्धकार में भी अभिनव आलोक छिटकाती है।

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों में 'कादम्बरी' सदा से अत्यन्त लोकप्रिय रही है। प्रियतम की शय्या की ओर स्वेच्छा से संचरण करती हुई नवोढ़ा वधू की भाँति वह अपने अतुलनीय रसास्वाद से पाठकों के चित्तचंचरीक को निरन्तर आप्यायित करती आई है।[2] भूषणभट्ट का यह कथन प्रत्येक सहृदय के विषय में चरितार्थ हो रहा है—

---

१. K. R. Potdar : Contemporary life as revealed in Bana's Works—Journal of Bombay University, X 1-2

२. स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम् ।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ।। कादम्बरी ८

काद्म्बरीरसभरेण समस्त एव
मत्तो न किंचिदपि चेतयते जनोऽयम् ।

'कादम्बरी की प्रशंसा में कुछ और युक्तियों का अवलोकन कीजिये —'कादम्बरीरसज्ञाना-माहारोऽपि न रोचते', 'सहर्षचरितारब्धाद्भुतकादम्बरीकथा' । 'कीर्तिकौमुदी' में लिखा है कि बाण की कादम्बरी-रूपी ध्वनि को सुनकर कवि लोग अनाध्याय का पालन करने लगते हैं—

युक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा कवयो मौनमाश्रिताः ।
बाणध्वनावनध्यायो भवतीति स्मृतिर्यतः ॥१।१५

बाण की शैली—बाण ने गद्य-शैली का आदर्श सूचित करते हुए 'हर्षचरित' के आरम्भ में लिखा है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥

अर्थात् मौलिकता कल्पना, सुरुचिपूर्ण स्वभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रूप से प्रतीयमान रस तथा दृढ़बन्ध पदावली, इन समस्त गुणों का एकत्र सन्निवेश दुर्लभ है । दूसरे के मन के भावों के यथातथ्य चित्रण (अन्यचिन्तितस्वभावाभिप्रायवेदकम्) तथा अभिनव अर्थ की कल्पना (उत्कृष्टकविगद्यमिव विविधवर्णश्रेणिप्रतिपाद्यमानाभिनवार्थसंचयम्) को बाण उत्कृष्ट गद्य-शैली का प्रधान लक्षण मानते हैं ।

बाण के गद्य की रीति 'पांचाली' है जिसमें अर्थ के अनुरूप ही शब्दों का गुम्फन होता है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पांचालीरीतिरिष्यते ।
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण

बाण की शैली में शब्द और अर्थ, भाषा और भाव का रुचिर सामंजस्य स्पष्ट लक्षित होता है । विषय के अनुरूप ही शब्दावली का प्रयोग किया गया है । विकट विन्ध्याटवी के वर्णन में कवि ने विकट शब्दों एवं समासों का यथेच्छ व्यवहार किया है—'क्वचित्प्रलयवेलेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरणिमंडला, क्वचिदुद्दाममृगपतिनादभीतेव कण्टकिता ।' वसन्त के वर्णन में तदनुरूप सुकुमार वर्णों का विन्यास किया गया है—'अशोकतरुताडनारणितरमणीमणिनूपुरझङ्कारसहस्रमुखरेषु सकलजीवलोकहृदयानन्देषु मधुमासदिवसेषु ।'

बाण की शैली में अलंकारों का समुचित प्रयोग अपूर्व रमणीयता का संचार करता है । उनमें अलंकारों की छटा दर्शनीय है । उनके लम्बे-लम्बे समास यदि गिरि-नदी के उद्दाम प्रवाह की भाँति हैं, तो उनकी श्लिष्ट उपमाएँ इन्द्रधनुष की छाया की

भाँति उसे रंगीन बना देती हैं। उनके अनुप्रास भाषा में विलक्षण स्वर-माधुर्य का संचार करते हैं—'इभकलभकोल्लनपल्लववेल्लितलवलीवलयैः', 'मधुकरकुलकलंककाली-कृतकालेयककुसुमकुड्मलेषु।' उनके श्लेष-प्रयोग जूही की माला में पिरोये गये चंपक पुष्पों की भाँति हैं—'निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव।' उनकी रसनोपमा का एक मनोहर उदाहरण देखिये—'क्रमेणच कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पदम्।' विरोधाभास का नमूना देखिये—'शिशिरस्यापि रिपुजनसंतापकारिणः, स्थिरस्याप्यनवरतं भ्रमतः, निर्मलस्यापि मलिनीकृतारातिवनितामुखकमलद्युतेः, अतिधवलस्यापि सर्वजनरागकारिणः।' अर्थापत्ति अलंकार की छटा देखिये—'किं बहुना। तापसाग्निहोत्रधूमलेखाभिरुत्सर्पन्तीभिरनिशमुपपादितकृष्णाजिनोत्तरासङ्गशोभाः फलमूलभृतो वल्कलिनो निश्चेतनास्तरवोऽपि सनियमा इव लक्ष्यन्तेऽस्य भगवतः समीपवर्तिनः। किं पुनः सचेतनाः प्राणिनः।' बाण के गद्य में एक ही ध्वनि उत्पन्न करने वाले ललित पदविन्यास की मधुर झंकार सुनाई पड़ती है—'वशीकर्त्तुं कामं काममिवं सनियमम्,' 'हर्षनयनजलकणनीहारिणी वियद्विहारिणि मनोहारिणि', 'कर्पूर-धूलिधूसरेषु मलयजरसलवलुलितेषु बकुलावलीवलयेषु स्तनेषु।'

बाण का प्रकृति-चित्रण विशद, सजीव, अलंकृत और उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचायक है। 'एकदा तु नातिदूरोदिते नवनलिनदलसम्पुटभिदि किंचिदुन्मुक्तपाटलिम्नि भगवति मरीचमालिनि'—शब्दों की कैसी लड़ी है! अरुण वर्ण के तरुण सूर्य का आभास कराना ही कवि का मुख्य प्रयोजन है, किन्तु भाषा के इन्द्रजाल से, केवल विशेष्य-विशेषण में विन्यास से हृदय में एक सुरम्य, सुगन्ध, सुवर्ण और सुशीतल सुप्रभातकाल तत्क्षण नाच उठता है। इसी प्रकार 'दिवसावसानेलोहिततारका तपोवन-धेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या'—कपिला धेनु के साथ संध्याकालीन रंग की तुलना करते हुए कवि क्षण भर में हृदय के भीतर संध्या की समस्त शान्ति, श्रांति तथा धूसर छाया भर देता है। बाण की दृष्टि प्रकृति के घोर और रम्य दोनों पक्षों पर पड़ी है। रमणीय अच्छोद सरोवर, हिमालय के भव्य दृश्य तथा भयानक विन्ध्याटवी के वर्णन इसके उदाहरण हैं। प्रकृति-वर्णन में उन्होंने श्लिष्ट उपमाओं का विशेष प्रयोग किया है—'यौवनमिवोत्कलिकाबहुलं, पुण्यचरितमिव श्रूयमाणक्रौंचवनिता-प्रलापं, भारतमिव पाण्डुधार्तराष्ट्रकुलकृतक्षोभं, कद्रूस्तनयुगलमिव नागसहस्रपीतप-योमच्छोदं नाम सरो दृष्टवान्।' इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन करने के साथ-साथ अपना पौराणिक, शास्त्रीय तथा अनुभव-जन्य ज्ञान भी प्रकट कर देते हैं। यह शैली सर्वथा निर्दोष नहीं कही जा सकती, क्योंकि इससे कवि के पांडित्य का जितना बोध होता है उतना प्राकृतिक दृश्य के वास्तविक बिम्ब का नहीं। बाण का प्रकृति चित्रण

अन्तःप्रकृति के अनुरूप होता है। सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रमा, वसन्त-ऋतु के वर्णन में यह विशेषता स्पष्ट देख पड़ती है। तपःपूत जाबालि के आश्रम में सूर्यास्त का वर्णन कैसे शान्त एवं पवित्र भावों का परिचायक है। 'अनेन च समयेन परिणतो दिवसः। स्नानोत्थितेन मुनिजनेनार्घविधिमुपपादयता यः क्षितितले दत्तस्तमम्बरतलगतः साक्षादिव रक्तचन्दनाङ्गरागं रविरुदवहत्। ऊर्ध्वमुखैरर्कबिम्बविनिहितदृष्टिभिरुष्मपैस्तपोधनैरिव परिपीयमानतेजः प्रसरो विरलातपो दिवसस्तनिमानमभजत्। उद्यत्सप्तर्षिसार्थस्पर्शपरिजिहीर्षयेव संहृतपादः पारावतचरणपाटलरागो रविरम्बरतलादलम्बत। विहाय धरणितलमुन्मुच्य कमलिनीवनानि शकुनय इव दिवसावसाने तपोवनतरुशिखरेषु पर्वताग्रेषु च रविकिरणाः स्थितिमकुर्वत।'—'इसी समय दिन ढल चला। मुनियों ने स्नान के बाद अर्घ्य देते समय जो चन्दन-राग पृथ्वी पर अर्पित किया था, मानो उसी रक्त-चन्दन को आकाश में स्थित सूर्य ने अपने अंगों में धारण कर लिया है। ऊपर की ओर मुख उठाकर सूर्य-मंडल पर दृष्टि डाले, सूर्य किरणों का पान करनेवाले तपस्वियों द्वारा मानो चारों तरफ फैला हुआ प्रकाश पीया जा रहा है, तभी तो दिन क्षीणता को प्राप्त हो रहा है। कपोत के चरणों के समान लाल-लाल सूर्य आकाश के छोर पर पहुँच कर अपने पाद (किरण) इसलिए समेट रहा है कि कहीं वे उगते हुए सप्तर्षि मंडल से छू न जायँ। दिन डूबने की इस घड़ी में सूर्य-रश्मियाँ पृथ्वीतल को छोड़कर आश्रम के वृक्षों तथा पर्वतों के शिखरों पर पक्षियों की भाँति बसेरा ले रही हैं।' बाण मानवीय मनोभावों को प्रकृति के दृश्यों पर आरोप करने में कुशल है। सूर्य के विदेश गमन पर उनकी प्रियतमा कमलिनी शीघ्र पति-समागम की इच्छा से तपस्विनी का व्रत धारण करती है—कमल का मुकुल उनका कमण्डलु है, श्वेत हंस उसका उत्तरीय है, कमल की नाल उनका शुभ्र यज्ञोपवीत है तथा भ्रमरों की पंक्ति उसकी रुद्राक्ष माला है।

बाण की वर्णन-शक्ति अद्भुत है। 'कादम्बरी' के वर्णनात्मक स्थलों में वे कई प्रकार की शैलियों का प्रयोग करते हैं। कहीं वाक्यावली संक्षिप्त कर भावों का प्रबल-वेग से उन्मेष करना आवश्यक प्रतीत होता है तो कहीं भाषा का प्रलोभन संवरण भी दुस्साध्य हो जाता है। जहाँ विषय भाव-प्रधान, मार्मिक अथवा गम्भीर होता है, वहाँ उनकी शैली बड़ी ही सशक्त और प्रभावोत्पादक होती है। वाक्य छोटे-छोटे होते हैं, दीर्घ समासों का अभाव होता है और विशेषण-पद न्यून होते हैं। एक उदाहरण देखिये। कपिंजल मदनव्यथा से पुण्डरीक की भर्त्सना कर रहा है—'सखे पुण्डरीक नैतदनुरूपं भवतः। क्षुद्रजनक्षुण्ण एष मार्गः। धैर्यधना हि साधवः। किं यः कश्चित्प्राकृत इव विक्लवीभवन्तमात्मानं न रुणत्सि। कुतस्तवापूर्वोऽयमद्यप्रोपप्लवो येनास्येवं कृतः। क्व ते तद्धैर्यं, क्वासाविन्द्रियजयः।......निरुपकारको गुरूपदेशविवेकः। निष्प्रयोजना

प्रबुद्धता । निष्करणं ज्ञानम् । यदत्र भवादृशा अपि रागाभिषङ्गं कलुषीक्रियन्ते प्रमादैश्चाभिभूयन्ते ।' कैसी शक्तिशाली भाषा है ! अन्यत्र, उपदेश देते समय अथवा शिष्टाचार दिखाते समय बड़ी सरल शैली प्रयुक्त हुई । शुकनास चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोष समझा रहे हैं । 'न ह्येवंविधमपरमपरिचितमिह जगति किंचिदस्ति यथेयमनार्या । लब्धाऽपि खलु दुःखेन पाल्यते । दृढगुणपाशसंदाननिष्पन्दीकृतापि नश्यति । न परिचयं रक्षति । नाभिजनमीक्षते । न रूपमालोकयते । न कुलक्रममनुवर्तते । न शीलं पश्यति । न वैदग्ध्यं गणयति ।.......न लक्षणं प्रमाणीकरोति । गन्धर्वनगरलेखेव पश्यत एव नश्यति ।' किन्तु राजवैभव, रमणी-विलास अथवा प्राकृतिक भव्यता के चित्रण में उनकी शैली अलंकृत, अपेक्षाकृत क्लिष्ट एवं प्रगाढ़ हो जाती है । दीर्घकाय समास, विपुल वाक्य, विशिष्ट एवं श्लिष्ट पदावली तथा चित्रकाव्य के सभी साधनों का प्रचुर प्रयोग देख पड़ता है; 'कल्लोलमुखर समुद्र की लहर की भाँति जहाँ तक सम्भव है, भाषा उद्वेलित हो उठी है—सीमा पार कर गई है, अकृपणा कवि-प्रतिभा ने कल्पना की यथेष्ट वृद्धि की है ।' शूद्रक, जाबालि-आश्रम, विंध्याटवी, महाश्वेता तथा कादम्बरी के वर्णन ऐसी शैली के उपयुक्त उदाहरण हैं । ऐसे स्थलों पर भी बाण बीच-बीच में छोटे-छोटे वाक्य बैठा देते हैं, जिससे वर्णन-विस्तार आयास-जनक में न हो जाय । प्रायः यह भी देखा जाता है कि इस प्रकार के क्लिष्ट स्थलों के बाद तुरन्त ही सरल और प्राकृत शैली के दर्शन होते हैं ।

बाण की शैली में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, अलंकृत वर्णन-प्रणाली, प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम, उर्वर कल्पना, अजस्र शब्द-राशि तथा मौलिक अर्थों की उद्भावना—ये सभी गुण सर्वत्र समान रूप से पाये जाते हैं । इसका आशय यह नहीं कि उनकी शैली सर्वथा दोष-रहित है । उनके वर्णन प्रायः बहुत लम्बे हो जाते हैं । किसी प्रस्तुत प्रसंग को वे तब तक नहीं छोड़ते जब तक वह पूर्णतया आलोड़ित न हो जाय । कोई पर्यायवाची विशेषण बाकी नहीं बचता, कोई श्लिष्ट या लाक्षणिक प्रयोग रह नहीं जाता । उनकी कल्पना सदा मुक्तहस्त रही है, अस्थान और अपात्र में भी उसने अपनी सम्पत्ति की अजस्र वर्षा की है । पाश्चात्य आलोचक उनमें गद्य की एक भीषण अरण्य से उपमा देते हैं, जहाँ क्लिष्ट एवं दुरूह शब्दों के झाड़ खड़े हैं, सूक्ष्म पौराणिक संकेतों की कन्दराएँ हैं और विपुलकाय विकट समासों के रूप में व्याघ्र विचरण कर रहे हैं । बाण कथानक में यथास्थान विस्तार और संकोच नहीं करते । कथा के बीच अवान्तर वर्णनों के बाहुल्य से कथानक की प्रगति कुण्ठित हो जाती है । उज्जयिनी, शुकनास-प्रासाद, चण्डिका-मन्दिर, चन्द्रोदय आदि के वर्णन कवित्व की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं; किन्तु विशेष विस्तृत और अतिरंजित होने के कारण कथानक के प्रवाह को शिथिल कर देते हैं ।

वस्तुतः बाण के गद्य-काव्यों का यथार्थ महत्त्व उनके कथानक, चरित्र-चित्रण अथवा वस्तु-विन्यास में नहीं, वरन् उनके कवित्व एवं रसमय प्रवाह में है। संस्कृत भाषा का उन्होंने अनुचरों से घिरे सम्राट् की भाँति प्रस्थान कराया है और कथा को पीछे-पीछे प्रच्छन्न भाव से छत्रधर की भाँति छोड़ दिया है। उनके भाषा-कौशल और कल्पना-वैचित्र्य से ही उनकी कृतियाँ इतनी आकर्षक और लोकप्रिय हुई हैं। अपनी इस असाधारण शैली द्वारा ही वे 'बृहत्कथा' के सीधे-सादे कथानक को साहित्यिक सौंदर्य प्रदान कर सके। उनका गद्य व्यावहारिक कार्यों के लिए भले ही अनुपयुक्त हो; किंतु 'कादम्बरी' के समान उत्कृष्ट गद्य-काव्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। उनके वाक्य विपुलकाय होते हुए भी अस्पष्ट नहीं। समासों और विशेषण-पदों का आधिक्य होते हुए भी वे विशद और परिष्कृत हैं। उनके पौराणिक संकेत हम भारतीयों के लिए कदापि क्लिष्ट नहीं हैं। उनके शब्द-चित्रों में विविधता तथा प्रभविष्णुता है। उनका शब्द-भंडार अक्षय है। उनका वाक्य प्रबन्ध चारु एवं स्निग्ध है। औचित्य का वे कभी अतिक्रमण नहीं करते। उनके संवाद अत्यंत स्वाभाविक एवं प्रभावशाली होते हैं। उनकी कल्पना अजस्र और उत्तरोत्तर विकासशील होती है। महाश्वेता के निम्नलिखित वर्णन में उनकी कल्पना-विभूति का कैसा प्रसार है—'**शुक्लपक्षपरम्परामिव पुंजीकृतां, शंखादिवोत्कीर्णां, मृणालैरिव विरचितावयवां, दन्ततलैरिव घटितां, इन्दुकरकूर्चकैरिव प्रक्षालितां, अमृतफेनपिण्डैरिव पाण्डुरीकृताम्।**'

आधुनिक आलोचना के सिद्धांतों की कसौटी पर बाण की शैली की समीक्षा करना अनुचित होगा। कोई भी लेखक अपने समय के प्रचलित आदर्शों और रूढ़ियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। बाण की आलोचना करते समय भी हमें यही दृष्टिकोण सम्मुख रखना चाहिये। अलंकृत गद्य-शैली ही उनके समय में समादृत थी। उस समय समास-बाहुल्य तो गद्य का प्राण ही समझा जाता था—'**ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।**'[1] प्रत्येक कला कुछ प्रचलित रूढ़ियों के द्वारा ही अपने आदर्श पर पहुँच सकती है। समास-बहुलता एक ऐसी ही रूढ़ि थी। यदि हम इस रूढ़ि के पार देखेंगे तो हमें स्वीकार करना होगा कि बाण उच्च कोटि के गद्य-कवि थे। कथाकार की कला में, मानव-हृदय के सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति में, उन्नत चरित्र की सृष्टि में, उदात्त जीवन एवं सौजन्यपूर्ण व्यवहार के चित्रण मे तथा शिष्ट संवादों के निरूपण में बाण भारतीय साहित्य मे अनुपमेय हैं और विश्व-साहित्य में उच्च स्थान पाने योग्य हैं।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानो को बाण की शैली के सौन्दर्य को हृदयंगम करने

१. काव्यादर्श १।८०

में भले ही कठिनाई होती हो, किंतु जिस भाषा में बाण ने अपनी कृतियों की रचना की है, उसके पंडितों ने उनकी शैली की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। 'विदग्धमुखमण्डन' के रचयिता धर्मदास किस विलक्षण ढंग से बाण की प्रशंसा करते हैं—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

'रुचिर स्वर, वर्ण तथा पदों से विभूषित, रस और भावों से अलंकृत वह संसार के चित्त को आकृष्ट कर रही है।' क्या तुम किसी तरुणी की बात कर रहे हो ?' 'नहीं, मैं तो बाण की सरस मधुर वाणी के सम्बन्ध में कह रहा हूँ।' त्रिलोचन के अनुसार बाण की कविता के समान अन्य कवियों की रचना केवल चपलता है—

हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः।
भवेत्कविकुरंगाणां चापलं तत्र कारणम् ॥

'पार्वतीपरिणय' में 'नृत्यति यद्रसनायां वेधोन्मुखलासिका वाणी' इस प्रकार बाण के विषय में ठीक ही कहा गया है। बाण की सर्वव्यापिनी प्रतिभा को लक्ष्य में रखकर ही 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' कहा जाता है। गोवर्धनाचार्य का कहना है कि जिस प्रकार पूर्व समय में अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिए शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी, उसी प्रकार पुरुष रूप में अधिक चमत्कार पाने की अभिलाषा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का अवतार लिया—

जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूव ह ॥

'प्रसन्नराघव' के कर्त्ता जयदेव ने बाण को कविता-कामिनी के हृदय-मन्दिर में निवास करनेवाला साक्षात् कामदेव ही बता दिया है—

यस्याश्चोरः चिकुर निकुरः कर्णपूरो मयूरः
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासोविलासः।
हर्षो हर्षः हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषः कथय कविता कामिनी कौतुकाय ॥

त्रिविक्रमभट्ट ने अपने 'नलचम्पू' में बाण की लोकप्रियता की इस प्रकार प्रशंसा की है—

शश्वद्‌बाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा।
धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः ॥१।१४

संग्रादेवी के अनुसार बाण की भारती वीणा की सुमधुर तान को हरनेवाली है—

वाणीपाणिपरामृष्टवीणानिक्वाणहारिणीम्।
भावयन्ति कथं वान्ये भट्टबाणस्य भारतीम् ॥

दृष्टि से बगला उपन्यासों के निकट है।" इसका कथानक उलझी हुई लतिका की भाँति है।

'शिवराजविजय' का रूप-शिल्प पाश्चात्य उपन्यासों जैसा है। लेखक वातावरण बनाकर पाठकों को तन्मय अपने चरित्रों के बीच में बैठा देता है, जहाँ वे तटस्थ की भाँति अनेक क्रिया-कलाप देखते हैं।

चरित्र-चित्रण—पाश्चात्य औपन्यासिक रूपशिल्प पर निर्मित इस ग्रन्थ में भारतीय महापुरुष महाराष्ट्र-रत्न श्री शिवाजी के साहसिक जीवन का अंकन हुआ है। यद्यपि कृति का कथानक ऐतिहासिक है, फिर भी लेखक ने अनेक कथाओं और चरित्रों की काल्पनिक सृष्टि की है। नितान्त इतिहासकार वस्तुस्थिति देखता है। पर समर्थ साहित्यकार सम्भावनाओं पर चलता है। अम्बिकादत्त व्यास समर्थ साहित्यकार हैं जिन्होने इतिहास और साहित्य का समन्वय इस कृति में कर दिया है।

भाषा एवं अर्थगौरव – आलोचना की दृष्टि में सर्वप्रथम रूप-सौन्दर्य आता है, शरीर की सुन्दरता अत्यन्त अपेक्षित होती है। भाषा काव्य का शरीर है, भाषा की दृष्टि से 'शिवराजविजय' अत्यन्त आकर्षक कृति है—उत्तमोत्तम शब्दावली, ओजस्विनी गतिमयता, अर्थपूर्ण वाक्य-विन्यास, अत्यन्त सुबोध विषय और स्थान के अनुसार अवसर की माँग पर उद्दाम और कोमल है। एक ओर बाण की सी दीर्घ समस्त पदावली यथा

"निर्जीवीभवदङ्गबन्ध—चालन पर शोणित संघात व्याजेनान्तः स्थितरजो राशिमिवोद्गिरन्तं कलितसायन्तन—घनाऽऽडम्बर—विभ्रमं सतत् ताम्रचूड भक्षण पातकेनेव ताम्रीकृतम् छिन्नकन्धरं यवन हतम् अवलोक्य···" तो दूसरी ओर अत्यन्त सरल तथा लघु पदावली—

"बटुरसौ आकृत्याः सुन्दर वर्णेन गौरः जटाभिर्ब्रह्मचारी वयसा षोडश वर्षदेशायः कम्बुकण्ठः, आयतललाटः सुबाहुविशाललोचनः च आसीत्—" विद्यमान हैं।

वर्णन एवं शब्दचित्र—अम्बिकादत्त व्यास की लेखनी से प्रस्फुटित शब्दचित्रों का अंकन अत्यन्त श्लाघ्य है। पढ़ते-पढ़ते ही नेत्रों के समक्ष तत्रा-लिखित दृश्य का चित्र उपस्थित हो जाता है यथा—

"धीरसमीर स्पर्शेन मंद-मंद मान्दोल्यमानासु व्रततिपु समुदिते यामिनी कामिनी चंदन विन्दौ कौमुदी कपटेन सुधाधाराभिव वर्षति गगने" शांति स्निग्ध नीरवरात्रि का शब्दचित्र प्रस्तुत कर दिया है।

संवाद—अत्यन्त स्वाभाविक एवं सरल भाषा में संवाद विधान औपन्यासिक कथानक का प्राण होता है। 'शिवराजविजय' में संवादों की हृदयग्राहिता का यही रहस्य है। उदाहरण—

दौवारिक—आम् ! अग्रे कथ्यताम् ।

संन्यासी—वयम् च संन्यासितोवनेषु गिरिकन्दरेषु च विचरामः ।

दौवारिक—स्यादेवम् अग्रे अग्रे ।

रस-मीमांसा—बाह्य सौन्दर्य में सहृदय हृदय अधिक काल तक नहीं रमता है । वह तो आत्मसौन्दर्य का उपासक होता है । काव्य की आत्मा रस है । यह महामहिम कृति नवरसरुचिरा है । नवों रस अत्यन्त औचित्य एवं दक्षता से संगठित हैं । वीर रस जिनका संस्कृत साहित्य में प्रायः अभाव है, वह इस उपन्यास में सर्वप्रधान है । शृङ्गार भी है, किन्तु सर्वथा सात्विक है ।

समाज का दर्पण—जीवन कुछ विशिष्ट सामाजिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होता है, क्योंकि वह परिवर्तनशील मस्तिष्कधारी मनुष्यों का आकार है । उसका यथातथ्य प्रतिबिम्ब साहित्यकार अपनी कृतियों में प्रस्तुत कर देता है । चारचातुरी, रणकौशल और समस्त सामाजिक व्यवहारों का यथार्थ निरूपण करने में अम्बिकादत्त की लौह लेखनी सर्वथा समर्थ है ।

विषयवस्तु—ऐतिहासिक, देशभक्ति, जन्मभूमि भक्ति, राजभक्ति आदि भावों की अभिव्यक्ति इस अनुपम कृति में हुई है । इन नवीन भावनाओं का प्राचीन संस्कृत साहित्य में नितान्त अभाव था । इस कृति में प्राचीन गौरव की भी घोषणा है—

'अस्मिन्नेव भारतवर्षे यायजुकैः राजसूयादियज्ञाः व्ययाजिषत । कदाचिदिहैव हिमसहानि तपांसि अतापिषत ।"

कथावस्तुसंघटना—पाश्चात्य एवं पौरस्त्य शिल्प का समन्वय कर इस कृति की कथावस्तु का नियोजन हुआ है । 'शिवराजविजय' में दो स्वतन्त्र कथाधाराएँ समानान्तर होती हैं । एक का नेता है रामसिंह और दूसरे का शिवाजी । किन्तु ये दोनों कथाधाराएँ एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखती हैं—ऐसी बात नहीं है । ये दोनों एक दूसरे की पूरक हैं ।

अम्बिकादत्त व्यास ने कल्पना और इतिहास, आदर्श तथा यथार्थ दोनों का निर्वाह किया है । उनके सफल चरित हैं—शिवाजी, गौरसिंह, अफजल खाँ, यशवन्तसिंह, शाइस्ता खाँ, ब्रह्मचारी आदि ।

समीक्षा—उपर्युक्त आधार पर कोई भी समीक्षक भाषा की दृष्टि से, कवित्व एवं प्रतिभा की प्रौढ़ता की दृष्टि से वाग्वैदग्ध्य की दृष्टि से इस कृति को भारतीय सैद्धान्तिक आधारों पर खरा ही पायेगा । जहाँ तक पाश्चात्य एवं बंगला साहित्य के प्रभाव का प्रश्न है, औपन्यासिक समीक्षा के आधार तत्त्वों की दृष्टि से भी घटना वैचित्र्य कथानक का आरोहावरोह, चरित्रों का संघर्ष, मानसिक अंतर्द्वन्द्व, कौतूहल, यथार्थ तथा कल्पना की आँखमिचौनी सभी कुछ यहाँ प्राप्त होते हैं ।

"It is a well known historical romance in Sanskrit prose based on the story of the Maharastra chief Shivaji and written in a graceful lucid style."

हृषीकेश शास्त्री भट्टाचार्य—प्राचीन संस्कृत साहित्य में निबन्ध-लेखन का प्रचार नहीं था। आधुनिक समय में ओरिएंटल कालेज, लाहौर के पण्डित हृषीकेश शास्त्री भट्टाचार्य (१८५०-१६१३ ई०) ने सामयिक विषयों पर सुरुचिपूर्ण निबन्ध लिखकर मौलिक प्रणाली का प्रचार किया है। उन्होंने 'विद्योदय' नामक संस्कृत पत्रिका का ४४ साल तक सम्पादन किया। 'विद्योदय' में शास्त्री जी के सामयिक समस्याओं पर सरल और विनोदपूर्ण शैली में लेख रहते थे। विद्वानों ने उनके विषयों की नवीनता तथा विविधता की प्रशंसा की है। मैक्समूलर ने भी शास्त्रीजी के अद्भुत कार्य को पसन्द किया था। १६वीं शताब्दी में एक संस्कृत-पत्रिका का नूतन विचार-प्रणाली से तथा पाश्चात्य विचार-शैली में सम्पादन कर शास्त्रीजी ने इस युग मे संस्कृत साहित्य की अमूल्य सेवा की है तथा अपने प्रबन्धों से इसकी श्रीवृद्धि की है। उनके लेखों का एक संग्रह 'प्रबन्ध-मंजरी' १६३० ई० में प्रकाशित हुआ है। इसकी भूमिका अर्थात् प्रबन्ध-परिचय व्याकरणाध्यचार्य डा० हरिदत्त शास्त्री ने लिखी है, जिसमें संगृहीत निबन्धों का संक्षिप्त परिचय दिया है। कुल ११ निबन्धों का इसमें संग्रह है, जिनमें से संस्कृत भाषा का वैशिष्ट्य, उदरदर्शन, महारण्यपर्यवेक्षण और उद्भिज्जपरिषद् ये निबन्ध बड़े ही रोचक हैं, तथा डा० शास्त्री का परिचय के अन्त में यह कहना अक्षरशः सत्य है कि—

यः पीयूष-मयूख-धामनि सुधाधाराच्छ-कच्छेऽपि यः,
क्षुभ्यत्क्षीरसमुद्र-सान्द्रलहरी लावण्यपूरेऽपि यः।
यः कान्ताधर-पल्लवे मधुरिमा नासौ समुद्गाहते,
'भट्टाचार्य-विपश्चितः' खलु वचोवीचि-समीचीनताम् ॥ इति

यह 'सकलरस-परम्परातरंगितानां प्रबन्धनां संग्रहः' है। इसमें लेख 'उद्भिज्जपरिषद्' है, जिसमें पेड़-पौधों की सभा में मनुष्यों के सम्बन्ध में बड़ी रोचक चर्चा होती है—'अश्वत्थमहोदयः स्वशाखाहस्तमुत्थाप्य प्रतिपादयति—भो भो नानादिग्देशसमागताः सुभद्रा वनस्पतयः, परमप्रियतमा लतावध्वश्च, सावहिताः शृण्वन्तु भवन्तः। अद्य मानववार्त्तैवास्मत् समालोच्यविषयः। ... मानवा नाम सर्वासु सृष्टिधारासु निकृष्टतमा सृष्टिः। समन्तादभिनवोत्तरविलक्षणसृष्टिमुत्पादयता भगवता जगत्सवित्रा यादृग् बुद्धिप्रकर्षः सृष्टिनैपुण्यञ्च प्रदर्शितं, मानवसर्गं विदधता पुनरनेन तत्सर्वमेकपद एवापहारितम्, एतावदुच्चावचसृष्टिपरम्परामवलोक्य स्रष्टुरमोघबुद्धिमत्त्व 'सृष्टिश्चेयं बुद्धिपूर्विकेति' यदस्माभिरनुमितमासीत् पूर्वं साम्प्रतं मानवसर्गसन्दर्शनेन तु निःशेषतोऽपा-

गतोऽसौ संस्कारः, संजातश्च तद्विपरीतः 'सम्प्रति स्वल्पापि बुद्धिर्विद्यत' इत्येवंरूपः कोऽपि निश्चयः।'

'प्रबंध-मञ्जरी' की भाषा अत्यन्त प्रांजल एवं प्रवाहपूर्ण है। संस्कृत में व्यंग्य-शैली (satire) का प्रथम प्रादुर्भाव इन्हीं निबन्धों से माना जायगा। भट्टाचार्य की भाषा में भी बाण की शैली की पूरी छाप है। इनके विषय में म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी कहते हैं—

मुद्रयति वदनविवरं मृतभाषावादिनां मुहेराणाम्।
स्मरयति च भट्टबाणं भट्टाचार्यस्य सा वाणी॥

पण्डिता क्षमा राव—आधुनिक संस्कृत गद्यकारों में पण्डिता क्षमा राव विशेष उल्लेखनीय हैं। आपका जन्म ४ जुलाई, १८९० को पण्डित शङ्कर पाण्डुरंग के घर में हुआ था। १९५४ में आपने इस संसार से विदा ले ली। इनकी रचनाओं में 'कथा-मुक्तावली' विशेष प्रसिद्ध है। 'कथा-मुक्तावली' के अतिरिक्त आपकी प्रणीत निम्न पुस्तकें हैं :—

(१) सत्याग्रह गीता, (२) उत्तर सत्याग्रह गीता, (३) मीरालहरी, (४) रामदासचरितम्, (५) कथापञ्चक, (६) विचित्र-परिषद्-यात्रा, (७) शङ्करजीवनाख्यानम्, (८) श्रीतुकारामचरितम्, (९) ग्रामज्योति। इसी प्रकार अन्य भी छोटी-मोटी गद्य-पद्यमय अनेक रचनाएँ की हैं। 'कथामुक्तावली' में निम्न कथाएँ हैं :—

(१) प्रेमरसोद्रेकः, (२) तापसस्यपारितोषिकम्, (३) परित्यक्ता, (४) मिथ्याग्रहणम्, (५) वृत्तशंसिच्छलम्, (६) हैमसमाधिः, (७) मायाजालम्, (८) स्वप्निकव्यामोहः, (९) नजमदिलेलः, (१०) विप्लवोद्वाह-सङ्कटम्, (११) क्षणिकविभ्रमः, (१२) निशीथबलिः, (१३) मत्स्यजीवीकेवलम्, (१४) आत्मनिर्वासनम्, (१५) शरद्दलम्।

आप उत्कृष्ट गद्य-लेखिका थीं "तापसस्यपारितोषिकम्" में ऊर्मिला के सम्बन्ध में लिखा है—

"प्रस्फुरच्चन्द्र कला कन्निकाविलोकनेन झिल्ली भ्रमरादिझंकार निशमनेन समुन्मीलितमालती कुन्दादि कुसुम सुगन्धघ्राणेन, वन्यपाटल पटलपरागपुञ्ज सुरभित-विलोलशीतलसमीरस्य संस्पर्शनेन, सान्द्रद्रुम निकरेषु वह्नि कणदीप्ति-जित्वरखद्योतद्युति विलोकनेन पयः फेनसारच्छवि सदृशया ज्योत्स्नया धवलितस्य समीपवर्तित तडागस्यावलोकनेन द्विगुणित विषादाऽभूदूर्मिला।"

इसी प्रकार बम्बई का वर्णन करते हुए "मायाजालम्" कथा में लिखती हैं कि—

"नगरीयममरावती सौन्दर्याधरीकारिणी, वसुधातल निखिल नगरी ललामभूता, बुवादबुलोयन्-तुलरीनामकविविधरम्यतमोपवनजितनन्दनवनरामणीयक शोभिता, कूज-त्तानाविधसुन्दराण्डजविलसल्लोलोत्पल जलाशयसुषमानिधेर्देवता, आर्कंदवियोम्फनामक

विशालाष्टपथ संगमभूषिता, शाम्भलीक्ष नामकदेदीप्यमान विस्तीर्ण राजमार्ग विराजमाना निखिलमहीतल देशीयाश्रयभूता, नाट्यसंगीत नृत्यचित्रशिल्पादि कलाकलापधाम् असख्यबुलेवाडाख्य महावीथिजनगुञ्जिता नोत्रदाममाद् लनसाक्रेकराद्य द्वितीयदेवतालयपवित्रीकृता, शिल्पसौंदर्यसमलंकृता विषणीवातायनरचितरुचिराम्बर रजतहैम पात्ररत्नखचिता लङ्कारादिभूषिता मां नितान्त व्यमोहयत् ।" ये उत्कृष्ट गद्य के नमूने हैं।

पर्वतीय पण्डित श्री विश्वेश्वर पाण्डेय—आपका 'मन्दारमंजरी' नाम का गद्य-ग्रन्थ कल्पना और पौराणिक कथाओं पर आधारित है। 'कादम्बरी' की गद्य-शैली का इसमें अच्छा अनुकरण किया गया है। पुष्पपुर नाम की नगरी में राजशेखर नाम के राजा का 'मन्दारमंजरी' के साथ देव संपादित सम्बन्ध वर्णित किया गया है।

श्लेष का वर्णन करते समय लेखक ने अपने दार्शनिक परिज्ञान का भी अच्छा परिचय दिया है, पर कहीं अश्लीलता का आधिक्य भी है जो श्लेष के लोभ में किया गया है, जैसे "नीविमोक्षः सुरतोत्सवेषु न वणिक्षु", "कर पीडा सुन्दरीस्तनकोरकेषु न प्रजासु", "अश्लीलभाषणमश्वमेधाविधिषु रतप्रयोगेषु च न सद्गोष्ठीषु"।

कुमार शिक्षण-वर्णन भी चन्द्रापीड के शिक्षण-वर्णन के समान ही है। इस उपदेश का दाता बुद्धिनिधि नाम का प्रधान मंत्री है। मदयन्ती की कामदशा का वर्णन महाश्वेता एवं पुण्डरीक के कामदशा-वर्णन के समान है। इसका भी 'कादम्बरी' के समान केवल पूर्वार्द्ध ही लब्ध है, तो भी कथा प्रायः समाप्त-सी हो जाती है। उत्तरार्द्ध में कवि क्या लिखना चाहता था, यह उसके या विधि के गर्भ में रह गया है। इसके लेखक के समान, जिसने गद्य लिखते हुए, वैय्याकरणता एवं दार्शनिकता का परिचय दिया हो, कम ही मिलते हैं। उत्तरार्द्ध इनके शिष्य ने बनाया है जो अमुद्रित है। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर पाण्डेय था। उन्होंने विश्वनाथ की कृपा से वृद्धावस्था में पुत्र को प्राप्त किया था। अतः इनका नाम विश्वेश्वर रखा गया। इनका जन्म सन् १७८० ई० के लगभग हुआ था। इन्होंने 'अलंकारकौस्तुभ', 'अलंकार-प्रदीप', 'अलंकार-मुक्तावली', 'कवीन्द्रकर्णाभरण' नाम के भी अन्य ग्रन्थ लिखे हैं।

संस्कृत गद्य-काव्य की विशेषताएँ

संस्कृत गद्य-काव्यों के कथानक का मूल प्रायः लोक-कथाओं (folktale) से लिया गया है। लोक-कथाओं की भाँति कथा में उपकथा का संनिवेश करने की प्रथा भी गद्य-काव्यों में देख पड़ती है। किन्तु गद्य-काव्यों की व्यंजना-प्रणाली लोक-कथाओं से भिन्न है। उनकी शैली बहुत-कुछ पद्य-काव्यों से प्रभावित हुई है। शिष्ट एवं संभ्रांत वर्ग के लिए लिखे जाने के कारण इन गद्य-काव्यों में उत्कृष्ट एवं अलंकृत भाषा का प्रयोग तो हुआ ही है, साथ ही वर्णन-शैली का भी अत्यधिक परिष्कार हुआ है। दीर्घ-

काय समास, अनुप्रास, श्लेष, यमक, परिसंख्या आदि अलंकारों तथा सूक्ष्म पौराणिक संकेतों का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। प्रकृति का विस्तृत चित्रण तथा नायक-नायिका की शारीरिक और मानसिक दशाओं का अतिरंजित वर्णन भी हुआ है। शृङ्गार-रस ही इनका प्रधान रस है। लोक-कथाओं के सरल और प्रवाहयुक्त आख्यानों पर कल्पना और पांडित्य का गहरा रंग चढ़ाया गया है। कथाभाग गौण हो गया है और अलंकृत वर्णन-शैली ही प्रधान हो गई है। गद्य-काव्यों के व्यापक प्रभाव के कारण संस्कृत में व्यावहारिक गद्य-शैली का विकास बहुत कम देख पड़ता है।

संस्कृत के गद्य-काव्य इस धारणा के पोषक हैं कि कविता के लिए छन्द अनिवार्य नहीं हैं; छन्दोबद्धता तो उसका केवल एक बाह्य परिच्छेद है। गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से कविता की रचना हो सकती है। यही कारण हैं कि संस्कृत गद्य-काव्य सहृदयों के हृदय में वास्तविक-काव्यानन्द का संचार करते हैं। यदि भाषा-सौष्ठव, वर्णन-नैपुण्य, कल्पना-वैचित्र्य, रसास्वाद, पदलालित्य, श्लेष-चातुर्य और अलंकार-वैभव—इन समस्त काव्यात्मक गुणों का एकत्र अवलोकन करना हो तो संस्कृत के गद्य-काव्यों का अनुशीलन करना चाहिये। ऐसी अलंकृत, उदात्त एवं परिष्कृत गद्य-शैली का विकास स्यात् ही किसी अन्य भाषा के साहित्य में हुआ हो।

आदौ दण्डी ततश्चासीत् सुबन्धुः श्लेषमार्मिकः।
तथा श्रीबाणभट्टश्च त्रयो गद्ये प्रकीर्तिताः॥

६

गीति-काव्य

जिन काव्यों में महाकाव्य के सभी गुण या लक्षण नहीं पाये जाते, उन्हें खंड-काव्य या गीति-काव्य कहते हैं।[1] मानव-जीवन के किसी एक ही पक्ष का उद्घाटन अथवा अन्तरात्मा के किसी एक ही पटल का चित्रण गीति-काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य होता है। जहाँ महाकाव्य में मानव-जीवन की समग्रता का प्रसार है, वहाँ गीति-काव्य में जीवन की एकदेशीयता की तन्मयता है। गीति-काव्यों का आकार-प्रकार महाकाव्यों से छोटा है। प्रधानतया उनमें एक ही विषय वर्णित रहता है—शृङ्गारिक, धार्मिक अथवा नैतिक। गीति-काव्यों में लालित्य एवं माधुर्य का विशेष पुट देख पड़ता है। ऋग्वेद में उषा के प्रति की गई स्तुतियों मे गीति-काव्य की सर्वप्रथम झलक देख पड़ती हैं। सुभाषित-ग्रन्थों में पाणिनि के नाम से भी कुछ गीति-पद्य उपलब्ध होते हैं। गीति-पद्यों का नाटकों में भी प्रयोग होता है। स्वतंत्र गीति-काव्यों में प्रायः मुक्तक पद्यों का प्रयोग किया जाता है। मुक्तक-काव्य की विशेषता यह है कि उसमें एक ही पद्य में रस की पूर्ण अभिव्यक्ति अथवा किसी विषय का सांगोपांग चित्रण होता है। प्रत्येक पद्य अपने में स्वतन्त्र होता है। उसे समझने में पूर्वापर प्रसंग की अपेक्षा नहीं होती—'पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।' (ध्वन्यालोक)

कालिदास

संस्कृत गीति-काव्य की प्राचीनतम उपलब्ध रचनाएँ महाकवि कालिदास की हैं—'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत'। 'ऋतुसंहार' को बहुत समय तक कुछ विद्वान् कालिदास की रचना नहीं मानते थे, क्योंकि (१) कालिदास के अन्य ग्रंथों के समान इसकी भाव-भाषा शैली उतनी परिष्कृत नहीं है। प्रकृति-निरीक्षण भी इतना सूक्ष्म नहीं है। रचना-कौशल की न्यूनता-स्पष्ट झलकती है। स्थान-स्थान पर शब्द और अर्थ की पुनरावृत्ति देख पड़ती है। (२) 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत' के टीकाकार मल्लिनाथ ने 'ऋतुसंहार' पर कोई टीका नहीं लिखी है। उनके अनुसार[2] उक्त तीन काव्य ही कालिदास की कृतियाँ हैं। अलंकार-ग्रन्थों में भी 'ऋतुसंहार' से कोई उद्धरण

---

१. खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। साहित्यदर्पण ६।३२९

२. मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया।
व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम्॥

नहीं दिये गये हैं। (३) 'ऋतुसंहार' में चित्रित शृङ्गार का नैतिक स्तर कालिदास के प्रेम के आदर्श से घटकर है। ये तीनों उपर्युक्त तर्क आधुनिक आलोचकों को मान्य नहीं हैं। 'ऋतुसंहार' कालिदास की प्रथम साहित्यिक रचना है। अतः यदि उसकी भाषा और भाव में पर्याप्त परिष्कार न देख पड़े तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? सम्भव है, उसकी सरलता ही के कारण मल्लिनाथ ने उस पर टीका लिखना आवश्यक न समझा हो। कवि की अन्य प्रौढ़ एवं परिष्कृत रचनाओं के मौजूद रहते अलंकार-शास्त्र के आचार्य उसके बाल-प्रयास से उदाहरण क्यों लेते ? इसके अतिरिक्त 'ऋतुसंहार' कवि के यौवनोल्लास का प्रथम उद्गार है; उसमें शृङ्गार की रंगस्थली में प्रकृति का उद्दाम विलास चित्रित है, किसी उच्च नैतिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन नहीं। 'ऋतुसंहार' की प्राचीनता में कोई संदेह नहीं। वत्सभट्टि के शिलालेख (४७२ ई०) में उसके अनुकरण की छाप स्पष्ट देख पड़ती है।[1] इन तथ्यों के आधार पर आधुनिक विद्वान् 'ऋतुसंहार' को कालिदास की ही रचना स्वीकार करते है।

'ऋतुसंहार' में ६ सर्ग और १४४ पद्य हैं। उसमें ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसंत ऋतुओं का यथाक्रम वर्णन है। महाकाव्यों तथा नाटकों में भी यथास्थान ऋतुओं का वर्णन आया है। पर संस्कृत काव्य-साहित्य में एकमात्र ऋतु-वर्णन पर ग्रन्थ 'ऋतुसंहार' ही है। एक के बाद दूसरी ऋतु के आगमन से जहाँ प्रकृति के बाह्य रूप में नवीनता या विचित्रता आती है, वहाँ युवक-युवतियों में भी विविध प्रणय-क्रीड़ाओं तथा शृंगारिक चेष्टाओं का उदय होता है। 'ऋतुसंहार' में प्रकृति के बाह्य सौंदर्य और मानवीय प्रणय का कान्त संयोग है। प्रत्येक ऋतु अपनी विशेषताओं से प्रेमियों के हृदय को नाना प्रकार से आन्दोलित करती है।

ग्रीष्म-ऋतु सूर्य के प्रचंड आतप और चन्द्रमा की स्पृहणीय ज्योत्स्ना के साथ आती है। युवतियाँ उज्ज्वल रत्नों और दीप्त कौशेय वस्त्रों से विभूषित हो ऋतु की शोभा में अभिवृद्धि करती हैं। उनके मुख की सौंदर्य-सुषमा के सामने चन्द्रमा की म्लानता और भी मंद प्रतीत होती है। प्रकृति के सभी प्राणी भीषण उष्णता से व्याकुल हो जाते हैं। शीतल रात्रियाँ, सुरभित पुष्पमालाएँ, मादक मद्य, प्रेमोद्दीपक संगीत, ये सभी ऋतु की प्रचंडता को शान्त करने के साधन हैं। कमनीय कान्ताओं के साथ प्रासाद-पृष्ठ पर संगीत का आनन्द लेते हुए युवकों की विरल रात्रियाँ व्यतीत हो जाती हैं—

---

१. स्मरवशगततरुणजनवल्लभाङ्गनाविपुलकान्तपीनोरु-
स्तनजघनघनालिङ्गननिर्भर्त्सिततुहिनहिमपाते ॥ वत्सभट्टि ११
पयोधरैः कुङ्कुमरागपिञ्जरैः सुखोपसेव्यैर्नवयौवनोष्मभिः ।
विलासिनीभिः परिपीडितोरसः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः ॥ ऋतु०

व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो
निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन।

अब वर्षा-ऋतु का शुभागमन होता है।* शस्य-श्यामला वसुन्धरा तरुणी की भाँति प्रतीत होती है। नदियाँ यौवनोन्मत्त चंचल नारियों की भाँति बड़े वेग से समुद्र की ओर चली जा रही हैं। विद्युत् अँधेरी रात में प्रिय-समागम के लिए आतुर अभिसारिकाओं के पथ को आलोकित करती है। मेघों के गम्भीर गर्जन से भयभीत कोमलांगी अपने प्रियतम के अपराधों के विना मानापनोदन के ही क्षमा कर देती है। ऋतु प्रणयिनी की भाँति पुष्पों से अपना शृङ्गार करती है। युवक-युवतियाँ उत्कण्ठित हो उठती हैं।

नवविवाहिता वधू की भाँति रमणीय शरद्-ऋतु आ गई। पुष्पित काशकुसुम ही उसका वस्त्र है। विकसित कमल-समूह उसका मनोहर मुख है। उन्मत्त कलहंसो की ध्वनि उसके नूपुरों की झंकार है। पके धान के खेतों के समान उसके अंगों का पीत गौर वर्ण है। शरद्-ऋतु के इस अनिद्य सौंदर्य के सामने रमणी-सौदर्य फीका पड़ जाता है। हंस अंगनाओं की चाल को खिले कमल उनके मुखचन्द्र की कांति को नीले कमल उनकी नेत्र सुषमा को तथा लोल लहरियाँ उनके भ्रू विभ्रमों को मात कर देती हैं। निशा-सुन्दरी मेघ-रूपी अवगुण्ठन को हटाकर अपने मुखचंद्र की शोभा सर्वत्र बिखेर रही है। शीतल मंद वायु मंजरियों के साथ ही युवक-हृदयों को दोलायमान कर रही हैं।

हेमंत में लोध्र-वृक्ष पल्लवित हो जाते हैं। कमल के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। तुषार-पात सर्वत्र होने लगता है। स्त्रियाँ कौशेय वस्त्रों का त्याग कर देती हैं। प्रियंगु-लता विरहिणी विलासिनी की भाँति पीली पड़ जाती है। प्रेमीजन प्रगाढ़ालिंगन में बद्ध होकर शयन करने लगे। युवतियाँ बालातप की सौख्यपूर्ण रश्मियों में स्नान करती हैं।

प्रकृष्ट प्रेम का आह्वान करने वाली शिशिर-ऋतु का स्वागत कीजिये। इस ठिठुरते जाड़े में मंदद्युति नक्षत्रों तथा नीहार से आच्छादित रजनी की शोभा निरखने भला कौन बाहर निकलता है? इस समय तो लोग आग, गरम वस्त्र तथा प्रिया के प्रगाढ़ परिरम्भ का सेवन करते हैं। कंदर्प के दर्प का तो कहना ही क्या है? शिशिर बिछुड़े प्रेमियों को अवश्य संतापकारिणी है, पर धान के खेतों की सुनहली छटा देखते ही बनती है।

अब प्रेमियों का सच्चा संदेशवाहक वसंत प्रणय को प्रगाढ़ और परिपक्व बनाता हुआ अपने आगमन की सूचना दे रहा है। जिधर देखिये आनंद और उल्लास का ही दृश्य छा रहा है। वृक्ष कुसुमों से, जलाशय कमलों से, स्त्रियाँ प्रेमोद्रेक से, वायु

सुगन्ध से, सन्ध्या शीतलता से, दिवस प्रफुल्लता से, संक्षेप मे, समग्र दृश्य जगत् वसन्त की चारुता से प्रिय तथा स्निग्ध प्रतीत हो रहा है—

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः ।
सुखाः प्रदोषाः दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥

नववधू के कर्णपार्श्व का कर्णिकार-कुसुम क्या ही शोभा दिखा रहा है? उसके काले केशपाशों में अशोक-पुष्प की क्या ही निराली छटा है? मादक वासंतिक समीर सर्वत्र हर्षोन्माद का प्रसार करता हुआ मंद-मंद डोल रहा है। अहा, वह विश्व-विजयी कामदेव अपने अभिन्न सहचर वसंत के साथ आप सबका कल्याण करें, पलाश-पुष्प जिनका धनुष है, आम्र-मंजरियाँ जिनके तीर हैं, अलि-कुल जिनकी प्रत्यंचा है, धवलचन्द्र जिनका कलंकरहित छत्र है, मलयानिल मत्त गजेन्द्र है तथा कोकिल चारण या बन्दीजन हैं—

आम्री मंजुलमंजरी वरशरः सत्किंशुकं यद्धनु-
ज्या यस्यालिकुलं कलंकरहितं छत्रं सितांशुः सितम् ।
मत्तेभो मलयानिलः परभृतो यद्बन्दिनो लोकजित्
सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः ॥

यह संक्षिप्त परिचय 'ऋतुसंहार' की कविता का, उसकी प्रत्येक पंक्ति में कवि के यौवन का उद्दाम वेग प्रवाहित हो रहा है। युवकों पर वह सम्मोहन का इन्द्रजाल डाल देती है।

कालिदास की प्रौढ़ कृतियों की तुलना में 'ऋतुसंहार' का अधिक महत्त्व नहीं है। उसमे कवि का प्रारम्भिक प्रकृति-प्रेम चित्रित है। फिर भी उसमे भावों की नूतनता नहीं। प्रेमियों के हृदय पर प्रकृति के प्रभाव का वह उल्लासपूर्ण चित्रण है। तरुण कवि की प्रथम कृति होने के कारण 'ऋतुसंहार' में कालिदास की कविता का सर्वश्रेष्ठ गुण—ध्वनि—का एक प्रकार से अभाव है। किन्तु कालिदास की प्रासादिकता सर्वत्र विद्यमान है।

'मेघदूत' संस्कृत के गीतिकाव्य-साहित्य का एक परम उज्ज्वल रत्न है। इसमे १२५ पद्यों में कवि ने एक विरही यक्ष की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण किया है। इसके दो भाग हैं—पूर्वमेघ और उत्तरमेघ। अलकापुरी के अधीश्वर कुबेर ने अपने किंकर यक्ष को कर्त्तव्य-पालन में त्रुटि दिखाने के कारण एक वर्ष के लिए निर्वासित कर दिया। बेचारा यक्ष अपनी प्राणवल्लभा पत्नी से दूर भारत की निम्नभूमि में आकर रामगिरि[1] नामक पर्वत पर अपने वियोग के दिन काटने लगा। जैसे-तैसे आठ

१ यद्यपि मल्लिनाथ ने भ्रमवश चित्रकूट को ही रामगिरि माना है, किन्तु आधुनिक अनुसंधान के आधार पर यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि नागपुर के उत्तर में स्थित वर्तमान रामटेकरी नामक पहाड़ी ही रामगिरि है।

मास व्यतीत करने के बाद वर्षा-ऋतु के आगमन ने उसके प्रेमी-हृदय में विरह की तीव्र वेदना जागरित कर दी। उसके मन में मेघ द्वारा अपनी प्रियतम के पास प्रणय-संदेश भेजने की कल्पना आई। पूर्वमेघ में वह मेघ के लिए रामगिरि से अलका तक के मार्ग का विशद वर्णन करता है तथा उत्तरमेघ में अलकापुरी अपने भवन और अपनी पत्नी की विरहदशा का वर्णन कर अन्त में अपना संदेश सुनाता है।

कुछ लोगों की धारणा है कि 'मेघदूत' में विरही यक्ष का चित्रण कर कालिदास ने प्रकारांतर से अपने ही जीवन की किसी घटना को चित्रित किया है। पर इस कल्पना में कोई तथ्य नहीं जान पड़ता। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ जनश्रुति के आधार पर कहते हैं कि कालिदास ने 'मेघदूत' की कल्पना 'वाल्मीकि-रामायण' की उस घटना से ली है, जहाँ राम सीता के प्रति हनुमान् द्वारा संदेश भेजते हैं (सीता प्रति रामस्य हनूमत्संदेशं मनसि निधाय मेघसंदेशं कृतवानित्याहुः)। 'मेघदूत' की कुछ पंक्तियाँ इस कथन का समर्थन भी करती हैं, जैसे—'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु', 'रामगिर्याश्रमेषु', 'रघुपतिपदैरंकितम्', 'इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा'। अन्य स्थलों पर भी वाल्मीकि की कुछ उक्तियों का अनुकरण देख पड़ता है।[1] अतः यह असम्भव नहीं कि कालिदास को 'मेघदूत' का कल्पना-बीज 'रामायण' प्राप्त हुआ हो। परन्तु जिस सूक्ष्म रचना-कौशल द्वारा उन्होंने उसमें अपूर्व रमणीयता का संचार किया है, उसे देखते हुए उनकी कल्पना नितान्त मौलिक ही कही जायगी।

संस्कृत के गीति-काव्यों में 'मेघदूत' का स्थान अग्रगण्य है। जैसी रमणीय एवं सुकुमार कल्पना इस काव्य में हुई है, उसी के अनुरूप इसकी भाषा एवं शैली भी अत्यन्त मनोहर हैं। इसकी भाषा बड़ी ही प्रांजल, परिमार्जित एवं प्रवाहपूर्ण है। शब्दों के चुनाव में कवि ने विशेष कौशल दिखाया है। कहीं माधुर्य की व्यंजक स्निग्ध मधुर पदावली है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।

कही कोमलकान्त पदावली द्वारा प्रेमिका की अतिसुकुमार हृदयकली का आभास कराया गया है—

---

१. वाल्मीकि —मेघाभिकामा परिसंपतंती संमोदिता भाति बलाकपंक्तिः।
वातावधूता वरपौण्डरीकी लम्बेव मालारुचिराम्बरस्य ॥४।२८।२३
मेघदूत—नूनमाबद्धमालाः सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः।
वाल्मीकि—प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान् ।४।२८।१५
मेघदूत—यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानाम्।

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ।

कहीं शब्दों की नादात्मक ध्वनि से ही वर्णित विषय का चित्र उपस्थित कर दिया गया है—

तस्माद् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्तिम् ।

तो कहीं शुभग शब्द-मैत्री द्वारा छन्द में रमणीयता का संचार किया गया है—

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।

'मेघदूत' की शैली कालिदास का स्वाभाविकता और प्रासादिकता का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'मेघदूत' के पद्यों की रमणीयता, स्वर-सौष्ठव, माधुर्य-विलास एवं कोमल संगीत-लहरी दर्शनीय है। सारा काव्य मन्दाक्रान्ता छन्द में लिखा गया है, जिसकी मन्द-मधुर गति विप्रलम्भ शृंङ्गार के करुण-कोमल भाव को व्यंजित करने में विशेष सहायक सिद्ध हुई है। तभी तो कालिदास के मन्दाक्रान्ता छन्द की प्रशंसा करते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते ।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगांगना ।।

परिमित पदावली में भाव की विशद व्यंजना कर देना 'मेघदूत' का विशेष गुण है। स्थल-स्थल पर भावों और दृश्यों के सुन्दर शब्द-चित्र अंकित हैं। कैलास पर्वत की गोद में पड़ी हुई अलका का कैसा बिम्बग्राही चित्र है—

तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।

'हे स्वच्छंद विहार करनेवाले मेघ, अपने प्रियतम कैलास-गिरि की गोद में पड़ी उस अलका-सुन्दरी को देखते ही तुम पहचान जाओगे, जिसकी गंगारूपी साड़ी खिसककर नीचे सरक गई।' यक्ष-प्रेयसी कंकणयुक्त करो से ताल दे-देकर किस प्रकार अपने बाल-मयूर को नचाती है, इसका चित्र देखिये—

तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकंठः सुहृद्वः ।

अथवा अलका के रमणीय क्रीडा-शैल का चित्र देखिये, जिसके चारों ओर रुचिर कनक-कदली की बाड़ लग रही है—

तस्यस्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।

विरह-विधुरा यक्ष-पत्नी का कैसा स्वाभाविक एवं संक्षिप्त शब्द-चित्र है—

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ।।

'हे सौम्य मेघ, वहाँ पहुँचकर तुम देखोगे कि मेरी विरह-कातर पत्नी मैलिन वस्त्र पहने हुए, गोद में वीणा लेकर कुछ ऐसे गीत गाने की चेष्टा कर रही होगी, जिसमें मेरे नाम का प्रयोग किया गया होगा। उस समय वह अपनी आँखों के आँसुओं से भीगी उस वीणा को जैसे-तैसे पोंछकर मेरा स्मरण हो आने से ऐसी विह्वल हो जायेगी कि बार-बार की अपनी अभ्यस्त मूर्च्छनाओं को भी वह भूल जायेगी।' निम्नलिखित पद्यों में मेघ तथा अलका के प्रासादों की पारस्परिक तुलना में कवि ने कैसी समास-शैली का परिचय दिया है—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः ।
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ।।

'हे मेघ, अलकापुरी के वे ऊँचे-ऊँचे भवन सभी प्रकार से तुम्हारी समता करने में समर्थ हैं। यदि तुम्हारे साथ बिजली है तो उन भवनों में विद्युत् के समान गौर-वर्ण सुन्दरियाँ हैं। यदि तुम इन्द्र-धनुष से युक्त हो तो वे भवन भी रंग-बिरंगे चित्रों से सज्जित हैं। यदि तुम मृदु-गम्भीर गर्जन कर सकते हो तो वे भी मृदंग के मधुर नाद से निनादित हैं। यदि तुम्हारे अन्दर स्वच्छ स्फटिकोपम जल भरा है तो वहाँ भी फर्शों पर उज्ज्वल मणियाँ जटिल हैं और यदि तुम ऊँचे हो तो वहाँ भी गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ हैं।'

'मेघदूत' में अलंकारों का यथास्थान उपयुक्त प्रयोग नैसर्गिक चारुता का संचार करता है। उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का तो बड़ा ही सुन्दर एवं समुचित प्रयोग हुआ है। कालिदास की उपमाओं का तो कहना ही क्या है! प्राकृतिक दृश्यों का मानवीय सौन्दर्य से सुरुचिपूर्ण सादृश्य स्थापित किया गया है। वर्षाकाल में महलों पर शुभ्र जल-बिन्दु की झड़ी लगाने वाले मेघवृन्द अलका-सुन्दरी के मुक्ता-मण्डित केशकलाप की भाँति हैं—

या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ।

कभी कालिदास मानवीय सौन्दर्य की तुलना प्रकृति-सौन्दर्य से करते हैं। जिह्वा से

कृशकाय, विरह-शय्या पर एक ही करवट पड़ी यक्ष-पत्नी प्राची में कृष्णपक्ष की क्षीण चन्द्रकला की भाँति है—

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।

बेचारी विरहिणी यक्ष-पत्नी, बरुनियों में निरन्तर आँसू के बड़े-बड़े बूंद भरे रहने के कारण, मेघाच्छन्न दिवस में स्थल-कमलिनी की भाँति न जागती ही है, न सोती ही—

चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं नप्रबुद्धां नसुप्ताम् ।

'मेघदूत' में स्थान-स्थान पर अभिनव उत्प्रेक्षाओं का भी सुन्दर उपयोग हुआ है। कैलास-पर्वत की शुभ्र धवल हिमाच्छादित चोटियाँ ऐसी शोभित हो रही हैं मानो भगवान् शंकर के प्रतिदिन अट्टहास की राशियाँ लगी हों। मेघ को ऊपर जाते देख जब मृगनयनी यक्ष-पत्नी के नेत्र फड़क उठते हैं, तब उस समय उनकी शोभा उस कमल के समान होती है, जो किसी मछली के उछलने के कारण चंचल हो उठा हो। पर्वत की चोटी पर छा जानेवाला श्यामवर्ण मेघ शिव के शुभ्र वृषभ के सींग पर लगे पंक की छवि धारण करता है।

'मेघदूत' में कालिदास ने प्रकृति तथा अन्तःप्रकृति इन दोनों का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। बाह्य प्रकृति के चित्रण में कवि की अन्तरात्मा प्रत्येक दृश्य के साथ मानो रम गई है। बाह्य प्रकृति के प्रति कवि का अनन्य अनुराग देखना पड़ता है। दृश्यों का ऐसा ब्योरेवार और संश्लिष्ट चित्रण किया गया है कि हमारे मानसिक नेत्रों के सम्मुख उनका एक चित्र उपस्थित हो जाना है। सारा पूर्वमेघ बाह्य प्रकृति का ही मनोहर रूपयोजनात्मक चित्रण है। वर्षाऋतु का जैसा स्निग्ध और हृदयग्राही वर्णन 'मेघदूत' में किया गया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कहीं प्रथम वृष्टि के कारण नये जुते खेतों से सोंधी महक उड़ रही है, कहीं खिले केतक-कुसुमों के पराग से उपवन का परिसर धवल हो रहा है, कहीं मत्त मयूर नाच रहे हैं, कहीं हिरन चौकड़ी भर रहे हैं और कहीं मतवाले हाथी सूंड़ों की सिसकारी भर मंद समीर का पान कर रहे हैं। 'मेघदूत' के प्रकृति-वर्णन में ऐसे स्थल हैं जिन पर उत्कृष्ट कोटि के चित्र बनाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, मानसरोवर को जानेवाले राजहंसों का विशद चित्र देखिये, जो अपनी चोंचों में पाथेय के लिए कमल-नाल के मृदुल दलों को दबाये मेघ के साथ-साथ उड़ते जा रहे हैं—

आ कैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ।

गंगा के स्फटिक-समान निर्मल जल को पीने का लोभी मेघ जब अपने अगले तन का

विस्तार करके दिग्गज की भाँति नभ में झुक जाता है, तब उसके श्याम प्रतिबिम्ब से गंगा तत्काल यमुना-संगम की छटा धारण कर लेती है।

यक्ष के प्रणय-सन्देश को लेकर जाते हुए मेघ का 'नयनसुभग'-रूप स्थल-स्थल पर अंकित है। अनुकूल पवन् से प्रेरित हो कभी वह सीधे, कभी मुड़कर और कभी लम्बे-तिरछे होकर उड़ता है। कहीं वह गिरि-शिखरों पर विश्राम करता है, कहीं क्षीण होने पर सरिता के सरस सलिल का पान करता है, तो कहीं मूसलाधार वृष्टि बरसाता है। कहीं वह घनश्याम-सा श्याम बन जाता है, कहीं सायंकाल होने पर अभिनव जपा-कुसुम की लालिमा धारण करता है और कहीं कनक-कसौटी की रेखा जैसी विद्युत् की छटा दिखाता है। प्रदोष-काल की पशुपति-पूजा में मंद-मंद गर्जन कर वह डंके का काम करता है। कभी फौवारे जैसा उड़कर, कभी करिशावक जैसा बनकर और कभी पर्वत-शिखरों पर चिकनी चोटी की तरह चिपटकर वह भाँति-भाँति की क्रीड़ा करता है।

कालिदास ने मेघ को भाफ, पवन, पानी और पावक का निरा संघात ही नहीं बनाया है, अपितु एक सजीव प्राणी के रूप मे चित्रित किया है, जिसमे विनोदप्रियता है, रसिकता है और है यक्ष के ही समान प्रणय-पिपासा। कभी वह कनककमलाकर मानसरोवर के सलिल का पान करता है, कभी नानाविध क्रीड़ा मे निरत हो गिरि-श्रृंगों पर विहार करता है, तो कभी ऐरावत का मुख-पट बन उसे महान् मोद देता है। सहृदय मेघ दशपुर-वधुओं के भ्रू-विलासों से वंचित नहीं रहता। रुचिर रमणियों के पद-राग से अंकित उज्जयिनी के सुरम्य महलों की छतों पर रात बिताकर वह मार्ग-श्रम दूर करता है। मुरझाते कर्ण-कमलों से सुशोभित मालिनों के मुखड़ों पर छाया कर वह उनका प्रीति-पात्र बनता है। रसिक और सहृदय होने के कारण वह अपने घोर गर्जन से अभिसारिकाओं को डराता नहीं। मछली की किलोल के रूप में चंचल कटाक्ष करनेवाली नदी को वह निष्ठुर बन निराश नहीं करता।

कालिदास के अनुसार प्रकृति में सर्वत्र प्रेम की शीतल छाया प्रसार पा रही है। सारी चराचर प्रकृति सचेतन एवं भावनाशील है। नदियाँ, मानिनी प्रेमिका की भाँति, इठलाकर अपनी लहर-रूपी भौंहें तान लेती हैं। भोर ही सूर्य अपनी खण्डिता प्रियतमा नलिनी के ओस-रूपी आँसुओं को अपने करों से पोंछता है। प्रियतम-सा चाटुकार शिप्रा-वात कामिनियों के सुखमय गात्र का स्पर्श करता है। प्रकृति के रमणीय दृश्य मानवों को ही नहीं, पशु-पक्षियों और जड़ पदार्थों को भी उत्कण्ठित कर देते हैं। घटाओं में घिरे मेघ को देखते ही उसका सगा पपीहा चहकने लगता है। बगुलियाँ गर्भाधान का समय जान उड़कर मेघ का सम्मान करती हैं। सजलनयन केकी कूकों से उसका स्वागत करते हैं। पर्वत उसको गले लगाकर खिले कदम्बों से पुलकित हो उठता

है। प्रकृति में पारस्परिक समवेदना के भाव भी देख पड़ते हैं। पहाड़ बहुत दिनों से अपने स्नेही मेघ को देखकर गरम आँसू बहाता है; मेघ पहाड़ से सखा की भाँति मिलकर उससे बिदा माँगता है।

प्रकृत के विविध दृश्य मानव-हृदय को भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्कण्ठाओं एवं प्रेरणाओं से आन्दोलित करते हैं। अन्तः और बाह्य प्रकृति का यह घनिष्ठ सम्बन्ध 'मेघदूत' में सर्वत्र देखने को मिलता है। वर्षाकाल की सुहावनी घटा को देखकर विरही यक्ष अनमना हो जाता है। विरहिणी पथिक-रमणियाँ हवा पर सवार मेघ को देख अपने प्रियतम के आगमन की आशा में धैर्य धारण करती हैं। सरल-स्वभावा सिद्धांगनाएँ आकाश में घने कृष्ण-वर्ण के मेघों को देखकर उन्हें हवा में उड़ती पहाड़ की चोटियाँ समझती हैं। 'भ्रूविलासानभिज्ञ' ग्राम-तरुणियाँ अपनी 'नेहभरी भोली चितवन' से मेघ का स्वागत करती हैं। कटाक्ष करने में चतुर पौरस्त्रियाँ अपने 'चल चपला से चकित चुटीले बाँके नैनों' में मेघ को उलझाने का प्रयत्न करती है।

प्रकृति में सहानुभूति की भावना का भी मनोरम आरोप किया गया है। यक्ष की करुण दशा को देख प्रकृति उसके प्रति समवेदना प्रकट करती है। जब यक्ष स्वप्न में अपनी प्रियतमा के आलिंगन के लिए शून्य गगन में बाँहें फैलाता है, तब वनदेवियाँ उसकी दशा देख मोतियों के समान आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें टपकाती हैं—

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥

प्रकृति के साहचर्य में ही मानव के सन्तप्त हृदय को सान्त्वना मिल सकती है। हिमालय के देवदारु वृक्षों की गंध से सुगन्धित वायु के स्पर्श में यक्ष को अपनी पत्नी के कोमल अंगों का आलिंगन-सुख मिलता है। प्रियंगुलता में उनके अंगों की, मोर-पंख में उसके केश-कलाप की, हरिणी के चंचल नयनों में उसके नेत्रों की, चन्द्रमा में उसके मुख की और नदी की चंचल लहरों में उसके भ्रू-विलास की छाया देख वह विरह में भी सान्त्वना पाता है। गेरू से शिला पर प्रिया का चित्र खींच वह विरह-विनोद करता है।

पूर्वमेघ में विरही यक्ष सृष्टि-सौन्दर्य का दर्शन कर अपने दुःखी हृदय को आश्वासन देता है, उत्तरमेघ में वह प्रकृति के संयोग में अपनी प्रियतमा के अतीत एवं भावी मिलन-सुख का स्वप्न देखता है। प्रकृति की अलौकिक प्रेरणा यक्ष के प्रेम को संकीर्णता की परिधि से बाहर निकाल विश्व-प्रेम में परिणत कर देती है। 'असंगता

विश्व-प्रेम का प्रधान कारण है। संगम का परिच्छिन्न प्रेम विरह में अपरिच्छिन्न हो जाता है।' अलका के भवन में बैठी यक्ष-पत्नी यक्ष को प्रत्येक वस्तु में दिखाई देती है—

प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
सा सा सा सा, जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ।

तभी तो उसे पेड़-पल्लव, नदी-नद, खोह-पहाड़, पशु-पक्षी, भले-बुरे, जड़-चेतन सभी से प्रेम हो गया है।

कालिदास ने यक्ष और उनकी प्रेयसी की विरहावस्था का वर्णन कर उनकी अन्तःप्रकृति का मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। वास्तव में 'मेघदूत' एक विरह-पीड़ित, उत्कंठित हृदय की मर्मभरी आह है, प्रत्येक पद्य में उसकी विकलता, उसकी विह्वलता, उसकी कातरता, उसकी आतुरता, उसके स्पंदन, उसके क्रन्दन की करुण तान झंकृत हो रही है। यक्ष-पत्नी के बाह्य एवं अन्तःसौन्दर्य का सुकुमार और करुण अंकन अपूर्व है—

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥

'हे मेघ विरह-चिन्ता के कारण चुप रहनेवाली मेरी उस प्रियतमा को मेरा दूसरा प्राण ही जानना, जो मुझसे बिछुड़कर, अपने सहचर से वियुक्त चक्रवाकी की भाँति, विरह की हूक सह रही होगी। वियोग के इन दीर्घ दिनों में मेरी उस वियोगिनी प्रिया की दशा उस कमलिनी के समान होगी जो पाला पड़ जाने के कारण बिलकुल मुरझा गई हो।' अलका की सुरम्य आनन्दमयी नगरी में वही नारी दुखी और अकेली होगी। उस आभूषणहीन, अधीर, कृश शरीरवाली मेरी पत्नी को देख, हे मेघ ! तुम्हारा भी आर्द्र-हृदय भर आयेगा और तुम्हारे नयनों से नीर झरने लगेगा। मेरे विरह के दिन से ही वह देहली के फूलों को धरती पर फैलाकर गिन रही होगी कि अब विरह के कितने दिन बाकी हैं। मेरे वियोग में रोते-रोते उसके नेत्र सूज गये होंगे, उष्ण निःश्वासों से उसके अधरों का वर्ण फीका पड़ गया होगा, चिन्ता के कारण वह हाथ पर कपोल धर-कर बैठी होगी, बिखरे केशों के कारण उसका अस्पष्ट देख पड़ने वाला कमनीय मुख-चन्द्र, मेघाच्छन्न चन्द्रमा के समान धुंधला और उदास दिखाई दे रहा होगा। देखो, प्रिय मेघ ! वह या तो देवताओं की पूजा में संलग्न देख पड़ेगी या कल्पना द्वारा मेरे विरह-कृश शरीर का चित्र बना रही होगी या पिंजरे में बैठी मधुरभाषिणी मैना से पूछ रही होगी कि हे सारिके ! क्या तुझे अपने प्रिय स्वामी की भी याद आती है ?—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पंजरस्थां
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ।।

अपने हृदय के दुःख-दर्द की गाथा सुनाने वाला तथा अपनी प्रियतमा के पास प्रणय-संदेश भेजने वाला अभागा यक्ष बरबस हमारी हृत्तंत्री के तारों में समवेदना की मधुर झंकार उत्पन्न कर देता है। उसके शब्दों में प्रगाढ़ता एवं अनन्यता की पूर्ण अनुभूति होती है। यक्ष के प्रेम-कातर हृदय का चित्रण कर महाकवि कालिदास ने उस मानव-हृदय का चित्र अंकित किया है, जो विधाता ने अटल विधान को मूक-वेदनापूर्वक स्वीकार करते हुए भी तिमिराच्छन्न आकाश में प्रकाश की क्षीण रेखा—आशा की ज्योति—देखता है। तभी तो पुर्नमिलन की उसे पूर्ण आशा है—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्गमयचतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ।।

'देखो, प्रिये, आगामी देवोत्थानी एकादशी को जब विष्णु भगवान् शेषशय्या से उठेंगे, उसी दिन मेरा शाप भी समाप्त हो जायगा। इसलिये इन शेष बचे हुए चार मासों को जैसे-तैसे आँख मींचकर व्यतीत कर दो। फिर तो हम दोनों, विरह के दिनों में सोची हुई अपने मन की साधें, शरद् की सुहावनी चाँदनी रात में पूरी कर ही डालेंगे।' सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख के अटल नियति-चक्र में उसका पूर्ण विश्वास है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

'मेघदूत' की कल्पना शृंगारिक होते हुए भी उसमें शिष्ट नैतिकता का कहीं त्याग नहीं किया गया। अपनी जिस प्रियतमा के विरह में यक्ष क्षीणकाय हो सन्देश भेज रहा है, वह उसकी विवाहिता पत्नी है। उसकी प्रेयसी विधाता के नारी-रचना-कौशल का प्रथम अवतार ही नहीं है, पति की प्राणेश्वरी ही नहीं है, प्रत्युत विविध कला-प्रवीण, सहृदया, साध्वी और आदर्श पतिव्रता गृहिणी भी है। यक्ष-दम्पती का प्रणय मानवीय प्रेम का ही आदर्श प्रतिरूप है और है दाम्पत्य प्रणय की एकनिष्ठता का मूर्तिमान प्रतीक। कुबेर द्वारा निर्वासित होने के पूर्व यक्ष का प्रेम उद्दाम वासना से प्रेरित और कर्तव्य का विरोधी था। उद्दाम वासना से अभिभूत होने के कारण ही वह कर्तव्य-विरोधी प्रणय मानो अपने उच्च अलौकिक धरातल (अलका) से च्युत होकर

निम्न पार्थिव स्तर (रामगिरि) पर आ पड़ा था। किन्तु दीर्घ वियोग ने इस वासना के अंश को भस्मसात् कर उसे पुनः विशुद्ध प्रणय में परिवर्तित कर दिया। सच पूछिये तो कालिदास ने अपने 'मेघदूत'-काव्य द्वारा संसार को प्रणय-सिद्धान्त का यही गूढ़ सन्देश दिया है। वियोग ही सच्चे प्रेम का पोषक और परिणति-विधायक है—'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।' जहाँ संयोग-दशा में निरन्तर आस्वादन के कारण प्रेम घटता हुआ प्रतीत होता है, वहाँ वियोग मे स्नेह-रस के उत्तरोत्तर पुञ्जीभूत होने के कारण वही प्रेम एक महान् राशि के रूप में परिणत हो जाता है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।

विरही यक्ष का यह अतृप्त अनुराग, हमारा अनुराग बन जाता है; प्रिया के प्रति उसकी उत्कण्ठा, हमारी उत्कण्ठा हो उठती है। 'कालिदास की यह प्रसन्न-मधुर वाणी, मन्दाक्रान्ता की यह झूमती चाल, देश की यह मनोहर रूप-माधुरी—सबने मिलकर 'मेघदूत' को उस अलौकिक रस से परिप्लावित कर दिया है जो 'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार वर्णित है—सर्वथा पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिगन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन अलौकिकचमत्कारकारी... रसः। प्रातिभ और प्रत्यक्ष उभयविध गोचरों की जैसी रमणीय एकात्मकता 'मेघदूत' में है, वैसी कहीं नहीं।'[1] कालिदास का यह गीत-रत्न केवल वस्तुओं के रूपरंग के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाता, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखता है। इसमें जहाँ स्निग्ध-श्यामल वलाहकों से व्याप्त व्योम-मण्डल का बिम्बग्राही वर्णन है, वहाँ प्रेमी-प्रेमिका के विरहजन्य प्रेमोत्कर्ष का भी हृदयग्राही चित्रण है। जहाँ जलकणवाही, सुखशीतल, केतकगन्धी गन्धवाह का अथवा प्रिय-समागम से प्रति मयूर के प्रमोद नृत्य का अथवा अभिनव जलधारा से आप्यायित वीरबहूटियों का स्निग्ध चित्रण है, वहीं अमिट सख्यभाव का, हृदय के औदार्य का, कृतज्ञता, सज्जनता, दया, त्याग एवं निःस्वार्थ भाव का भी अंकन किया गया है। 'याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा,' 'न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय, प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः', 'मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः', 'आपन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम्', 'प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव' जैसी पंक्तियाँ इस काव्य की रमणीयता में गाम्भीर्य का संचार करती हैं। संक्षेप में, उदात्त कल्पना, कलात्मक सृष्टि-नैपुण्य, रसानुकूल भावव्यंजना, उच्च आदर्श तथा सुललित पदविन्यास—अपने इन विशिष्ट गुणों के कारण 'मेघदूत' गीति-काव्यकला का चरम

---

१. पं० केशवप्रसाद मिश्र-कृत 'मेघदूत' के पद्यानुवाद की भूमिका।

निदर्शन है। 'अमोघराघव' (१२९९ ई०) के रचयिता दिवाकर ने कालिदास की जो प्रशंसा की है, यह 'मेघदूत' पर अक्षरशः घटित होती है—

रम्या श्लेषवती प्रसादमधुरा शृङ्गारसंगोज्ज्वला
चाटूक्तैरखिलप्रियैरहरहस्सम्मोहयन्ती मनः।
लीलान्यस्तपदप्रचाररचना सद्वर्णसंशोभिता
भाति श्रीमति कालिदासकविता कांतेव तांते रता॥

कालिदास की ख्याति और लोकप्रियता जितनी 'रघुवंश' और 'शाकुंतल' पर आश्रित है, उतनी ही इस सरस गीतिकाव्य 'मेघदूत' पर भी। कुछ विद्वानों की तो यहाँ तक धारणा है कि यदि कालिदास अन्य किसी ग्रन्थ की रचना न करके केवल एक 'मेघदूत' की ही रचना करते तो भी संसार के श्रेष्ठ महाकवियों में उनकी गणना की जाती। संदेश-काव्य की अभिनव एवं मौलिक कल्पना का श्रेय महाकवि कालिदास को ही है। संस्कृत में दूतकाव्यों का श्रीगणेश 'मेघदूत' से ही होता है। 'मेघदूत' के अनुकरण पर बाद में अनेक दूतकाव्यों की रचना हुई। ८वीं शताब्दी के जैन कवि जिनसेन की 'पार्श्वाभ्युदय' में समस्या-पूर्ति के ढंग पर 'मेघदूत' की पंक्तियों का उपयोग किया गया है। १२वीं शताब्दी के कविराज धोयी ने 'पवनदूत' की रचना की। इसके बाद तो 'नेमिदूत', 'हंसदूत', 'कोकिलदूत', 'शीलदूत', 'उद्धवदूत' जैसे संदेश-काव्यों की परम्परा ही चल पड़ी। 'मेघदूत' पर कुल मिलाकर ४० टीकाएँ लिखी गई हैं। 'मेघे माघे गतं वयः' यह उक्ति मेघदूत के व्यापक अध्ययन की परिचायक है।

'मेघदूत' के हिन्दी में छः पद्यानुवाद हो चुके हैं। इनमें राजा लक्ष्मणसिंह तथा राय देवीप्रसाद के अनुवाद ब्रजभाषा में हैं। श्री लक्ष्मीधर बाजपेयी और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने खड़ीबोली में समश्लोकी अनुवाद किया है। श्री दुर्गाप्रसाद अग्रवाल ने भी एक पद्यानुवाद किया है। किंतु खड़ीबोली में सबसे सुन्दर और सरस पद्यानुवाद आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र का है।

'मेघदूत' का विदेशों में भी खूब प्रचार हुआ है। जर्मन कवि शिलर (Schiller) ने अपने 'मेरिया स्टुअर्ट' नामक नाट्य-काव्य में कालिदास के अनुकरण पर मेघ द्वारा संदेश भेजने की कल्पना की है। प्रो० मैक्समूलर ने 'मेघदूत' का जर्मन पद्य में तथा श्वेट्ज (Schutez) ने जर्मन गद्य में अनुवाद किया है। डॉ० एच० बेकह (Beckh) ने 'मेघदूत' का तिब्बती भाषा में एक संस्करण प्रकाशित किया है। अमेरिका के आर्थर राइडर महोदय ने 'मेघदूत' का अंग्रेजी में बड़ा ही मनोहर पद्यानुवाद किया है।

श्री हरनाथ डे महोदय ने राजेन्द्रनाथ विद्याभूषण-कृत 'कालिदास' नामक बँगला पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा है कि 'मेघदूत' की रचना के पूर्व ही धोम का ऋ काव्,

(Hsiu Kan) नामक कवि (२०० ई०) मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना कर चुका था। किन्तु यह धारणा कालिदास के काल-विषयक उस मत पर आश्रित है, जिसके अनुसार वे ४०० ई० के आस-पास के माने जाते हैं। नवीन अनुसंधान के आधार पर कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० में प्रमाणित हो चुका है। अतः 'मेघदूत' की प्रथम कल्पना का श्रेय कालिदास को ही है।

जनश्रुति है कि कालिदास ने 'श्रृङ्गारतिलक' नामक एक और काव्य की रचना की थी। 'श्रृङ्गारतिलक' २३ पद्यों का एक छोटा-सा श्रृङ्गार-प्रधान गीति-काव्य है। इसमें श्रृङ्गार-रस का सुन्दर चित्रण हुआ है। इसकी प्रासादिक भाषा और सरल शैली देखकर इसे कालिदास की कृति मानने मे कोई विप्रतिपत्ति नही देख पड़ती। कोमलांगी किंतु कठोरहृदया प्रियतमा का क्या ही सुन्दर वर्णन है—

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन।
अंगानि चम्पकदलैः स विधाय धाता
कान्ते कथं घटितवानुपलेन चेतः॥

प्रियतमा के मुखचन्द्र की कैसी असाधारण कल्पना है—

झटिति प्रविश गेहं मा बहिस्तिष्ठ कान्ते
ग्रहणसमयवेला वर्तते शीतरश्मेः।
तव मुखमकलंकं वीक्ष्य नूनं स राहु-
र्ग्रसति तव मुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय॥

'प्रिय, देखो अभी चन्द्र-ग्रहण होने जा रहा है, इसलिए तुम झटपट घर के भीतर चली जाओ, नहीं तो यदि कहीं राहु तुम्हारा यह निष्कलंक मुखचंद्र देख लेगा तो यह धब्बे-वाले चन्द्रमा को छोड़कर इसे ही ग्रस लेगा।' इस पद्य में 'समय' और 'वेला' तथा 'मुख' और 'मुखेन्दु' की पुनरुक्ति से स्पष्ट आभासित होता है कि यह एक तरुण कवि की तरुण रचना है।

घटकर्पर

परंपरागत प्रसिद्धि के अनुसार घटकर्पर महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों मे से थे। अतः उनका समय १०० ई० पू० के लगभग माना जा सकता है। घटकर्पर ने इसी नाम का २२ पद्यों का एक लघु काव्य रचा है। 'घटकर्पर' नाम से उनकी प्रसिद्धि सम्भवतः उनके इस पद्य से हुई, जिसमे वे प्रतिज्ञा करते हैं कि जो कोई यमक-अलंकार के प्रयोग में मुझसे बाजी मार लेगा, उसके यहाँ मैं घड़े के खप्पर से पानी भरूंगा —

आलम्ब्य वाम्बु तृषितः करकोशपेयं
भावानुरक्तवनितासुरतैः शपेयम्
जीयेय येन कविना यमकैः परेण
तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण ॥

'घटकर्पर' में 'मेघदूत' का कथानक उलटकर काम में लाया गया है। वर्षाऋतु के आरम्भ में एक विरहिणी पत्नी अपने दूरस्थ पति के पास प्रणय-सन्देश भेजती है। इसके पद्यों में यमक-अलंकारों की भरमार है। एक नमूना देखिये—

किं कृपापि नास्ति कान्तया पाण्डुगण्डपतितालकान्तया।
शोकसागरेऽद्य पातितां त्वद्गुणस्मरणमेव पाति ताम् ॥

हाल : सप्तशती

प्राकृत में भी गीति-पद्यों की रचना हुई। इसमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हाल-रचित 'गाथा-सप्तशती' है। इस ग्रन्थ के रचना-काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। हाल का दूसरा नाम सातवाहन था। बाण अपने 'हर्षचरित' के आरम्भ में सातवाहन का उल्लेख करते हैं।[1] यह नाम पुराणों में आन्ध्रभृत्यों की वंशावली के अन्तर्गत भी आया है। अतः हाल १२५ ई० के पहले हुए होंगे।[2] कुछ विद्वान् सातवाहन राजा हाल को ७८ ई० के शक शालिवाहन संवत् का प्रवर्त्तक मानते हैं। इस आधार पर चिन्तामणि विनायक वैद्य महोदय 'सप्तशती' की रचना पहली शताब्दी ई० में मानते हैं।[3] कीथ 'सप्तशती' की महाराष्ट्री प्राकृत की शैली के आधार पर उसे २०० ई० पूर्व की रचना नहीं मानते। किन्तु नवीनतम शोध के अनुसार हाल का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० सिद्ध हो चुका है।

'सप्तशती' में ७०० गाथाओं (आर्या-छन्दों) का संग्रह है। इन सबकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है, जिसकी प्रशंसा में दण्डी कहते हैं—'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।' इनमें कुछ तो स्वयं हाल द्वारा विरचित हैं, पर अधिकांश पद्य कई तत्कालीन अथवा पूर्ववर्ती कवियों की रचनाएँ हैं, जिनके नाम का अब पता नहीं। हाल ने, जैसा वे स्वयं कहते हैं, शृङ्गार-रस से सनी लाखों गाथाओं में से ७०० ऐसी उक्तियाँ चुनकर रख दीं, जो उन्हें अत्यन्त सुन्दर एवं रस-भाव-पेशल प्रतीत हुईं। इस प्रकार यह सुभाषित-संग्रह का प्रथम ग्रन्थ है। 'सप्तशती' का प्रत्येक पद्य अपने-आप

में स्वतन्त्र है और आमुष्मिकता की चिन्ता से एकदम मुक्त है। मुक्तककाव्य के प्राचीनतम उदाहरण 'गाथा-सप्तशती' के पद्य हैं।

कालिदास और भवभूति की उदात्त रचनाओं से परिचित पाठक के लिए 'सप्तशती' की कविता का स्तर सर्वथा नूतन एवं मौलिक प्रतीत होगा। 'सप्तशती' में लोक-जीवन के विविध पटलों की सजीव अभिव्यक्ति की गई है। उसकी गाथाओं के दृश्य अधिकतर सरल ग्राम्य-जीवन से लिये गये हैं। वहाँ के लोग नगर की विलास-सामग्रियों से भले ही वंचित हो, पर प्रेम, दया, सहृदयता, एकनिष्ठता जैसे भावों के धनी हैं। 'सप्तशती' ऐसे ही लोगों के सुख-दु.ख के अवसरों का मंजुल चित्र उपस्थित करती है। उसमें प्रधानतया तत्कालीन समाज के संयोग एवं विप्रलम्भ शृङ्गार का मूर्तिमान चित्रण है। उसकी नायिकाएँ गाँव की मुग्ध युवतियाँ हैं। शृङ्गार के अतिरिक्त उसमें प्रकृति-चित्रण तथा नीति-विषयक सूक्तियाँ भी पाई जाती हैं। इन पद्यों द्वारा कहीं-कहीं तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं पर भी प्रकाश पड़ा है। प्रत्येक पद्य में किसी-न-किसी प्रकार का चमत्कार, माधुर्य या सौष्ठव है; व्यंग्यार्थ की सुन्दरता तो सर्वत्र दर्शनीय है।

'सप्तशती' मे प्राकृतिक दृश्यो का प्रायः उपमापूर्ण वर्णन किया गया है। ये उपमाएँ बड़ी मौलिक एवं सुन्दर हैं। कही मरकत की सुई से बिंधे मोती के समान, तृण की नोक पर चमकते जल-बिन्दु को मृग चाट रहे हैं; कहीं काले मेघों के प्राण की भाँति बिजली धुक्‌धुक् काँप रही है; कहीं कुमुददलों पर निश्चय भाव से बैठे काले भौंरे अन्धकार की ग्रन्थियों के सदृश प्रतीत हो रहे हैं—

राजन्ति कुमुददलनिश्चलस्थिता मत्तमधुकरनिकायाः।
ग्रन्थय इव तिमिरस्य हि शशिकरनिः शेषनाशितस्येमाः ॥[1]

'सप्तशती' का सरल सूक्ति-सौन्दर्य अवलोकनीय है। संसार में बहरों और अंधों का ही समय सुख से बीतता है, क्योंकि बहरे कटु शब्द नहीं सुन सकते और अंधे दुष्टों की समृद्धि नही देख पाते। कृपण के लिए उसका धन उतना ही निष्फल है, जितनी ग्रीष्म की कड़ी धूप से व्याकुल पथिक के लिए उसकी अपनी छाया। टेढ़ों और सीधों का साथ कहीं निभ सकता है? तभी तो टेढ़ा धनुष सीधे और गुणग्राही बाणों को दूर फेंक देता है—

चापः स्वभावसरलं क्षिपति शरं किल गुणेऽपि निपन्ततम्।
ऋजुकस्य च वक्रस्य च सम्बन्धः किं चिरं भवति ॥

ग्रामीण जीवन के कुछ चित्र देखिये। किसान की मुग्धा पुत्रवधू को एक नई

---

१. ये उदाहरण संस्कृत रूपान्तर में ही दिये गये हैं।

रंगीन साड़ी मिली है; उसका उल्लास इतना असीम हो रहा है कि गाँव के चौथे रास्ते में भी वह तन्वी नहीं समा रही है। गाँवों की दरिद्रता के कारण दृश्य बड़े हृदय-स्पर्शी हैं। कृषक युवक अपनी गर्भवती पत्नी से उसकी दोहद अभिलाषा पूछता है; पति को आर्थिक कष्ट न देने के लिए वह केवल जल के लिए इच्छा प्रकट करती है। मूसलाधार पानी बरस रहा है; झोपड़ी में टप्-टप् पानी चू रहा है; कृषक-पत्नी अपने प्यारे बच्चे को बचाने के लिए उस पर झुककर पानी की बूंदें अपने सिर पर ले रही है, पर कवि कहता है, उसे यह नहीं पता कि इस प्रकार वह अपने नयनों से झरते नीर से उसे भिगो रही है।

प्रणय का मार्मिक चित्रण 'सप्तशती' की विशेषता है। प्रेम और करुण के भाव तथा प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ाओं का उसमें सजीव चित्रण हुआ है। अहीर और अहीरिनों की प्रेम-गाथाएँ, ग्राम-वधुओं की शृङ्गार-चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के चित्र इतने मोहक और सरस हैं कि हमारी मृदुल भावनाएँ बरबस आकृष्ट हो जाती हैं। 'गाथासप्तशती' का अनुशीलन करते समय पाठक 'एक अभिनव जगत् में प्रवेश करता है, जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नहीं, कुश और वेदिका का नाम नहीं सुन पड़ता, इतिहास और पुराण की दुहाई नहीं दी जाती और उन सब बातों को भुला दिया जाता है जिन्हें पूर्ववर्ती साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।' तृषार्त पथिक पानी पिलाती हुई प्रमदा के चंद्रमुख की सुधा का आकण्ठ पान कर रहा है; इस रोमांचकारी अनुभव का अधिक देर तक आस्वादन करने के लिए वह अपनी उँगलियों के बीच से पानी निकल जाने देता है; वह कामिनी भी, उत्कण्ठावश, पथिक के प्रति उदार होकर, पानी की पतली धार धीमे-धीमे गिराती है। पुष्पमालाएँ गूंथनेवाली मालिन की भुजलता का सौन्दर्य ही प्रेमी को आकृष्ट करता है, माला खरीदने से उसे कोई मतलब नहीं। धान के खेत की रखवाली करने-वाली कृषकसुन्दरी का सारा समय पथिकों को मार्ग बताने में बीत जाता है, रास्ता जाननेवाले भी उससे मार्ग पूछते ही रहते हैं।

'सप्तशती' में दाम्पत्य-जीवन की अनेक रोचक घटनाएँ वर्णित हैं। अपराधी पति रूठी पत्नी के पैरों पर गिर कर क्षमा-याचना करता है, इतने में उसका छोटा बालक आकर पिता की पीठ पर चढ़ जाता है; मानिनी भार्या अपनी हँसी नहीं रोक सकती। पत्नी पति को अपने शिशु के उगे हुए दाँत को दिखाने में किस अकथनीय हर्षोल्लास का अनुभव करती और कराती है! प्रगाढ़ रूप से अनुरक्त पति-पत्नी के लिए संसार में अन्य कोई पुरुष या स्त्री है ही नहीं। रसोई बनाते समय कहीं पत्नी के कालिख लगे हाथ से मुँह पर काला धब्बा लग गया; उसे देख मुसकराता हुआ पति बोल उठा—वाह, अब तो तुम्हारे मुख और चन्द्रमा में जरा भी अन्तर नहीं रहा—

गेहिन्या महानसकर्ममसीमलिनितेन हस्तेन ।
स्पृष्टं मुखमुपहसति हि चन्द्रावस्थां गतं दयितः ॥

कवि की कोमल भावुकता दर्शनीय है। प्रेमिका चन्द्रमा से अनुनय करती है कि मुझे तू उन्हीं करों (किरणों) से स्पर्श कर, जिनसे तूने मेरे प्रियतम को स्पर्श किया है; वह रात्रि को अनन्त बन जाने के लिए कहती है, क्योंकि सूर्योदय होने पर उसके हृदयेश प्रवास को चले जायँगे। पति के शुभागमन में पत्नी अपने हर्षातिरेक को इसलिए दबा रखती है कि कहीं उसकी पोषितभर्तृका पड़ोसिन को दुःख न हो। पतिप्राणा पत्नी के गुणनिर्भर हृदय में पति के दोषों के लिए स्थान ही कहाँ है! जिस प्रिय के वियोग में जीवन नहीं धारण किया जा सकता, उसके अपराध करने पर भी उसकी खुशामद ही की जाती है, नगर को जलाकर खाक कर डालनेवाली आग जाड़ों में किसे प्रिय नहीं होती—

येन विना न जीव्यतेऽनुनीयते स कृतापराधोऽपि ।
प्राप्तेऽपि नगरदाहे कण कस्य न वल्लभोऽग्निः ॥

सर्वत्र शृङ्गार की स्निग्धता व्याप्त है। प्रेमिका के उरोज बादलों को चीर कर निकलते हुए चन्द्रमा के समान हैं। नायिका के मुख की समता चन्द्रमा नहीं कर सकता, इस पर कवि की कल्पना देखिये—

तव मुखसादृश्यं नो लभत इति हि पूर्णमण्डलो विधिना ।
घटयितुमिवान्यमयमिव पुनरपि परिखण्ड्यते शशभृत् ॥

अर्थात् जब ब्रह्मा ने देखा कि पूर्णचन्द्र बनाने पर भी वह नायिका के मुख की समता नहीं कर सका, तब वे उसे फिर से बनाने के लिए खंड-खंड कर डालते हैं। एक सुकुमार अन्योक्ति देखिये—

ईषत्कोषविकासं यावन्नाप्नोति मालती कलिका ।
मकरन्दपानलोलुप मधुकर किं तावदेव मर्दयसि ॥

'सप्तशती' के उपर्युक्त पद्य का ही भाव लेकर महाकवि बिहारी ने अपने निम्नलिखित दोहे की रचना की, जिसके प्रभाव से जयपुर के महाराज जयसिंह की मोह-निद्रा भंग हुई थी—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिं काल ।
अली, कली ही सौं बिंध्यौ आगे कौन हवाल ॥

'गाथा-सप्तशती' की अनेक उक्तियों को आलंकारिक आचार्यों ने अपने ग्रंथों में उदाहरण रूप से उद्धृत किया है। इसी के आदर्श पर गोवर्धनाचार्य ने संस्कृत में अपनी 'आर्या-

सप्तशती' की रचना की। हिन्दी में भी सतसई साहित्य में सूत्रपात का श्रेय 'गाथा-सप्तशती' को ही है। हाल की प्रशंसा करते हुए अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' में सोड्ढल कहते हैं कि आज भी हाल का स्मरण करते ही सहृदयों के मुख से पहले 'हा' यही अच्छर निकला है—

हाले गते गुणिनि शोकभराद्बभूवु-
रुच्छ्रवाङ्मयजडाः कृतिनस्तथाऽमी।
यत्तस्य नाम नृपतेरनिशं स्मरन्तो
हेत्यक्षरं प्रथममेव परं वदन्ति ॥

भर्तृहरि : शतकत्रय

'नीतिशतक', 'शृङ्गारशतक' तथा 'वैराग्यशतक' के प्रसिद्ध रचयिता भर्तृहरि के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अपूर्ण है। जनश्रुति के आधार पर वे महाराज विक्रमादित्य के बड़े भाई थे। भट्टिकाव्य के रचयिता भट्टि, और उक्त शतकत्रय के रचयिता भर्तृहरि इन दोनों को एक ही व्यक्ति मानना उचित नहीं। कीथ के मतानुसार प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' के रचयिता वही भर्तृहरि थे, जिनकी मृत्यु इत्सिग के अनुसार लगभग ६५० ई० में हुई थी। इत्सिग के कथनानुसार भर्तृहरि सात बार गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम के बीच भटकते रहे। किन्तु यह कल्पना सम्भवतः 'शृंगारशतक' और 'वैराग्यशतक' के परस्पर विरोधी भावों को लक्ष्य में रखकर ही की गई। उक्त शतकत्रय के कर्ता भर्तृहरि बौद्ध वैयाकरण भर्तृहरि नहीं हो सकते। नीति और वैराग्यशतकों में प्राचीन वैदिक आदर्शों एवं पौराणिक सिद्धान्तों के कई उल्लेख मिलते हैं, अतः उन्हें बौद्ध मानना बुद्धिसंगत नहीं। यदि भर्तृहरि उन्हीं विक्रमादित्य के भाई थे, जिन्होंने ६४४ ई० में कहरूर की लड़ाई में हूणों को परास्त किया था, तो उनका स्थितिकाल छठी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है।

'नीतिशतक' में 'मनुस्मृति' और 'महाभारत' की नैतिकता कालिदास की-सी प्रतिभा के साथ प्रस्फुटित हुई है। विद्या, वीरता, साहस, मैत्री, उदारता, परोपकार-परायणता जैसी उदार वृत्तियों का बड़ी सरस पदावली में वर्णन किया गया है। इनमें जिन नीति-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे संसार की किसी भी जाति अथवा धर्म के लिए भूषण-स्वरूप हैं। 'नीतिशतक' के प्रसिद्ध पद्यों का प्रचार प्रायः समग्र भारतवर्ष में है।

भर्तृहरि की शैली प्रासादिक, मुहावरेदार और मंजी हुई है। उसमें प्रवाह, पदलालित्य, भाव-प्रवणता और अर्थव्यक्ति है। भाषा इतनी सरल, स्वाभाविक और सुबोध है कि कवि का तात्पर्य पद्यों को एक बार पढ़ने से ही भली भाँति ज्ञात हो जाता है। दैनिक जीवन के गूढ़ एवं प्रत्यक्ष सत्यों को भर्तृहरि ने बड़े हृदयग्राही ढंग से प्रस्तुत

किया है। कहीं नीति के अनुभवजन्य उपदेश निर्दिष्ट हैं, कहीं रमणियों के रूप-विलास का आकर्षण अंकित है और कहीं वैराग्य का शुभ्र प्रकाश वितरित है। छन्दों की विविधता, विषय की रोचकता, उदाहरणों की अनुरूपता तथा सूक्तियों की सुन्दरता भर्तृहरि के काव्य को चारुता प्रदान करती है। उनकी शैली के 'नीतिशतक' से कुछ उदाहरण देखिये—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परिशुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥

'जिस कामिनी का मैं निरंतर चिन्तन करता हूँ, उसके हृदय में मेरे प्रति कोई अनुराग नहीं। वह एक ऐसे पुरुष पर आसक्त है जो स्वयं किसी अन्य स्त्री से प्रेम करता है। मेरे लिए कोई और ही स्त्री उत्कंठित हो रही है' धिक्कार है उस कामिनी को, उस पुरुष को, कामदेव को, इस स्त्री को और मुझको।' अहिंसा, परद्रव्यहरण में संयम, सत्य-वाणी, यथाशक्ति दान, पर-स्त्री की चर्चा न करना, इंद्रिय-दमन, गुरुजनों के प्रति विनय-पूर्ण व्यवहार तथा सब प्राणियों के प्रति दया - यही शास्त्रों द्वारा अनुमोदित कल्याण का पथ है। लोभ के रहते दूसरे अनगुणों की क्या आवश्यकता, दुष्टता के रहते पापों की, सत्य के रहते तपस्या की, पवित्र मन के रहते तीर्थों की, सज्जनता के रहते सद्गुणों की, यश के रहते अलंकारों की, सद्विद्या के रहते धन की और अपयश के रहते मृत्यु की क्या आवश्यकता? तेजस्विता आयु की अपेक्षा नहीं रखती, तभी तो एक सिंह-शावक बड़े-बड़े मतवाले हाथियों पर टूट पड़ता है—

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः॥

ऐसे सज्जनों की संख्या उंगलियों पर गिने जाने योग्य है, जिनके मन-वचन-कर्म पुण्य-रूपी अमृत से पूर्ण हैं, जो सारे संसार को अपने सत्कार्यों से प्रसन्न रखते हैं तथा जो दूसरों के परमाणु-तुल्य गुणों को भी पर्वत के समान समझते हैं—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

साहित्य और संगीत से वंचित मनुष्य बिना सींग और पूँछ के उस पशु के समान है, जो अन्य पशुओं के भाग्य से घास नहीं खाता—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

संसार में खलने वाली बातें सात हैं—सूर्य की प्रभा से मलिन चन्द्रमा, गलित-यौवना कामिनी, कमलों से रहित सरोवर, सुन्दर किन्तु निरक्षर पुरुष, लोभी स्वामी, निरन्तर विपत्तिग्रस्त सज्जन और राजा का प्रीतिपात्र दुर्जन । दैन्यग्रस्त मनुष्यों के लिए भर्तृहरि कहते हैं—

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः ।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥

'प्रिय मित्र चातक, क्षण भर के लिए मेरी बात ध्यान देकर सुनो । आकाश में बहुत तरह के बादल हैं, किन्तु वे सभी तुम्हें तृप्त करने वाले नहीं हैं । उनमें कुछ तो पृथ्वी पर पानी बरसाते हैं, पर कुछ व्यर्थ ही गरजते रहते हैं । अतः जिस-जिस को तुम देखो, उसी के सम्मुख दैन्य-सूचक शब्दों का प्रयोग मत करो । 'नीतिशतक' की कितनी ही सूक्तियाँ आभाणक के रूप में प्रचलित हो गई हैं— 'विभूषणं मौनमपण्डितानाम्', 'मूर्खस्य नास्त्यौषधम्', 'सत्संगतिः किं न करोति पुंसाम', 'प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति', 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते', 'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः', 'न निश्चतार्थाद्विरमन्ति धीराः', 'मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्', 'शील परं भूषणम्', 'न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः', 'विधिरहो बलवानिति मे मतिः', 'यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमाः' इत्यादि ।

'शृङ्गारशतक' में कवि ने ललित मधुर शैली में यह दिखाया है कि स्त्रियाँ अपने आकर्षण द्वारा पुरुषों पर कैसा जादू डाल देती हैं—

कुङ्कुमपंककलंकितदेहा गौरपयोधरकम्पितहारा ।
नूपुरहंसरणत्पदपद्मा कं न वशीकुरुते भुवि रामा ॥

शूर से शूर पुरुष भी कामदेव का गर्व चूर कर देने में प्रायः असमर्थ है—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

कामदेव वह लुटेरा बटमार है जो कामिनियों के सौन्दर्य-रूपी कानन में दुर्गम कुच-पर्वतों की ओट में छिपकर मन-रूपी पथिक को लूट लेता है—

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे ।
मा संचर मनः पान्थ तत्रास्ति स्मरतस्करः ॥

कवि आर्य-पुरुषों से पूछता है कि बतलाइये, पर्वतों की गुफाओं में जाकर निवास करना अच्छा है अथवा विलासिनियों के नितम्बों का सेवन करना—

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥

भाग्यवान् पुरुष ही स्त्रियों के मोहक सौंदर्य का आस्वादन कर सकते हैं—

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।
सुरतजनितस्वेदैः सार्द्रगण्डस्थलीनां
अधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ॥

सच पूछा जाय तो 'शृङ्गारशतक' में पहले शृङ्गार-रस से आकर्षण का चित्रण किया गया है, किन्तु धीरे-धीरे उसकी अस्थिरता दिखलाकर शान्त रस की तुलना में उनकी तुच्छता प्रकट की गई है। इस भाव-पराभाव से मनुष्य का शीघ्र ही निस्तार हो जाता, यदि बीच में रोक रखने वाली बाँके नैनोंवाली सुन्दरियाँ न होतीं—

संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः ॥[1]

'वैराग्यशतक' में कवि कारुण्य और निराकुलता के साथ संसार की सारहीनता तथा वैराग्य की आवश्यकता समझाई है। संसार एक विचित्र पहेली है—कहीं वीणा की सुमधुर तान सुनाई पड़ती है तो कहीं विलाप और हाहाकार का करुण स्वर, कहीं विद्वानों की सभा हो रही है तो कहीं सुरापान से उन्मत्त लोगों का कलह देख पड़ता है, कहीं सुन्दर रमणियाँ दृष्टिगोचर होती हैं तो कहीं कुष्ठ-पीड़ित शरीरों के बहते हुए घाव, अतः पता नहीं कि यह संसार अमृतमय है अथवा विषमय, वरदान है अथवा अभिशाप—

क्वचिद्वीणावाद्यं क्वचिदपि च हाहेति रुदितम्
क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः ।
क्वचिद्रामा रम्याः क्वचिदपि गलत्कुष्ठवपुषो
न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः ॥

---

१. हिन्दी के महाकवि बिहारी ने इस पद्य को यों अपनाया है—
या भव पारावार को उलँघि पार को जाय ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी ग्रसै बीच ही आय ॥

मुख पर झुर्रियाँ पड़ जाने पर भी, सिर के बाल सफेद हो जाने पर भी तथा अंग-प्रत्यंग के शिथिल हो जाने पर भी भोग-तृष्णा तो तरुणी ही बनी रहती है—

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ।।

वास्तव में वैराग्य का आश्रय लेने पर ही अभय की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि विषय-भोगों में रोग का भय, उच्च कुल मे च्युत हो जाने का भय, धन होने पर राजा का भय, सम्मान में दीनता का भय, बल में शत्रु का भय, सुन्दरता मे वार्धक्य का भय, शास्त्र-ज्ञान में वाद-विवाद का भय, गुणों मे दुष्टों का भय, शरीर में मृत्यु का भय, यहाँ तक कि प्रत्येक वस्तु में किसी-न-किसी का भय लगा ही रहता है, वैराग्य ही सच्चे आश्रम का दाता है। वृद्धावस्था बाघिन की भाँति मुँह बाये डर दिखा रही है, रोग शत्रुओं की भाँति शरीर पर आक्रमण कर रहे है, आयु फूटे घड़े के जल की भाँति क्षीण हो रही है, तब भी आश्चर्य है, मनुष्य दूसरों की बुराई करने में लगे हैं—

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ।।

वेदों से, स्मृतियों से, पुराण-पाठ से, शास्त्रों के अनुशीलन से तथा अन्य सकाम कर्मों के अनुष्ठान से क्या लाभ, जब उनसे केवल स्वर्ग की प्राप्ति होती है। आत्मानन्द की अनुभूति ही एकमात्र सारभूत आनन्द है, क्योंकि उसकी प्राप्ति से संसार के सभी दुःख और बंधन भस्मसात् हो जाते हैं, अन्य कार्य तो वणिक्वृत्ति मात्र है। कवि की उत्कट कामना यही है कि—

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ व सुहृदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे व मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ।।

'मेरी यही आन्तरिक अभिलाषा है कि किसी पवित्र वन में शिव-शिव जपते ही मेरे दिन व्यतीत हों और मेरी दृष्टि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के प्रति एक-सी हो, चाहे वह सर्प हो अथवा मोतियों का हार, प्रबल शत्रु हो अथवा मित्र, मणि हो या मिट्टी का ढेला, पुष्पों की शय्या हो अथवा पत्थर, तिनका हो अथवा सुन्दरियों का समूह।' काव्य-प्रतिभा एवं दार्शनिकता का ऐसा सुन्दर संयोग अन्य किसी साहित्य में कदाचित् ही उपलब्ध हो। 'वैराग्यशतक' की सुन्दर सूक्तियों को भी देखिये—'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्', 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः', 'सर्वं यस्य वशाद-

गात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः', 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः', 'मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः', 'संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः', 'संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्', 'नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः', 'चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः', 'किं नाम वामनयना न समाचरन्ति', 'वनं वा गेहं वा 'सवृशमुपशान्तैकमनसाम्', इत्यादि ।

अमरु : अमरुकशतक

'अमरुकशतक' के रचयिता अमरु अथवा अमरुक नामक कोई राजा थे । ये कब और कहाँ हुए, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता । हाँ, यह किंवदंती अवश्य है कि मण्डन मिश्र की पत्नी शारदा द्वारा किये गये कामशास्त्र-विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए स्वयं श्री शंकराचार्य ने अमरुक नामक राजा के मृत शरीर में प्रवेश करके 'अमरुकशतक' की रचना की थी । यह किवदन्ती कपोल-कल्पित प्रतीत होती है, क्योंकि इस ग्रंथ की रचना किसी प्रश्नोत्तर के रूप में नहीं हुई है ।

श्री आनन्दवर्धनाचार्य (८५० ई०) ने 'ध्वन्यालोक' में अमरुक का इस प्रकार उल्लेख किया है—'मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । तथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ।' वामन (८०० ई०) ने भी 'अमरुकशतक' के तीन श्लोकों को उद्धृत किया है । अतः अमरुक ७५० ई० के पूर्व ही हुए होंगे । 'अमरुकशतक' की रचना शैली के आधार पर उनकी रचना ७०० ई० के लगभग मानी जा सकती है ।

'अमरुकशतक' सहृदयों का हृदय-हार है, सुभाषितों का सुन्दर आगार है । इसके मुक्तक-पद्य रस से ओतप्रोत हैं । श्री आनन्दवर्धन ने इन्हें 'प्रबंधायमान' कहा है, अर्थात् भाव, रस और अर्थ का जितना सन्निवेश एक पूरे प्रबन्ध में किया जा सकता है, उतना अमरुक के एक-एक पद्य में पाया जाता है—'अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्ध-शतायते ।' 'अमरुकशतक' प्रेम का सजीव चित्रण है, शृङ्गार की ललित लीलाभंगियों का भावमय स्वरूप है । उसमें कामी-कामिनियों की विभिन्न मनोवृत्तियों का—उनके हर्ष और विषाद का, कोप और अनुराग का—सूक्ष्म विवरण है । प्रेमियों का अपराग और सन्धान कराने में अमरुक अद्वितीय हैं । यद्यपि अमरुक ने जिस शृङ्गार का चित्रण किया है, वह उद्दाम है, तथापि उनके काव्य में भावों की कोमलता तथा विचारों की शिष्टता देख पड़ती है ।

'अमरुकशतक' की भाषा अत्यंत प्रासादिक, प्रवाहपूर्ण एवं प्रांजल है । शब्दों के चुनाव में कवि ने बड़ी बारीकी से काम लिया है । शार्दूलविक्रीडित जैसे विशाल छन्दों का प्रयोग करते पर भी उनकी कविता में दीर्घकाय समासों का अभाव है ।

इसकी शुद्ध वैदर्भी-रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है। कदाचित् इसकी प्रसन्न-मधुर प्रांजल शैली देखकर ही लोगों ने कल्पना की हो कि यह श्री शंकराचार्य की कृति है। संस्कृत के गीति-काव्यों में 'अमरुकशतक' का स्थान मूर्धन्य है। 'सततरसस्यन्दी' पद्यों द्वारा मानवीय प्रणय का सरस चित्रण किया गया है। एक ओर पति को परदेश जाते देख कामिनी की हृदय-विह्वलता का मार्मिक चित्र है—

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवितप्रिय सुहृत्सार्थः किमुत्यज्यते ॥

'दुर्बलता के मारे हाथों से चूड़ियाँ गिर पड़ीं, ये प्यारे आँसू भी निरन्तर बह चले, धैर्य भी एक क्षण के लिए नहीं रुका, मन तो पहले से ही जाने को तैयार बैठा था। प्रियतम के विदेश जाने का निश्चय करते ही ये सब-के-सब उनके साथ ही चल पड़े। तब फिर, हे मेरे प्राण, तुम क्यों प्रियतम का साथ छोड़ रहे हो, तुम भी क्यों नहीं जीवन-धन के साथ ही चल देते?' दूसरी ओर पति के शुभागमन में अंग-प्रत्यंग से हर्ष की अभिव्यक्ति करने वाली सुन्दरी का कमनीय वर्णन है—

दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः
पुष्पाणां प्रकारः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः।
दत्तस्वेदमुचा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुम्भाम्भसा
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम् ॥

'पति के स्वागत मे नायिका ने अपनी स्निग्ध दृष्टि से ही वन्दनवार सजा दी, कमलों से नहीं; मुस्कुराहट से ही पुष्प बिखेर दिये, कुन्द, चमेली आदि फूलों से नहीं; उरोजों से झर रहे पसीने से ही अर्घ्य-दान किया, कलश के जल से नहीं। इस प्रकार उस तन्वी ने प्रियतम के प्रवेश करने पर अपने अगों से ही सारा मंगल कार्य संपादित कर दिया।' अमरुक ने संयोग और विप्रलंभ-शृङ्गार की भिन्न-भिन्न दशाओं एवं परिस्थितियों का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। निम्नलिखित पद्य मे नायक और मानिनी नायिका का संवाद किस अनूठे ढंग से कराया गया है—

बाले नाथ विमुंच मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥ ५

'प्रिये!' 'नाथ!' 'मानिनी, अपना क्रोध छोड़ो।' 'मैंने क्रोध करके कर ही क्या लिया।' 'क्यों? मेरे हृदय में खेद जो उत्पन्न कर दिया!' 'आपने क्या अपराध

किया! अपराध तो मेरा है।' 'तब फिर तुम सिसक-सिसककर रो क्यों रही हो?' 'किसके सामने रो रही हूँ?' 'क्यों, मेरे सामने।' 'मैं आपकी कौन?' 'प्रियतमा!' 'यही तो नहीं हूँ! इसीलिए तो रो रही हूँ।' प्रियतम के दृष्टि-पथ में आने पर मान कैसे निभ सकता है—

> भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
> रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते।
> कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमांचमालम्बते
> दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने॥ २८

'भौहों को तान लेने पर भी आँखें और उत्कंठित हो उन्हें देखने दौड़ती हैं, चुप्पी साधने पर भी इस निगोड़े मुख पर मुस्कराहट आ ही जाती है, चित्त को कठोर बना लेने पर भी शरीर पर रोमांच हो ही उठता है, इसलिए, तुम्हीं बताओ सखी, हृदय-वल्लभ, प्रियतम के सामने आ जाने पर मान का अभिनय कैसे किया जाय।' भाव-सौकुमार्य का कैसा हृदयस्पर्शी चित्रण है! इसी पद्य के भावों को लेकर हिन्दी के महाकवि बिहारी ने अपने निम्नलिखित दोहों की रचना की है—

> सतर भौंह रूखे बचन करत कठिन मन नीठि।
> कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौहीं दीठि॥
> रुख रूखे मिस रोखमुख कहति रुखौहैं बैन।
> रूखे कैसे होत ये नेह चीकने नैन॥
> दहैं निगोड़े नैन ये गहैं न चेत अचेत।
> हौं कसुकै रिसहे करौं ये निसिखे हँस देत॥

वास्तव में अमरुक शब्द-कवि नहीं, रस-कवि हैं। उनके पद्य ध्वनि-काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। शृङ्गार-रस से लबालब भरे मुक्तक-काव्य के सरस नमूने हैं। बिहारी के अनेक दोहों में अमरुक के भावों की स्पष्ट छाप है। पद्माकर ने तो अपने 'जगद्विनोद' में अमरुक के अनेक श्लोकों का अनुवाद कर दिया। अर्जुनवर्मदेव ने अपनी 'रसिकसंजीवनी' टीका में अमरुक के कवित्व की डमरू से उपमा दी है, जिसकी आवाज के आगे अन्य सब शृङ्गारिक उक्तियाँ दब जाती हैं—

> अमरुककवित्वडमरुकनादेन विनिह्नुता न संचरति।
> शृङ्गारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणयुगलेषु॥

बिल्हण : चौरपञ्चाशिका

बिल्हण के ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'चौरपञ्चाशिका' नामक ५० पद्यों के एक लघु गीतिकाव्य की रचना की। किंवदन्ती है कि किसी राजकुमारी से प्रेम

करने के कारण कवि को प्राण-दण्ड मिला था। तब उसने अपने प्रणय के अनुभवों का उत्तप्त वर्णन करते हुए इस लघु काव्य की रचना की। इससे प्रभावित हो राजा ने क्षमा-प्रदान कर राजकुमारी का उसके साथ विवाह कर दिया। कीथ के मतानुसार यह कथा कपोल-कल्पित है। काव्य में इस प्रकार की अनुभूति का कोई आभास नहीं मिलता। 'विक्रमांकदेवचरित' में बिल्हण ने जो अपना जीवन-वृत्त दिया है, उसमें उक्त घटना का कोई उल्लेख नहीं है। 'चौरपञ्चाशिका' की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। शैली सरस और मधुर है; किन्तु उसमें 'अमरुकशतक' के समान सुकुमार मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण नहीं है, न वह मार्मिक व्यंजना ही है। कवि का शृङ्गारिक वर्णन कहीं-कहीं उच्छृङ्खल हो गया है। एक नमूना देखिये—

अद्यापि तां प्रणयिनीं मृगशावकाक्षीं
पीयूषपूर्णकुचकुम्भयुगं वहन्तीम्।
पश्याम्यहं यदि पुनर्दिवसावसाने
स्वर्गापवर्गनरराज्यसुखं त्यजामि॥

धोयी : पवनदूत

'मेघदूत' का अनुकरण कर जिन 'संदेश' काव्यों की रचना हुई, उनमें धोयी-कृत 'पवनदूत' का प्रमुख स्थान है। कविराज धोयी बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (११९६ ई०) के आश्रित कवि थे। अतः इनका स्थितिकाल बारहवीं शताब्दी था। ये गोवर्धनाचार्य और जयदेव के समकालीन थे।[1] जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' (१।४) में धोयी को 'श्रुतिधर' कहा है।

'पवनदूत' में कुल १०४ पद्य हैं। राजा लक्ष्मणसेन दिग्विजय करते हुए मलयाचल जा पहुँचे। वहाँ कुवलयवती नामक गन्धर्व-कन्या उसके अलौकिक रूप को देखकर मुग्ध हो गई। राजा के स्वदेश लौट आने पर उसने विरहपीड़ित हो पवन द्वारा प्रणय-संदेश भेजा। इसी कारण इस काव्य का नाम 'पवनदूत' पड़ा।

'मेघदूत' की भाँति 'पवनदूत' की भी रचना मन्दाक्रान्ता छन्द में की गई है। इस काव्य पर मेघदूत की छाया स्पष्ट देख पड़ती है, मौलिकता न होने पर भी 'पवनदूत' का मनोरम वाक्य-विन्यास, कविता का स्वाभाविक प्रवाह तथा भावों का सौष्ठव दर्शनीय है। वियोग-वर्णन का एक उदाहरण देखिये—

सारंगाक्ष्या जनयति न यद् भस्मसादंगकानि
त्वद्विश्लेषे स्मरहुतवहः श्वाससंधुक्षितोऽपि।

---

१. गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु॥

जाने तस्याः स खलु नयनद्रोणिवारां प्रभावो
यद्वा शश्वन्नृप तव मनोवर्तिनः शीतलस्य ॥ ७५

'हे राजन्, तुम्हारे वियोग में यह कामरूपी अग्नि, श्वास के पवन से सुलगाई जाने पर भी यह मृगनयनी के कोमल अंगों को जलाकर खाक नहीं कर देती, इसके दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो उसकी सुन्दर आँखों से अनवरत आँसू की धारा बह रही है और दूसरे, तुम्हारी शीतल मूर्ति उसके हृदय में निरन्तर विराजमान है।'

गोवर्धनाचार्य : आर्यासप्तशती

हाल-कृत प्राकृत 'सप्तशती' के अनुकरण पर गोवर्धनाचार्य ने 'आर्यासप्तशती' की रचना की है। गोवर्धनाचार्य बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१११६ ई०) के आश्रित कवि थे। 'सप्तशती' पद्यों की रचना आर्या-छन्द में हुई है। इन आर्याओं की रचना अकारादि वर्णानुक्रम से की गई है। संस्कृत के आर्या-छन्द को जिस सुन्दर, सुचारु एवं परिष्कृत रूप में गोवर्धनाचार्य ने प्रस्तुत किया है, वैसा उनके किसी पूर्ववर्ती कवि ने नहीं किया।

'सप्तशती' में शृङ्गार-रस का स्निग्ध चित्रण हुआ है। गीतगोविन्द के अमर रचयिता जयदेव गोवर्धनाचार्य को शृङ्गार-रस की रचना करने में अद्वितीय बताते हैं— 'शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।' गोवर्धनाचार्य की भाषा, उनकी आर्याओं की भाँति ही मसृण, सरस, विशद और सज्जनों के हृदय को मुग्ध करने वाली है—

मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनास्यार्याः॥ ५१

गोवर्धनाचार्य ने उपमा, रूपक, दृष्टांत आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का आश्रय लेकर शृंगार-रस की मार्मिक और मनोहर व्यंजना की है। संयोग तथा वियोग की दशाओं में प्रेमी-प्रेमिकाओं के अंतस्तल में जो ललित कल्पनाएँ, प्रेमिल उत्कण्ठाएँ एवं सुकुमार भाव-भंगियाँ अठखेलियाँ करती हैं, उनका कवि ने बड़ा मार्मिक और स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है। नागरिक स्त्रियों की उद्दाम शृङ्गार-भावना और ग्राम-तरुणियों की मुग्ध मंजुल लीलाभंगियाँ—नारी-हृदय के इन दोनों पटलों का कवि ने सजीव चित्रण किया है। उनकी सूक्तियाँ भी सरल हैं। उनकी आर्याओं के कुछ उदाहरण देखिये—

सा सर्वथैव रक्ता रागं गुंजेव न तु मुखे वहति।
वचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव॥ ७०२

'नायिका नायक के प्रति पूर्णतया अनुरक्त है, पर अपने अनुराग को वह मुख से प्रकट नहीं करती, अतः वह उस लाल गुंजाफल के समान है, जो मुख को छोड़ सर्वाङ्ग में

रक्तवर्ण है। दूसरी ओर वचन-चातुरी में दक्ष नायक है, जो मुख मात्र ही से अपने प्रेम का ख्यापन करता है, अतः वह उस हरे शुक के समान है, जिसका केवल मुख ही लाल होता है।' एक सुकुमार भाव की कल्पना देखिये—

पिब मधुप बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमाधाय।
अधरविलेपनसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥ ४५०

'हे भ्रमर, इस बकुल-कलिका के मकरन्द-रस का पान करते समय देखो, दूर ही से केवल अपनी जिह्वा की नोक से उसका स्पर्श करना, क्योंकि यदि तुम अपना पूरा मुँह उस पर रख दोगे तो उसका वह अत्यल्प मधुबिन्दु तुम्हारे ओठों में ही पुतकर रह जायगा।' दूसरे के मुख से जो बातें गाली जैसी मालूम पड़ती हैं, प्रिय के मुख से वे ही परिहास बन जाती हैं; ईंधन से निकलने वाला धुआँ अगुरु से उत्पन्न होने पर धूप बन जाता है—

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियमुखे स एव हि परिहासः।
ईतरेन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुसमुद्भूतो धूपः ॥ ६७

कवि की एक और शृङ्गारिक उक्ति देखिये—

सत्कविरसनाशूर्पीनिस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा वराकी ॥ ४६

'सत्कवियों की रचना-रूपी सूप से फटककर जिनकी कर्कशता-रूपी भूसी अलग कर दी गई है, ऐसे शब्द-रूपी धान्य के मधुर पाक से तृप्त हुए सहृदय अपनी प्रियतमा के अधर को भी तुच्छ समझते हैं, फिर बेचारे अमृत की तो बात ही क्या ?' 'सप्तशती' की संस्कृत आर्याओं में अवश्य ही प्राकृत की-सी सरसता नहीं आ सकी है। गोवर्धनाचार्य स्वयं स्वीकार करते हैं कि प्राकृत की सरस सूक्तियों को संस्कृत में रूपान्तरित करना वैसे ही है जैसे पृथ्वीतल पर कल्लोल करनेवाली कलिन्दनन्दिनी यमुना को आकाश की ओर ले जाना—

वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपतीरा कालिन्दकन्येव गगनतलम् ॥ ५२

जयदेव : गीतगोविन्द

संस्कृत गीति-काव्य के अनूठे रत्न 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव का जन्म बंगाल के किन्दुबिल्व ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम रामादेवी अथवा राधादेवी था। उनका विवाह पद्मावती नाम की कन्या से हुआ था। 'गीतगोविन्द' में वे कहते हैं कि पद्मावती उनके गीतों के ताल पर नृत्य करती थी (पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती) बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की राजसभा के जयदेव

प्रमुख रत्न थे। लक्ष्मणसेन का ११९६ ई० का एक शिलालेख गया में पाया गया है। अतः जयदेव का स्थितिकाल ११०० ई० के लगभग था। गोवर्धनाचार्य और धोयी उनके समसामयिक थे।[1]

'गीतगोविन्द' का रचना-कौशल सर्वथा मौलिक है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् उसे ग्राम्य-रूपक (pastoral drama), गीति-नाटक (lyric drama) अथवा परिष्कृत यात्रा (refined yatra) मानते हैं। पिशेल और लेवी के मतानुसार 'गीतगोविन्द' का स्थान गीति-काव्य और नाटक के बीच का है। पिशेल 'गीतगोविन्द' को संगीत-रूपक (melodrama) भी मानते हैं। किन्तु जयदेव ने 'गीतगोविन्द' को सर्गों में विभाजित किया है। अतः उन्हें अपनी कृति का 'काव्य' के अन्तर्गत ही समावेश इष्ट था। नाटक की भाँति उसमें प्रस्तावना, अंक आदि कहीं नहीं हैं। कुछ लोग उसे शृङ्गार-महाकाव्य की संज्ञा देते हैं। फिर भी 'गीतगोविन्द' को संगीत-नाटक (opera) का एक पूर्व-रूप कहा जा सकता है, जिसका श्रेष्ठ परिपाक १६वीं शताब्दी के श्री तीर्थनारायण स्वामी-कृत 'कृष्णलीलातरंगिणी' में देख पड़ता है।[2] २०वीं शताब्दी की कुमारी मालती अवस्थी के 'राधासन्देश' नामक लघुकाव्य में भी यह भावच्छटा प्रतिबिम्बित है। 'गीतगोविन्द' के पदों के साथ संगीत और नृत्य सम्बन्धी रागों और तालों के नाम भी दे दिये गये हैं। अतः यह सम्भव है कि 'गीतगोविन्द' की रचना करते समय जयदेव की दृष्टि बंगाल में प्रचलित उन यात्रा महोत्सवों की ओर रही हो, जिनमें उनके गीतों का उपयोग नृत्य और संगीत के साथ हो सकता था।

'गीतगोविन्द' में कवि ने काव्यों की परम्परायुक्त रचना-प्रणाली का अनुसरण नहीं किया है। श्लोक, गद्य और गीत—इन तीनों के मिले-जुले प्रयोग द्वारा काव्य में एक अनुपम रचना-माधुर्य का समावेश किया गया है। श्लोक अथवा पाठ्य-पद्य प्रायः वर्णनात्मक प्रसंगों तक ही सीमित हैं, जिनका उपयोग किसी अवस्था-विशेष के चित्रण में दृश्य-वर्णन में अथवा कथा-सूत्र के निर्वाह में किया जाता है। गद्य का यत्र-तत्र प्रयोग विशेषकर उन संवादात्मक प्रसंगों में हुआ है, जिनमें पात्रों की मनोदशा सूचित की गई है तथा गीतों में भावानुभूति की अभिव्यंजना की गई है। इस प्रकार 'गीतगोविन्द' में एक अभिनव रचना-प्रणाली का अनुसरण किया गया है। उसमें वर्णन, गीत, संवाद

१. वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः॥ गी० गो० १।४

२. P. Sambamoorthy : A History of Indian Opera, Krishnaswami Aiyangar Com., Vol. p. 422.

करती है। 'मधुर भाव से भजने वाले भक्त के लिए भगवान् की लीलाएँ ही स्मर्तव्य हैं, उनकी श्रृंगार-चेष्टाएँ, उनकी विलास-लीलाएँ, उनकी प्रेम-गाथाएँ ही गेय हैं।' राधा-कृष्ण के प्रणय के दो अर्थ हो सकते हैं। कृष्ण का राधा के प्रति प्रेम उद्दाम मानवीय प्रेम का ही प्रतीक है। अथवा, श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ क्रीड़ा करना मानो परमात्मा का अगणित जीवात्माओं में रमण करना है, जिसका परिणाम है राधा-प्रेम अर्थात् जीव और आत्मा का अभेद।

'गीतगोविन्द' वस्तुतः एक अनुपम एवं अद्भुत ग्रन्थ है। उसके उद्दाम शृङ्गार-प्रवाह के अन्तस्तल में रहस्यमयी माधुर्य भावना की निगूढ़ धारा भी बह रही है। समग्र संस्कृत साहित्य में इस कोटि की मधुर रचना अन्य कोई नहीं। संस्कृत भारती के सौंदर्य और माधुर्य की पराकाष्ठा का अवलोकन करना हो तो 'गीतगोविन्द' का अनुशीलन करना चाहिये। उसके शब्द-चित्रों मे सौन्दर्य छलक पड़ता है। उसके गीतों का पद-लालित्य अलौकिक माधुर्य का संचार करता है। उसके छन्दों का नाद-सौन्दर्य अपूर्व है। शब्द और अर्थ का सामंजस्य ऐसा मनोमुग्धकारी है कि संस्कृत से अपरिचित व्यक्ति भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उसकी सी कोमल-कान्त-पदावली संसार के साहित्य में दुर्लभ है। दीर्घ समासों मे भी विलक्षण प्रासादिकता एवं स्वर-माधुर्य है। अनुप्रास-प्रयोग में जयदेव अद्वितीय हैं। उनके गीतों में अन्त्यानुप्रास पदों के अन्त में ही नहीं, मध्य में भी देख पड़ता है (अमलकमलदललोचन भवमोचनए)। ललित छन्द और कोमल-कान्त-पदावली का ऐसा कान्त संयोग स्थापित किया गया है कि गीतों के पाठमात्र से सहृदयों के हृदय में तदनुरूप रस का आविर्भाव हो उठता है। शृङ्गार की व्यंजना के लिए यह अनूठी शैली है। उनके गीत कहीं मन्द-मन्थर गति से और कभी वेगपूर्ण धारा में प्रवाहित होते हैं। उनकी शैली के कुछ उदाहरण देखिये। दीर्घ समासों का प्रयोग होने पर भी शैली में रमणीयता और प्रवाह है—

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे॥

कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं—

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगः स्मितशाली॥
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे॥ ध्रुवम्

पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम्।
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपंचमरागम्॥[1]

---

1. चन्दन चर्चित नील कलेवर पीत वसन वनमाली।
केलि चंचला मणि कुण्डल गति स्मितमुख शोभाशाली।

राधिका की सखी उनकी विरह-पीड़ा का कृष्ण के प्रति वर्णन कर रही है—

निन्दति　चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति　खेदमधीरम् ।
व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम् ॥
माधव मनसिजविशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना ।
सा विरहे तव दीना ॥[1]

राधिका को उसकी सखी हरि के समीप जाने को प्रेरित कर रही है। कैसी प्रासादिक, रागात्मक शैली है—

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेशम् ।
न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बमनुसर तं हृदयेशम् ।
धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली ।
गोपीपीनपयोधरमर्दनचंचलकरयुगशाली ।
मुखरमधीरं त्यज मंजीरं रिपुमिव केलिसुलोलम् ।
चल सखि कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं शिथिलय शीलनिचोलम् ॥[2]

भाषा, शैली, भाव और गीति-विन्यास की दृष्टि से 'गीतगोविन्द' गीति-काव्य का मुकुट-मणि है। जयदेव को स्वयं अपनी उत्कृष्ट कला का बड़ा गर्व था। उनका कहना है कि 'संदर्भशुद्धिं गिरां जानीते जयदेव एव।' जयदेव की यह आत्म-प्रशंसा सर्वथा उपयुक्त ही है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥[3]

काम-मोहिता, रूप-गर्विता गोपी जन-कर सोधे,
विलस रहे हैं श्रीहरि आतुर, निरखि, विलासिनि राधे !
कोई पीन पयोधर गोपी युग भुज में बँध जाती,
हरि-गायन के अन्त साथ उठ पंचम स्वर में गाती ।

1. चन्दन और चन्द्र-किरणों से होती अधिक अधीर,
अहिगण गरल समान विमूर्च्छित करता मलय समीर ।
माधव, मनसिज-विशिख भयाकुल तुम में है तल्लीना ।
वह विरह-विदग्धा दीना ॥

2. "रति-सुख-सारे, गति अभिसारे, मदन मनोहर वेशम्"
न कर नितम्बिनि ! गमन-विलम्बम, अनुसर निज "हृदयेशम्"
धीर समीरे यमुना तीरे राज रहे वनमाली,
गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन चंचलकर-युगशाली ।
त्याग मुखर नूपुर सखि ! सत्वर साड़ी नीलि रंग की—
पहिन, चलें इस तिमिर-पुंज में कुंज-ओर, क्यों झिझकी ?

3. यदि हरि-चिन्तन-रस आतुर मन, यदि रति-भाव हुलासे ।
तो मधु कोमलकान्त पदावलि, सुनो, स्वर्ग-सुख भासे ॥
गीतगोविन्द, अनुवादक—विनयमोहन शर्मा

पद-माधुर्य, अनुप्रासों के सुभग सौकर्य, साहित्यिक सौन्दर्य, भाव-प्रवण कवित्व, प्रणय-भावों की सुकुमार व्यंजना तथा सरस और तन्मय भावना में 'गीतगोविन्द' अनुपम एवं अद्वितीय है।

'गीतगोविन्द' की रचना बड़ी लोकप्रिय और प्रसिद्ध सिद्ध हुई है। उस पर लगभग ३५ टीकाएँ लिखी गई हैं। जिस ग्राम में जयदेव ने 'गीतगोविन्द' की रचना की उसका, नाम ही 'जयदेवपुर' पड़ गया। उनके जन्मस्थान में आज भी उनके भक्त पौष शुक्ला सप्तमी को उनकी जयन्ती मनाते है। ११२८ ई० के एक शिलालेख में 'गीतगोविन्द' का एक पद्य उद्धृत किया गया है। १४८८ ई० मे उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्रदेव ने यह आज्ञा निकाल दी थी कि उनके राज्य के सभी नृत्यकार और संगीतज्ञ 'गीतगोविन्द' के ही पद गाया करें। ऐसे लोकप्रिय कवि के लिए 'कविराजराज' की उपाधि सर्वथा संगत है।

'गीतगोविन्द' की रचना कर जयदेव ने संस्कृत में एक नवीन रचना-प्रणाली का सूत्रपात किया। 'गीतगोविन्द' के अनुकरण पर 'अभिनवगीतगोविन्द', 'गीतराघव', 'गीतगंगाधर', 'कृष्णगीता' जैसे अनेक गीतिकाव्यों की रचना हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'गीतगोविन्द' का तदनुरूप सरस पदावली में ब्रजभाषा में अनुवाद किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ

जयदेव के पश्चात् गीतिकाव्य-साहित्य में उल्लेखनीय नाम पंडितराज जगन्नाथ का है। कीथ महोदय ने अपने विपुलकाय संस्कृत साहित्य के इतिहास में जगन्नाथ जैसे प्रखर कवि का उल्लेख नहीं किया, यह आश्चर्य है। पंडितराज जगन्नाथ तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। युवावस्था में वे दिल्ली गये और शाहजहाँ से उन्होंने 'पंडितराज' की उपाधि प्राप्त की। मुगल-दरबार में शायद वे कुछ दिन रहे (**दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः**)। इस प्रकार उनका स्थितिकाल १६५०-८० ई० के लगभग था। कहते हैं कि पंडितराज ने किसी यवन-युवती से विवाह कर लिया था। वृद्धावस्था में जब वे काशी आये, तब अप्पय्य दीक्षित आदि पंडितों ने उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया। इस पर उन्होंने 'गंगालहरी' की रचना की, जिससे प्रभावित हो स्वयं गंगाजी ने उन्हें अपने अंक में स्थान दिया।

उनके रचित ग्रन्थ ये हैं—(१) 'पीयूषलहरी' अथवा 'गंगालहरी' जिसमें गंगा की सुन्दर स्तुति की गई है। (२) 'सुधालहरी' जिसमें ३० पद्यों में सूर्य की स्तुति की है। (३) 'अमृतलहरी' में ११ पद्यों में यमुना की स्तुति है। (४) 'करुणालहरी' में ६०

पद्यों में भगवान् विष्णु की स्तुति है। (५) 'लक्ष्मीलहरी' में ४१ पद्यों में लक्ष्मी की स्तुति है। (६) 'यमुनावर्णन' गद्य-ग्रंथ है, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसके दो उदाहरण 'रसगंगाधर' में दिये गये हैं। (७) 'आसफविलास' में शाहजहाँ के खान-खाना आसफ खाँ की प्रशंसा की गई है। इसके भी केवल दो उद्धरण 'रसगंगाधर' में पाये जाते हैं। (८) 'प्राणाभरण' में कामरूप के राजा प्राणनारायण की प्रशंसा है। (९) 'जगदाभरण' में सम्भवतः उदयपुर के राजकुमार जगतसिंह अथवा दाराशिकोह की प्रशंसा है। (१०) 'चित्रमीमांसाखंडन' में अप्पय्य दीक्षित के 'चित्रमीमांसा' ग्रन्थ के दोषों का विवेचन किया गया है। (११) 'मनोरमाकुचमर्दन' व्याकरण का ग्रन्थ है। भट्टोजी दीक्षित ने अपनी 'सिद्धान्त-कौमुदी' पर जो 'मनोरमा' नामक टीका लिखी है, उसी की यह आलोचना है। (१२) 'रसगंगाधर' पंडितराज जगन्नाथ की सर्वश्रेष्ठ कृति है। अलंकार-शास्त्र का यह एक परम प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसमें पंडितराज के प्रकांड पांडित्य और विलक्षण प्रतिभा का अपूर्ण संयोग देख पड़ता है। खेद का विषय है कि यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। इसकी यह विशेषता है कि उदाहरण के लिए ग्रन्थकार ने स्वरचित पद्य दिये हैं।[1] इन पद्यों का काव्य-माधुर्य एवं सरस पदावली दर्शनीय है।

(१३) 'भामिनीविलास' पंडितराज के मुक्तक गीतात्मक पद्यों का सुन्दर संग्रह है। इसमे चार विलास हैं—प्रास्ताविक-विलास, शृङ्गार-विलास, करुण-विलास तथा शान्त-विलास। इसके पद्य अत्यन्त सरस, सुन्दर, भावपूर्ण एवं चित्त पर सद्यः प्रभाव डालनेवाले हैं। संस्कृत के गीतिकाव्यों में 'भामिनीविलास' का स्थान अत्यन्त महत्त्वमय है। पंडितराज जगन्नाथ की शैली अत्यन्त उदार, मधुर एवं लालित्यमयी है। भर्तृहरि के समान इनका भी शब्द-शोधन अनवद्य और अत्यन्त रुचिर होता है। प्रांजल पद-शय्या, अभिनव विचारधारा तथा सुललित छन्दोमाधुर्य—ये गुण पंडितराज के पद्यों में सर्वत्र देख पड़ते हैं। कुछ उदाहरण देखिये—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला॥ शृ० वि०२२

'एक ओर तट पर तरुणी का सस्मित मुख कमल है, दूसरी ओर जल में खिलता हुआ कमल। इन दोनों कमलों के बीच मकरन्द के लोभी भोले भ्रमरों की पाँत कभी इस ओर और कभी उस ओर चक्कर काट रही है।' नीचे दिये पद्य में कविता और प्रियतमा की कैसी श्लेषपूर्ण तुलना की गई है—

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा
सालंकृतिः श्रवणकोमलवर्णराजिः।

---

[1] निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥

सा मामकीनकवितेव मनोभिरामा
रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति ॥

'श्रुतिकटुत्व आदि दोषों से रहित, माधुर्य आदि गुणों से युक्त, रस एवं भाव से परिपूर्ण, अलंकारों से विभूषित तथा श्रुति-मधुर, सुकुमार वर्णों से सुशोभित मेरी कविता उसी प्रकार मेरे हृदय से दूर नहीं हो सकती, जैसे दुःशीलत्व आदि दोषों से शून्य, दया-दाक्षिण्य आदि गुणों से युक्त, प्रणय और विलास से परिपूर्ण, आभूषणों से अलंकृत तथा सर्वदा मधुर वचन बोलनेवाली मेरी सुन्दरी प्रियतमा।' पंडितराज की अन्योक्तियाँ अनूठी और व्यंग्यपूर्ण हैं। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्लवजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ॥ प्रा० वि०

'भला कहो तो, राजहंसों के जिस सिरताज ने विकसित कमलों के पराग से सुरभित मानसरोवर के निर्मल जल में अपनी आयु के दिन बिताये हों, वही अब मेढकों से खचाखच भरे किसी गँदले ताल में कैसे रह सकता है!'

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मंजु गुंजन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः ॥ प्रा० वि० ३

'ऐ प्यारे खिलनेवाले कमल, तेरे इस छलकते हुए मधुर मकरन्द-रस का आस्वादन करनेवाले ये भौंरे भले ही तेरे आस-पास मँडराते हुए अपनी मधुर गुंजार से तेरी चाटुकारी किया करें, किन्तु सच पूछो तो तेरा सच्चा मित्र यह मलय-पवन है, जो बिना किसी स्वार्थ के ही तेरे सौरभ का दिग्दिगन्त में प्रसार कर रहा है।' पंडितराज की व्यंजना-प्रणाली बड़ी ही मार्मिक, मौलिक और अनुप्रासपूर्ण होती है, उदाहरणार्थ— 'कालिन्दगिरिनन्दिनी तटसुरद्रुमालम्बिनी, मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी', 'आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालसस्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विलासो मम', 'चुलुकयति मदीयां चेतनां चंचरीकः' इत्यादि। पंडितराज ने अपनी कविता के विषय में गर्वोक्तियाँ भी की हैं। उनकी एक गर्वोक्ति देखिये—

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
मदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पंडितपते
रधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवाऽयं पशुपतिः ॥

'वीणापाणि भगवती सरस्वती अपनी वीणा बजाते-बजाते हाथ रोककर जिसकी मधुर वीणा के अमृतमय रस का आकंठ पान करने लगता हैं, उन पण्डितराज के श्रवण-सुभग पद्यों को सुनकर जो व्यक्ति वाह्-वाह करता हुआ सिर न हिलाने लगे, वह वास्तव में या तो पूरा नरपशु है अथवा साक्षात् वीतराग भगवान् शंकर ही।'

सुभाषित-संग्रह

संस्कृत गीति-साहित्य के इतिहास में इन सुभाषित-संग्रहों का भी महत्व है, जिनमें सूक्तियों का संकलन किया गया है। इनमें एक-से-एक सुन्दर गीतात्मक या मुक्तक पद्य भरे पडे हैं। प्राचीनतम उपलब्ध संग्रह हाल-कृत 'गाथा-सप्तशती' है। इसके बाद संस्कृत में भी सूक्तियों का संकलन होने लगा। सबसे प्राचीन संस्कृत सूक्ति-संग्रह 'कवीन्द्ररससमुच्चय' (११०० ई०) है। दूसरा सुभाषित-ग्रन्थ श्रीधरदास-कृत 'सदुक्तिकर्णामृत' (१२०५ ई०) है। सूक्ति-साहित्य का तीसरा ग्रन्थ जल्हण-कृत 'सूक्ति-मुक्तावली' (१३०० ई०) है। चौथा ग्रन्थ 'शाङ्‌र्गधरपद्धति' (१३६२ ई०) है। १६३ वर्गों में विभक्त इस संग्रह में ४६८९ पद्य हैं, जिनमें कुछ शाङ्‌र्गधर के द्वारा रचित हैं। पाँचवाँ वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' (१५०० ई०) है। अन्य प्रमुख सूक्ति-संग्रहों के नाम ये हैं— रूपगोस्वामी (१४८० ई०)-कृत 'पद्यावली', लक्ष्मणभट्ट की 'पद्यरचना' (१६०० ई०), जीवानन्द विद्यासागर-कृत 'काव्यसंग्रह' (१४७७ ई०), निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित 'सुभाषितरत्नभाण्डागार' तथा पूर्णचन्द्रदेव का 'उद्‌भटसागर'। इन सूक्ति-ग्रन्थो का उपयोग केवल यही नही है कि इनमें सुन्दर पद्यों का संकलन किया गया है, उनमें ऐसी अनेक फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं, जो इन ग्रन्थों के अभाव में विस्मृति के गर्त में विलीन हो जातीं। साथ ही कई अज्ञात कवियों का (कस्यचित्कवेः) स्फुट रचनाएँ भी इनमें मिलती हैं।

गीति-काव्य की विशेषताएं

गीति-काव्य संस्कृत साहित्य का परम रमणीय अंग है। संस्कृत के गीति-काव्य मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनों शैलियों में उपलब्ध होते हैं। भर्तृहरि या अमरुक के पद्य मुक्तक हैं, जो संदर्भ आदि बाह्य उपकरणों से मुक्त होकर स्वयं रस-पेशल होते हैं। 'मेघदूत' या 'गीतगोविन्द' प्रबन्धात्मक हैं, जिनमें आद्योपान्त एक ही विषय या कथानक का गीतिशैली में विवेचन रहता है। एक और भी भेद है जिसे हम निबन्धात्मक कह सकते हैं, जैसे 'ऋतुसंहार'। इसके प्रत्येक सर्ग में किसी एक ऋतु को लेकर कई पद्यों में उसका कवित्वपूर्ण वर्णन किया गया है। इन पद्यों में तत्तद्‌ऋतु-विषयक एक-वाक्यता है। प्रत्येक सर्ग का पद्य-समुदाय एक लघु निबन्ध के रूप में माना जा सकता है।

गीति-काव्यों में सुख-दुःख की भाववेगमयी अवस्था-विशेष का गिने-चुने शब्दों में चित्रण किया जाता है, सुख और दुःख की अनुभूति जब तीव्र से तीव्रतम हो जाती है, तब उसी आवेश में उदात्त की अनुदात्त ध्वनियों के सामंजस्य से कवि के कण्ठ से जो शब्द निकल पड़ते हैं, वे ही गीत की संज्ञा पा सकते हैं। उसमें कवि की एक ही भावानुभूति कोमल और मधुर शब्दों के सम्बल के गीति-प्रधान शैली मे अभिव्यक्त होती है। संगीत हृदय की कोमल वृत्तियों का प्रकाश करता है। संस्कृत गीति-काव्यों में गेयता होने के कारण उनमें कवि उन्हीं अनुभूतिमय चित्रों का अंकन करता है, जो पाठक के हृदय पर पूर्ण प्रभाव डाल सकें। गीति-मुक्तक का निर्माणकर्त्ता हृदय की उसी अभिव्यक्ति को व्यक्त करता है, जिसकी अनुभूति पाठकों के अन्तरतम मे प्रवेश कर सके। गीत-काव्य आत्मानुभूति का—मानव-जीवन की मार्मिक घटनाओं का—संगीतात्मक शब्द-चित्र है, कवि-हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का सच्चा उद्गार है।

संस्कृत गीतकार के लिए किसी भाव या विषय की सीमा नही है और न उसके व्यक्तीकरण के कोई बन्धन ही। गीत मे कवि किसी भी भावविशेष को व्यक्त कर सकता है, जिसका उसके हृदय में उद्रेक हुआ है। महाकाव्यों की रूढ़ियाँ उसे आबद्ध नहीं करतीं। किसी कारण 'काव्य की ऊँची-ऊँची हिमालय की चोटियों के बीच गीति-मुक्तक एक सजल कोमल मेघखंड है, जो न उनसे दबकर टूटता है और न बँधकर रुकता है।' इन गीतो में रागात्मक वृत्तियों का विकास होने के कारण जीवन के अनुरंजनकारी चित्र ही अंकित हुए हैं। अधिकतर उनमें प्रसाद और माधुर्य की ही व्यंजना हुई है। उनके वर्ण्य-विषय प्रायः शृङ्गार, नीति, धर्म अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य हैं। वीर, रौद्र अथवा भयानक रस के लिए उनमें स्थान नहीं है। उनका कमनीय गीति-सौन्दर्य किसी वीभत्स घटना अथवा आत्यन्तिक आवेश से आक्रांत नहीं होना चाहिये। उनके छोटे-छोटे गेय पदों में एक ही भाव-विशेष को तीव्रता और सरस, सुस्पष्ट एवं सामञ्जस्यपूर्ण शैली का सहज स्वाभाविक समन्वय देख पड़ता है। भावों की कोमलता, विचारों की शिष्टता, निरीक्षण की नवीनता और कल्पना की चारुता—ये सभी गुण उनमें पाये जाते हैं। कवि-हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का वह सच्चा उद्गार है।

भाव-क्षेत्र में गीतिकार जितना स्वतंत्र है, शब्द-क्षेत्र में उतना ही सीमित 'एक ओर वह स्वतंत्र वातावरण मे उन्मत्त भाव से विचरण करनेवाला विहग है, जो समस्त विश्व को अपने कलरव गान से सिंचित करता रहता है; दूसरी ओर वह अपनी ही लघु सीमा मे जीवन-पर्यन्त विहार करनेवाला पिंजरे में बन्द पक्षी है, जिसे अनेक बंधन आबद्ध किये रहते हैं।' कोमल-कांत पदावली, रमणीय संगीतमय छंद, कमनीय शब्द-विन्यास तथा अलंकारों का सुरुचिपूर्ण विरल प्रयोग गीति-काव्य की सफलता के लिए आवश्यक है। संस्कृत गीति-काव्य इन कसौटी पर खरे उतरते हैं। जैसा सुन्दर और

पेशल उनका आभ्यन्तर रूप है, वैसा ही अभिराम और कमनीय उनका बाह्य-रूप है। उनके छंद बड़े ही श्रुतिमनोहर, गेय, रसपेशल, गीत के अद्‌भुत लालित्य एवं लावण्य से परिपूर्ण तथा पाठक और श्रोता पर सद्यःप्रभाव डालनेवाले हैं। उनकी पदावली बड़ी परिमित, सरस, सुन्दर, सरल तथा मधुर होती है। उनके शब्दों में जो शक्ति है, उनकी लय मे जो संतरण है, उनके स्वरों में जो सामंजस्य है, कहीं अधिक है।

संस्कृत गीति-काव्यों में रमणी-सौन्दर्य का स्निग्ध चित्रण किया गया है। कहीं शृङ्गार करती हुई कला-प्रवीण सुन्दरी का, कहीं यौवन की अभिनय छटा छिटकाती हुई मुग्ध ग्राम-वधू का, कही मानिनी के सरोष भ्रूभङ्ग का और कहीं विरहिणी के म्लान मुखचन्द्र का रमणीय सौंदर्य अंकित है। रमणी के बाह्य-सौन्दर्य के साथ ही उसके अंतः-सौन्दर्य का भी चारु चित्रण हुआ है। संस्कृत गीति-कविता केवल वस्तुओ के रूप-रंग में ही सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यंत मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुखमण्डल आदि का सौन्दर्य मन में लाती है, उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष आदि का सौन्दर्य भी मन में जमाती है। 'इन गीतों में कहीं प्रेम की मन्दाकिनी बह रही है तो कहीं करुण-रस की फल्गु-धारा; कही जीवन के उल्लासमय संगीत हैं तो कहीं विरह के मर्मोच्छ्‌वास।' गीत का सम्बन्ध हृदय की कोमल वृत्तियों के साथ होने के कारण हमे उसमें सुख-दुःख और हर्ष-विषाद का संकेत मिलता है। कहीं वह अपने अश्रु-कणों से सजलता ला देता है और कही अपने हास्य से उज्ज्वल और निर्मलता।

कहा जाता है कि संस्कृत गीति-काव्य में चित्रित प्रेम प्रायः इन्द्रियजन्य या वासना-ग्रस्त है। उसमे नारी केवल उपभोग की वस्तु मानी गई है और पुरुष उसके कटाक्षों का क्रीतदास मात्र। पाश्चात्य आलोचक इस प्रेम मे अश्लीलता की गंध भी पाते हैं। किन्तु यह आलोचना एकांगी, अतिरंजित और अनुचित है। गीति-काव्यों के समुचित अध्ययन से यह सिद्ध है कि उनमें पुरुष, स्त्री के बाह्य-सौन्दर्य पर जितना मुग्ध है, उससे कहीं अधिक वह उसके अंतःसौन्दर्य पर अनुरक्त है। नारी के हृदय में प्रणय का अजस्र स्रोत बह रहा है, इस सत्य की अभिव्यक्ति सभी गीति-काव्यो में हुई है। कुल-वधुएँ अपना हृदय जिसे समर्पित कर चुकी हैं, उसका बाह्य रूप उनके लिए कोई महत्त्व नही रखता—

यथा यथा जरापरिणतो भवति पतिर्दुर्गतोऽपि विरूपोऽपि।
कुलपालिकानां तथा तथाधिकतरं वल्लभो भवति॥ गा० स०

स्त्री के व्यक्तित्व को, नारी के अंतःसौन्दर्य को हृदयंगम करने में गीति-काव्य विशेष सहायक है। उनके अनुशीलन से हमारे हृदय में स्त्रियों के प्रति सम्मान की नई भावना जाग्रत होती है।

संस्कृत गीति-काव्यों में शृङ्गार-भावना अत्यन्त परिष्कृत एवं संस्कृत रूप में हमारे सामने आती है। शारीरिकता की उसमें स्वीकृति है, पर वह शरीर की प्रकृति भूख नहीं है। उसमें मन की कोमल सौन्दर्य-वृत्तियों को ही अधिक मूल्य दिया गया है। गीति-काव्य वास्तव में रूप और रस की मधुर कोमल भावनाओं से समृद्ध एक ललित काव्य है, जिसमें शृङ्गार-रस शरीर की आवश्यकता न होकर मन का विलास है। इसीलिए उसमें तीव्रता एवं उत्कृष्टता के स्थान पर माधुर्य और मसृणता मिलती है। 'मेघदूत' की यक्ष-पत्नी, 'सप्तशती' की ग्राम-तरुणियाँ, 'गीतगोविन्द' की राधिका आदि रस-सृष्टियाँ ही हैं, जिनमें हमारे मन की सौन्दर्य चेतनाएँ मूर्तिमती हो गई हैं। वैभव, विलास और कल्पना के शत-शत रंगों के स्पर्श से इस शृङ्गार में भारतीय रोमानी भाव का अतिशय परिष्कृत लावण्य मिलता है। शोभा, श्री, कांति और सुकुमारता का ऐसा अपूर्व मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

गीति-काव्यों में प्रकृति-चित्र का प्रमुख स्थान है। बाह्य-प्रकृति और अन्तः-प्रकृति इन दोनों के पारस्परिक प्रभाव का बड़ा सजीव वर्णन गीति-काव्यों में हुआ है। प्रकृति के दृश्यों पर मानवीय मनोविकारों का आरोप भी किया है। विप्रलम्भ और सम्भोग दोनों अवस्थाओं में प्रकृति मानव के प्रति प्रायः समवेदनाशील चित्रित की गई है। मानवीय सौन्दर्य को प्रकृति द्विगुणित कर देती है—प्रेमिका के सौन्दर्य की छटा को चारुतर बना देती है। भारतीय साहित्य में प्रकृति रमणी-सौन्दर्य पर इतनी मुग्ध मानी गई है कि वह उसके स्पर्शमात्र से पुलकित हो उठती है। सच पूछिये तो इसी भाव की व्यंजना उस परम्परागत 'कवि-समय' (Poetic traditions) में की गई है, जिसके अनुसार नायिका के पाद-स्पर्श से अशोक विकसित हो उठता है, कटाक्षमात्र से तिलक-वृक्ष खिल उठता है और आलिंगनमात्र से कुरबक कुसुमित हो जाता है—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिंगनाभ्याम्।
मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवातात्
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः॥

इस अध्याय में जिन गीति-काव्य के कवियों का विवेचन हुआ है, उनकी नामावली इस प्रकार है—

अग्रिमः कालिदासः स्यात् तदा स्यात् घटकर्परः।
हालभर्तृहरी स्याताम् तथाऽमरुकबिल्हणौ॥
धोयीगोवर्धनाचार्यौ जयदेवस्तथैव च।
जगन्नाथश्च प्रख्याता दशैते गीतिकारकाः॥

आख्यान-साहित्य

विश्व-साहित्य में भारत के आख्यान-साहित्य का अत्यन्त महत्त्वमय स्थान है। मौलिकता, रचना-नैपुण्य तथा विश्व-व्यापक प्रभाव की दृष्टि से वह अनुपम और अद्वितीय सिद्ध हो चुका है। भारतीय लोक-साहित्य के परिज्ञान के लिए भी संस्कृत आख्यानों का अनुशीलन परमावश्यक है। इन आख्यानों में नाटक या महाकाव्यों की भाँति प्रख्यात पौराणिक अथवा ऐतिहासिक पात्रों या कथानकों का उपयोग नहीं हुआ है। इन आख्यानों मे शुद्ध काल्पनिक जगत् का चित्रण किया गया है। उनमे कही कुतूहल है, कहीं घटना-वैचित्र्य है, कहीं हास्य विनोद है, कहीं गंभीर उपदेश है और कहीं सरस काव्य की मधुर झलक भी है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी हमारे आख्यान-साहित्य की मौलिकता एवं मनोरंजकता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

संस्कृत आख्यान-साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—नीतिकथा (Didactic Tale) और लोक-कथा (Popular Tale)।

नीति-कथा

संस्कृत साहित्य में स्थल-स्थल पर आदर्श या उपदेश की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। काव्यो और नाटकों में ऐसे अनेक पद्य मिलते हैं, जिनमें सूक्तियों के रूप में नीति या सदाचार का उच्च आदर्श उपस्थित किया गया है। इसी उपदेशात्मक प्रवृत्ति का मनोरंजनकारी परिपाक नीति-कथाओं में हुआ है। नीति-कथाओं का उद्देश्य रोचक कहानियों द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की बातों का उपदेश देना है। यह उपदेश मोक्ष या अध्यात्म-विद्या से सम्बन्ध नहीं रखता। नीति-कथाओं का प्रतिपाद्य विषय सदाचार, राजनीति और व्यावहारिक ज्ञान है। दैनिक जीवन में सफलता और उन्नति प्राप्त करने के लिए जिन-जिन बातों का पद-पद पर ध्यान रखना आवश्यक है और जिनके न जानने से मनुष्य अनायास ही धूर्तों के चक्कर में फँस सकता है, उन्हीं बातों का उपदेश नीति-कथाओं में दिया गया है। पशु-पक्षियों की रोचक कहानियों के रूप मे सदाचार और राजनीति के गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्त बड़ी सरलता से समझा दिये गये हैं। इन मनोरंजक कहानियों की सहायता से सुकुमार-मति बालक भी अनायास ही इन सिद्धान्तों को हृदयंगम कर सकते हैं। इनमें पशु-पक्षी मनुष्यों के समान ही सारे कार्य करते हैं। मनुष्यों की भाँति वे बोलते हैं, मनुष्यों सरीखे व्यवहार करते हैं और मनुष्यों के समान ही आपस में प्रेम, कलह, युद्ध या सन्धि भी करते है।

नीति-कथाएँ जहाँ नीति-शास्त्र का ज्ञान कराती हैं, वहाँ वे संस्कृत भाषा की सरल एवं रोचक शैली का आदर्श भी उपस्थित करती हैं। उनकी भाषा अत्यन्त सरल और शैली अत्यन्त रोचक है। कहानी का वर्णन प्रायः गद्य मे होता है, किन्तु उससे मिलनेवाली शिक्षा या नैतिक उपदेश का संकलन पद्य में किया जाता है। कहानी के बीच में भी जहाँ-तहाँ पद्यों का समावेश देख पड़ता है। जब कोई पात्र कोई गम्भीर या पते की बात कहता है, तब उस पर जोर देने के लिए वह पद्य का प्रयोग करता है। चुभते हुए मुहावरे अनूठी लोकोक्तियाँ और रोचक दृष्टान्त सर्वत्र भरे पड़े हैं। नीति-कथाओं की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें एक प्रधान कथा के अन्तर्गत कई गौण कथाओं का भी समावेश होता है। मुख्य कथा के पात्र अपनी बात के समर्थन मे बीच-बीच में अनेक उप-कथाएँ कहने लगते हैं।

भारतीयों का जीवन प्रकृति-जीवन से इतना घुला-मिला था कि पशु-पक्षियों के उदाहरण द्वारा बालकों को व्यावहारिक उपदेश देने की प्रथा वैदिक काल से ही चली आई है। मनुष्य और मछली की एक कथा 'ऋग्वेद' में पाई जाती है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में दृष्टान्त के रूप में उद्गीथ-श्वान का आख्यान वर्णित है। 'रामायण' में कुछ नीति-कथाओं का संक्षिप्त उल्लेख या उपमाओं द्वारा संकेत किया गया है। पुराणों में तो अनेक नीति-कथाएँ वर्णित हैं। 'महाभारत' में विदुर के मुख से कई नीति-कथाएँ कहलाई गई हैं। तृतीय शताब्दी ई० पू० के भारहुत (Bharhut) स्तूप पर कई नीति-कथाओं के नाम खुदे हुए हैं।[१] पतञ्जलि (१५० ई०) ने अपने महाभाष्य' में 'अजाकृपाणीय' और 'काकतालीय' जैसी लोकोक्तियों का प्रयोग तथा साँप और नेवले, कौए और उल्लू की जन्मजात शत्रुता का उल्लेख किया है। जैनों और बौद्धों ने भी अनेक नीति-कथाएँ रचीं। बौद्धों का 'जातक' नामक कथासंग्रह ३८० ई० पू० के लगभग विद्यमान था। इसके अतिरिक्त ६६८ ई० के एक चीनी विश्व-कोष में कई भारतीय कथाओं का अनुवाद उपलब्ध होता है। ये कथाएँ, जैसा कि उक्त विश्व-कोष में निर्दिष्ट है, २०० बौद्धग्रंथों से ली गई हैं।[२] इन सब प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट है कि ईसा के पूर्व भारत में नीति-कथाओं का पर्याप्त प्रचार था।

पंचतन्त्र—'पंचतन्त्र' संस्कृत नीति-कथा-साहित्य का अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें नीति की बड़ी मनोहर शिक्षाप्रद कहानियाँ हैं। बीच-बीच में निष्कर्षमय पद्यों का भी सन्निवेश हुआ है। यह कहना कठिन है कि इस ग्रंथ की रचना कब हुई, क्योंकि अपने मूल रूप में यह पुस्तक उपलब्ध नहीं होती। बादशाह

---

१. Macdonell : India's Past, p. 117.
२. Macdonell : Sanskrit Literature, p. 369.

खुशरू अनूशेरवाँ (५३१-५७८ ई०) के हुक्म से पहलवी भाषा में 'पंचतन्त्र' का प्रथम अनुवाद किया गया था। यह पहलवी अनुवाद भी उपलब्ध नहीं है; हाँ, उनके आसुरी (Syriac) और अरबी रूपांतर प्राप्त हैं, जिनके नाम क्रमश: 'कलिलग और दमनग' (५७० ई०) और 'कलीलह औन्द दिमनह' (७५० ई०) हैं। इन नामों से यह प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी में मूल 'पंचतन्त्र' का नाम कदाचित् 'करटक और दमनक' ही रहा हो, क्योंकि इसी नाम के दो सियारों का वर्णन 'पंचतन्त्र' की पहली पुस्तक में आया है।

उपर्युक्त अनुवादों से मूल 'पंचतन्त्र' के समय-निर्धारण में सहायता मिलती है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि ५५० ई० (जो पहलवी अनुवाद का समय है) के कई सौ वर्ष पहले से 'पंचतन्त्र' भारत में प्रसिद्ध हो चुका था। 'पंचतन्त्र' मे चाणक्य का उल्लेख है, अत: उसकी रचना ३०० ई० पू० के पश्चात् ही हो सकती है। 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' का भी प्रभाव उस पर स्पष्ट देख पड़ता है। 'अर्थशास्त्र' का रचना-काल पाश्चात्य विद्वान् द्वितीय शताब्दी के लगभग मानते हैं। 'दीनार' शब्द के प्रयोग से भी 'पंच-तन्त्र' की रचना ईसा के बाद की सिद्ध होती है।[१] ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि ईसा की द्वितीय शताब्दी के आसपास राजसभाओं से संस्कृत को प्रधानता मिलने लगी थी। राजकार्य में संस्कृत-भाषी ब्राह्मणों का प्रधान स्थान हो गया था। अत: ऐसे ग्रंथों की आवश्यकता पड़ी जो संस्कृत का बोध कराने के साथ-साथ राजनीति की भी शिक्षा दे सकें। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर 'पंचतन्त्र' की रचना हुई थी। गुप्तवंश का शासन-काल ब्राह्मणों और संस्कृत-साहित्य के अभ्युदय का समय था। अत: 'पंचतन्त्र' का रचना-काल ३००ई० के लगभग माना जा सकता है।

'पंचतन्त्र' अपने मूल-रूप में उपलब्ध नहीं है, पर उसके कई परिवर्तित संस्करण प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर मूल ग्रंथ की भाषा, शैली और विषय का आभास मिलता है—(१) 'पंचतन्त्र' के अप्राप्य पहलवी अनुवाद से अनूदित आसुरी और अरबी संस्करणों से 'पंचतन्त्र' के मूल संस्कृत रूप का अनुमान हो सकता है। (२) 'पंचतन्त्र' के उत्तर-पश्चिमी भारतीय संस्करण का उपयोग गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' में हुआ था, जो अब सोमदेव के 'कथा-सरित्सागर' (१०३० ई०) में प्रस्तुत है। इसमें 'पंचतन्त्र' के पाँचों भाग सुरक्षित हैं, पर बीच-बीच में विषयांतर की बहुलता देख पड़ती है। (३) 'तंत्राख्यायिका' (३०० ई०) में मूल ग्रन्थ का रूप बहुत-कुछ सुरक्षित है। इसके दो कश्मीरी संस्करण भी पाये जाते हैं। (४) 'पंचतन्त्र' के जिस संस्करण का भारत में सर्वाधिक प्रचार है, उसे पाश्चात्य विद्वानों ने सरल संस्करण (textus simplicior) का नाम दिया है। (५) 'पंचतन्त्र' का एक दक्षिण भारतीय संस्करण

१. Keith . HSL, p. 248.

भी मिलता है, जो भारवि (६०० ई०) के बाद का है। इसमें 'पंचतन्त्र' की कथाएँ संक्षिप्त करके दी गई हैं। (६) पूर्णभद्र जैन के संस्करण (११९८ ई०) में २१ नई कथाएँ पाई जाती हैं। इसकी भाषा में कहीं-कहीं गुजराती और प्राकृत रूप पाये जाते हैं। (७) १६६० ई० में मेघ विजय ने 'पंचतन्त्र' के उपलब्ध संस्करणों के आधार पर 'पंचाख्यानोद्धार' की रचना की। (८) एक नेपाली संस्करण में 'पंचतन्त्र' के केवल पद्य दिये गये हैं। इस प्रकार 'पंचतन्त्र' कोई सामान्य ग्रन्थ न होकर एक विपुल साहित्य का प्रतिनिधि है।

उपर्युक्त सभी संस्करण 'पंचतन्त्र' के मूल रूप के रूपान्तर हैं। इनके आधार पर आधुनिक विद्वान् एफ० एडगर्टन द्वारा सम्पादित 'पंचतन्त्र' का संस्करण सबसे अधिक प्रामाणिक और प्राचीनतम रूप का परिचायक माना जाता है।

'पंचतन्त्र' की रचना का मूल उद्देश्य राजकुमारों को नीति-शास्त्र में निपुण बनाना था। महिलारोप्य के राजा अमरशक्ति एक ऐसे योग्य शिक्षक की खोज में थे, जो उनके तीन मूर्ख पुत्रों को अल्पकाल ही में योग्य बना दे। तब विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण ने इस बात का बीडा उठाया और पंचतन्त्र की रचना करके छः महीने में ही उन राजकुमारों को नीति-शास्त्र में पारंगत बना दिया।

यद्यपि 'पचतन्त्र' के प्राचीनतम अनुवाद से ज्ञात होता है कि आरम्भ में इसके बारह भाग रहे होंगे,[१] किन्तु वर्तमान 'पंचतन्त्र' मे केवल पाँच तन्त्र या भाग हैं— मित्र-भेद, मित्र-लाभ, सधि-विग्रह, लब्ध-प्रणाश तथा अपरीक्षाकारित्व या अपरीक्षित-कारकम्। प्रत्येक भाग मे मुख्य कथा के अंतर्गत कई गौण कथाएँ आई हैं। उसमें पशु-पक्षी, सदाचार, नीति और लोक-व्यवहार के विषय मे बातचीत करते हैं तथा धर्म-ग्रन्थों के सूक्ष्म विषयों पर विचार-विनिमय करते हैं। लेखक की विनोदप्रियता सर्वत्र समान रूप से देख पड़ती है। बाघ की खाल ओढ़े गधे का चाँदनी रात में गाना गाने के लिए उतावला होना, अपने मित्र शृगाल की शंकाओं का समाधान करने के लिए संगीत-शास्त्र की महत्ता पर वक्तृता देना और अन्त मे पुरस्कारस्वरूप पीठ-पूजा पाना बड़ा ही विनोदपूर्ण है। ब्राह्मणों के लोभ और पाखण्ड, चाटुकारों की कपट-वृत्ति तथा त्रिया-चरित्र मानवीय दोषों का व्यंग्यपूर्ण उद्घाटन भी किया गया है।

'पंचतन्त्र' की शैली सरल और मुहावरेदार है। भाषा विषय के सर्वथा अनुरूप है। मुख्यतः बालकों के लिए रचित होने के कारण उसका गद्य अत्यंत सुबोध है, समास बहुत कम या छोटे-छोटे हैं, वाक्य-विन्यास मे किसी प्रकार की दुरूहता नहीं है। कथानक का वर्णन गद्य में किया गया है, पर उपदेशात्मक सूक्तियाँ पद्य में निहित हैं। ये पद्य कई प्राचीन ग्रंथों से लिये गये हैं। 'महाभारत' तथा पाली 'जातक-संग्रह' से भी

१. Macdonell : Sanskrit Literature, p. 370.

अनेक पद्य लिये गये हैं। लेखक की कुशलता इन पद्यों के चुनने में तथा उनको कथानक में यथास्थान निपुणतापूर्वक बैठाने में है।

'पंचतन्त्र' की कथाओं का प्रचार विश्वव्यापी हुआ है। 'बाइबल' के बाद संसार की सबसे अधिक प्रचलित पुस्तक "पंचतन्त्र' ही है। भारत के बाहर लगभग पचास भाषाओं मे 'पंचतन्त्र' के २५० विविध संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में ही उसकी कुछ कहानियों का प्रचार रोम और ग्रीस जैसे सुदूर देशों में हो चुका था। ग्रीस के प्राचीन कहानीकार ईसप की कई कहानियों पर 'पंचतन्त्र' का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है।

हितोपदेश : नारायण पण्डित—नीति-कथाओं में 'पंचतन्त्र' के बाद 'हितोपदेश' का ही नाम आता है। 'हितोपदेश' के रचयिता नारायण पण्डित थे, जिनके आश्रयदाता बंगाल के कोई धवलचन्द्र राजा थे। 'हितोपदेश' की एक पांडुलिपि १३७३ ई० की पाई गई है, अतः उसकी रचना १४वीं शताब्दी के पूर्व ही हो चुकी थी। 'हितोपदेश' की रचना बहुत कुछ 'पंचतन्त्र' के ही आधार पर हुई है। उसकी प्रस्तावना में यह बात स्वीकार भी की गई है—'पंचतन्त्रात्तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते।' 'हितोपदेश' की ४३ कथाओं में से २४ तो 'पंचतन्त्र' से ही ली गई है। 'हितोपदेश' के चार परिच्छेद हैं—मित्र-लाभ, सुहृद्‌भेद, विग्रह और संधि। प्रथम दो परिच्छेद प्रायः 'पंचतन्त्र' से ही लिए गये हैं। 'हितोपदेश' में 'पंचतन्त्र' की अपेक्षा पद्यों की संख्या अधिक है। कहीं-कहीं इन पद्यों का इतना बाहुल्य हो गया है कि कथा-प्रवाह में व्याघात-सा पड़ जाता है। इन पद्यों मे से कई 'कामन्दकी-नीतिसार' से लिये गये हैं। ये पद्य अत्यन्त उपदेशपूर्ण कंठाग्र करने योग्य हैं। भारत में 'हितोपदेश' का पठन-पाठन 'पंचतन्त्र' की अपेक्षा अधिक है। संस्कृत सीखनेवाले विद्यार्थियों को पहले प्रायः 'हितोपदेश' ही पढ़ाया जाता है। उसकी भाषा सरल और सुबोध है। 'हितोपदेश' के दो उपदेशपूर्ण पद्य यहाँ दिये जाते हैं—

> व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं
> वध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलात्मत्स्याः समुद्रादपि।
> दुर्नीतं किमिहास्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः
> कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि॥

'आकाश में स्वच्छंद विहार करनेवाले पक्षी भी विपत्ति में पड़ ही जाते हैं; समुद्र के अगाध जल में रहनेवाली मछलियाँ भी चतुर मछुओं के जाल में फँस ही जाती हैं। इस संसार में क्या पाप है और क्या पुण्य; किसी स्थान-विशेष की प्राप्ति से कोई लाभ नहीं। मृत्यु अपने विपत्ति-रूपी हाथ फैलाकर दूर से भी अपने शिकार को पकड़ ही लेती है।'

पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम् ।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ॥

लोक-कथा

उपदेश-प्रधान नीति-कथाओं के अतिरिक्त मनोरंजनात्मक लोककथाओं का भी अस्तित्व संस्कृत साहित्य में पाया जाता है। नीति-कथाओं की विशेषताएँ लोक-कथाओं में भी देख पडती हैं, किन्तु दोनों में प्रधान अंतर यह है कि नीति-कथाएँ उपदेश-प्रधान होती हैं और लोक-कथाएँ मनोरंजन-प्रधान। साथ ही, लोक-कथाओं के पात्र पशु-पक्षी न होकर प्रायः मनुष्य ही होते हैं।

बृहत्कथा—लोक-कथाओं का प्राचीनतम संग्रह गुणाढ्य-कृत 'बृहत्कथा' है। ब्यूलर के मतानुसार 'बृहत्कथा' प्रथम या द्वितीय शताब्दी ईस्वी की कृति है। मूल 'बृहत्कथा', जो पैशाची प्राकृत में थी और जिसमें एक लाख पद्य थे, अब उपलब्ध नहीं है। अब उसके तीन संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर मात्र पाये जाते हैं। मूल कृति गद्य में थी या पद्य में, इस विषय में मतभेद है। कश्मीर की जनश्रुति के अनुसार 'बृहत्कथा' श्लोकबद्ध थी, किन्तु 'काव्यादर्श' में दण्डी ने उसको गद्यात्मक बताया है।[1] गुणाढ्य ने अपने समय की प्रचलित अनेक लोक-कथाओं को संगृहीत कर 'बृहत्कथा' की रचना की थी। उसका नायक महाराज उदयन का राजकुमार है, जिसकी रानी मदनमंजूषा को मानसवेग हर ले जाता है। गोमुख नामक विश्वासपात्र मंत्री की सहायता से राजकुमार उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। यही 'बृहत्कथा' की मूल कथा-वस्तु है।

जिस प्रकार नीति-कथाओं में 'पंचतन्त्र' का स्थान सर्वोपरि है, उसी प्रकार लोक-कथाओं में 'बृहत्कथा' का स्थान अग्रगण्य है। 'रामायण' और 'महाभारत' के समान 'बृहत्कथा' भी भारतीय साहित्य की एक अपूर्व निधि थी।[2] उसकी कथाओं के आधार पर संस्कृत के कई ग्रन्थों का निर्माण हुआ। कवियों और नाटककारों के लिए गुणाढ्य ने प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की है। भास और हर्ष द्वारा उदयन और वासवदत्ता की कथाएँ तथा शूद्रक के 'मृच्छकटिक' के प्रमुख पात्र 'बृहत्कथा' से ही लिए गये हैं। 'बृहत्कथा' अपने समय में अत्यन्त लोकप्रिय रही होगी। दण्डी[3] और सुबन्धु[4] ने अपने ग्रन्थों में उसका सादर उल्लेख किया है। ९वीं शताब्दी के कम्बोडिया (प्राचीन चम्पा

---

१. काव्यादर्श १।२३, ३८
२. श्रीरामायणभारतबृहत्कथानां कवीन् नमस्कुर्मः ।
त्रिस्रोता इव सरसा सरस्वती स्फुरति यैर्भिन्ना ॥ आर्यासप्तशती
३. भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्—काव्यादर्श १।३८
४. 'बृहत्कथालम्बैरिव सालभंजिकानिवहैः'—वासवदत्ता

नगरी) के एक शिलालेख में गुणाढ्य का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।[1] 'दशरूपक' के रचयिता धनंजय (१००० ई०) ने 'बृहत्कथा' को 'रामायण' और 'महाभारत' के समान ही सुविख्यात माना है।[2] त्रिविक्रमभट्ट (९१५ ई०) ने अपने 'नलचम्पू'[3] में और सोमदेव (९५९ ई०) ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में उसकी प्रशंसा की है। गोवर्धनाचार्य (१२०० ई०) ने 'आर्यासप्तशती' में गुणाढ्य को व्यास का मूर्तिमान् अवतार माना है।[4] बाण ने 'बृहत्कथा' को हरलीला के समान बताया है—

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा ॥ हर्षचरित

सोड्ढल ने अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' में 'बृहत्कथा' की लोकप्रियता की इस प्रकार प्रशंसा की है—

कविर्गुणाढ्यः स च येन सृष्टा बृहत्कथा प्रीतिकरी जनानाम्।
सा संविधानेषु सुसन्धिबन्धैर्निपीड्यमानेव रसं प्रसूते ॥

'बृहत्कथा' के निम्नलिखित संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध होते हैं—(१) नेपाल के बुद्धस्वामी-कृत 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' का समय ८वीं या नवीं शताब्दी में माना गया है। इसके कुछ ही अंश उपलब्ध हुए हैं, जिनमें २८ सर्ग और ४,५२४ श्लोक हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में १०० से अधिक सर्ग और लगभग २५,००० श्लोक अवश्य रहे होंगे। उसकी भाषा में कहीं-कहीं प्राकृत रूप भी पाये जाते हैं, जो सम्भवतः मूल ग्रन्थ से लिये गये होंगे। (२) 'बृहत्कथामञ्जरी' (१०३७ ई०) के रचयिता क्षेमेन्द्र कश्मीर के राजा अनंत (१०२८-१०६४ ई०) के आश्रित कवि थे। इसमें ७,५०० श्लोक हैं। यह 'बृहत्कथा' का ही संक्षिप्त रूप है। इसकी भाषा तथा कथानक में स्पष्टता की मात्रा कम है। (३) 'बृहत्कथा' संक्षिप्त संस्करणों में सोमदेव भट्ट-कृत 'कथासरित्सागर' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। सोमदेव भी कश्मीर के राजा अनन्त तथा क्षेमेन्द्र के समकालीन थे। 'कथासरित्सागर' की रचना १०३७ ई० के लगभग हुई। इसमें २४,००० श्लोक हैं। संसार में इसके अतिरिक्त अन्य कोई इतना प्राचीन और इतना विशाल कथा-संग्रह नहीं है। कथानक की सृष्टि में सोमदेव ने बड़ी कुशलता दिखाई है। कथा की योजना करते समय रस का भी ध्यान रखा गया है।

---

१. पारदस्थिरकल्याणो गुणाढ्यः प्राकृतप्रियः।
अनीतिर्यो विशालाक्षः शूरोऽप्यकृत भीमकः ॥
२. 'रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च'—दशरूपक १।६८
३. 'धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः'—नलचम्पू
४. अतिदीर्घजीविदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त।
कैर्नोच्येत गुणाढ्यः स एव जन्मान्तरापन्नः ॥—आर्यासप्तशती

'बृहत्कथा' के दो तमिल संस्करण भी पाये जाते हैं।[1] मूल 'बृहत्कथा' का समय नई खोज से ७८ ई० सिद्ध हुआ है।[2]

'बृहत्कथा' तथा उसके रूपान्तरों के अतिरिक्त संस्कृत में और भी अनेक कथा-संग्रह प्राप्त होते है। 'वेतालपंचविंशतिका' में २५ कहानियों का संग्रह है। इसके शिवदास (१२०० ई०) तथा जंभलदत्त-कृत दो संस्करण मिलते हैं। शिवदास की कृति गद्य-पद्य में है तथा जंभलदत्त की केवल गद्य में। 'वेतालपंचविंशतिका' की कथाओं का मूल-रूप 'बृहत्कथामजरी' और 'कथासरित्सागर' में पाया जाता है। 'वेतालपंचविंशतिका' मे एक भूत उज्जैन के राजा विक्रमादित्य से पहेलियों के रूप में २५ कहानियाँ कहता है। ये कहानियाँ अत्यन्त मनोरंजक हैं। एक राजकुमारी का विवाह उसके तीन प्रेमियों में से किससे किया जाय, जब कि उन तीनों ने मिलकर उसे एक राक्षस के पंजे से छुड़ाया है ? इसी प्रकार के प्रहेलिकामय प्रश्नों के रूप में पच्चीस कौतूहलमय कहानियों का इसमें उल्लेख है।

'सिंहासन-द्वात्रिंशिका' अथवा 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' अथवा 'विक्रमचरित' भी एक मनोरंजक कहानी-संग्रह है। इसके केवल गद्यमय, केवल पद्यमय और गद्य-पद्यमय ये तीन संस्करण पाये जाते हैं। इनकी प्रत्येक कहानी में धारा के राजा भोज का उल्लेख हुआ है। अतः इनकी रचना भोज (१०१८-१०६३ ई०) के बाद ही हुई होगी। 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका' में राजा विक्रम के सिंहासन की ३२ पुतलियाँ राजा भोज से एक-एक कहानी कहकर उड़ जाती हैं। पर 'वेतालपंचविंशतिका' की भाँति इन कहानियों का बुद्धि-विलास उतना उत्कृष्ट नहीं।

उपर्युक्त दोनों कहानी-संग्रहों की अपेक्षा 'शुक-सप्तति' अधिक लोकप्रिय और रोचक है। इसके तीन संस्करण उपलब्ध होते हैं। इसके कर्ता के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। इसकी रचना १४वीं शताब्दी के पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि उसी समय इसका एक अनुवाद फारसी में हुआ था। 'शुक-सप्तति' में ७० कहानियाँ संगृहीत हैं। मदनसेन नामक युवक अपनी पत्नी पर अत्यधिक अनुरक्त है। कार्यवश उसे बाहर जाना पड़ता है। उसकी पत्नी की वियोगजन्य पीड़ा को दूर करने के लिए एक शुक उसे प्रत्येक रात को एक-एक मनोरंजक कहानी सुनाता है। इस प्रकार ७० कहानियों में ७० दिन व्यतीत हो जाते हैं और अन्त में मदनसेन लौट आता है।

अन्य प्रसिद्ध कथा-संग्रहों में. ये.प्रमुख हैं—१५वीं शताब्दी के प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति ने 'पुरुष-परीक्षा' की रचना की, जिसमें ४७ नैतिक और राजनीतिक

१. S. Somasundara Desikar : Tamil Versions of Brahatkatha, Krishnaswami Aiyangar Com. Vol., pp. 352-53

२. भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न, पृ० ४०

कहानियाँ हैं। शिवदास-कृत 'कथार्णव' में चोरों और मूर्खों की ३५ कथाएँ हैं। १६वीं शताब्दी के बल्लालसेन-विरचित 'भोजप्रबन्ध' में संस्कृत के महाकवियों की अनेक रोचक दन्तकथाएँ दी गई हैं। कई पाश्चात्य कथा-संग्रहों का भी संस्कृत में अनुवाद हो चुका है। जगद्बन्धु पण्डित ने प्रसिद्ध अरबी कथा 'सहस्ररजनीचरित' (Arabian Nights) 'आरब्ययामिनी' के नाम से अनुवाद किया है। नारायण बालकृष्ण-कृत 'ईसबनीति-कथा' में ईसप की कहानियों (Aesop's Fables) का अनुवाद है। पण्डित रामशरण शास्त्री-कृत 'कौमुदी कथा-कल्लोलिनी' भी 'बृहत्कथा' के आधार पर लिखी गई। वैयाकरण प्रयोग प्रधान रचना है जो चौखम्भा प्रेस, वाराणसी से मुद्रित हुई है।

बौद्धों के कथा-संग्रह 'अवदान' नाम से प्रख्यात हैं। इनमें सबसे प्राचीन उपलब्ध संग्रह 'अवदानशतक' है। आर्यशूर-कृत संस्कृत 'जातकमाला' चौथी शताब्दी की रचना है। जैन कथा-संग्रहों में उल्लेखनीय हेमचन्द्र (१०८८ ई०) रचित 'परिशिष्ट-पर्वन्' है।

संस्कृत आख्यान-साहित्य का व्यापक प्रभाव

संस्कृत कथा-कहानियों का संसार में इतना अधिक प्रचार हुआ कि वे विश्व-साहित्य का एक अंग बन गईं। संस्कृत आख्यान-साहित्य का यह विश्वव्यापी प्रसार संसार के साहित्य का एक विस्मयोत्पादक एवं रोचक विषय है। यात्रियों, व्यापारियों तथा परिव्राजकों द्वारा एशिया और यूरोप के विभिन्न देशों में ही नहीं, अपितु अफ्रीका की असभ्य सोमाली और सौहाली जातियों में भी भारतीय कहानियों का प्रचार हो गया।

भारतीय कथा-साहित्य की सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन पुस्तक 'पंचतन्त्र' है। संसार की अन्य भाषाओं में 'पंचतन्त्र' के अनुवाद ६ठीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गये थे। पहलवी भाषा में उनका जो पहला अनुवाद हुआ, उसमें 'पंचतन्त्र' के पाँचों भागों के अतिरिक्त 'महाभारत' तथा बौद्ध-धर्म की कई कथाएँ भी जोड़ दी गई थीं। पहलवी से आसुरी (Syriac) और अरबी भाषाओं में उसके अनुवाद हुए। इस अरबी अनुवाद के ४० भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं।[1] ११वीं शताब्दी में 'अरबी पंचतन्त्र' का यूनानी भाषा में अनुवाद हुआ, यूनानी से लैटिन, जर्मन, स्लॉवेक तथा अन्यान्य यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हुए। १५७० ई० में सर थामसनार्थ ने इतावली 'पंचतन्त्र' का अंग्रेजी में अनुवाद किया। विन्टरनिट्ज[2] के मतानुसार जर्मन साहित्य पर 'पंचतन्त्र' का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम में एकता का सम्बन्ध स्थापित करने में 'पंचतन्त्र' का विशिष्ट स्थान है।

---

१. Macdonell : India's Past, p. 123.
२. Some Problems of Indian Literature.

'पंचतन्त्र' के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य कथा-संग्रहों का भी विश्व के कथा-साहित्य पर कम प्रभाव नहीं पड़ा है। 'वेतालपंचविंशतिका' का अनुवाद हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में हुआ, फिर हिन्दी से अंग्रेजी और जर्मन में। मंगोलियन कहानियों की पुस्तक 'स्सिद्दीकूर' में 'वेताल-पंचविंशतिका' के कई अनूदित अंश उपलब्ध होते हैं। १५७४ ई० में अकबर के हुक्म से 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' का फारसी में अनुवाद किया गया। स्याम और मंगोलिया की भाषाओं में भी उसके अनुवाद मिलते हैं। १४वीं शताब्दी में 'शुकसप्तति' का फारसी में 'तूतिनामह्' के नाम से अनुवाद हुआ। इस 'तूतिनामह्' के द्वारा कई भारतीय कथाएँ पश्चिमी एशिया और यूरोप में प्रचलित हो गईं। सिन्दबाद 'जहाजी' की प्रसिद्ध कहानी पर 'शुकसप्तति' का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। मसूदी (८५६ ई०) नामक अरबी लेखक ने अपनी 'किताबुल्सिंदबाद' की भूमिका में लिखा है कि यह कहानी पहले-पहल राजा कुरुष के समय में भारत में लिखी गई थी। उसने यह भी लिखा है कि 'कलिलह् और दिमनह्' (पंचतन्त्र) की भाँति सिंदबाद की कथा भी भारत की देन है। सिंदबाद 'सिद्धपति' का रूपान्तर है। खेद है कि सिद्धपति की कथा, जिसका यूनानी अनुवाद 'सिंतिपास' (Syntipas) और हिब्रू अनुवाद 'सन्दबार' (Sandabar) कहलाता है, भारत में नहीं मिलती। 'कथासरित्सागर' और 'परिशिष्टपर्वन्' की कतिपय कहानियों का रूपान्तर चीन की कहानियों में पाया जाता है। 'अवदानशतक' तथा 'जातकमाला' का क्रमशः तीसरी और पाँचवीं शताब्दी में चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका था। भारतीय कहानियों का विदेशी भाषाओं में केवल रूपान्तर ही नहीं हुआ, अपितु कथा में कथा का सन्निवेश करने की भारतीय प्रथा का भी अनुकरण फारस और अरब वालों ने किया। प्रसिद्ध 'सहस्त्र रजनीचरित' (आल्योपन्यास) में भारतीय कहानियों की यह शैली स्पष्ट लक्षित होती है।

उपर्युक्त अनुवादों के द्वारा भारत की कहानियों का प्रचार देश-देशान्तर में हुआ तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति का परिचय भी विदेशियों को मिला। एक आलोचक ने ठीक ही कहा है कि भारतीय आख्यान जितने विचित्र हैं, उससे कहीं अधिक विचित्र आर्य आख्यान-साहित्य के विश्व-विजय की कथा है।

ऐतिहासिक काव्य

पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि संस्कृत साहित्य में वास्तविक इतिहास-ग्रन्थों का निर्माण नहीं हुआ है। उनके मतानुसार संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों में तिथि और घटनाओं के रूप में ठोस ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती। पर जिस दृष्टि-कोण को लेकर पाश्चात्य आलोचक संस्कृत के इतिहास-ग्रंथों की समीक्षा करते हैं, वह भ्रांतिपूर्ण है। इतिहास के आधुनिक ग्रन्थों को आदर्श मानकर संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की आलोचना करना सर्वथा अनुचित है। भारतीय आदर्श के अनुसार इतिहास का उद्देश्य तिथियों या घटनावलियों का वर्णन करना नहीं, प्रत्युत जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों को महापुरुषों के जीवन में घटाते हुए, राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान में योग देना है। हमारे इतिहास-पुराण, रामायण और महाभारत इस अर्थ में सच्चे इतिहास हैं। हमारी दृष्टि में उनके चरितनायकों में स्थितिकाल का प्रश्न नगण्य है। जीवन के चिरन्तन आदर्शों के प्रतीक होने के कारण उनकी स्थिति सभी देशों और कालों में है। प्रत्येक दशा में हम उन्हें अपनी संस्कृति के सुमेरु-शिखर पर अवस्थित पाते हैं। उन्हें हम इतिहास के खंडहरों के कंकड़-पत्थरों मे खोजने नहीं गये।

भारत के प्राचीन साहित्यकारों ने आधुनिक अर्थ में इतिहास की रचना की ओर इतने उदासीन क्यों रहे, इसके भी अनेक कारण हैं—(१) भारत की दार्शनिक विचार-धारा ऐहिक उन्नति को वास्तविक उन्नति नहीं मानती। उसकी दृष्टि में संसार तुच्छ और निस्सार है तथा उसके लौकिक विषयों की चर्चा करना मानो माया के भ्रमजाल में फँसना है। (२) भारतीय आरम्भ ही से लौकिक विषयों की अपेक्षा पारलौकिक विषयों में अधिक आस्था रखते आये हैं। (३) भारतीयों का कर्म-सिद्धांत जिसके अनुसार मनुष्य के जीवन में कोई भी अचिन्त्य घटना घट सकती है, ऐतिहासिक घट-नाओं को लिपिबद्ध करने में बाधक हुआ। उनका यह विश्वास है कि पूर्व-जन्म के संचित कर्मानुसार ही जीवन की घटनाओं का संचालन होता है, इतिहास-रचना में उनकी अरुचि का कारण हुआ। (४) भारतीयों ने राम, कृष्ण जैसी दैवी विभूतियों को तथा हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, युधिष्ठिर, बुद्ध आदि आदर्श व्यक्तियों को ही जातीय इतिहास का सच्चा प्रतिनिधि माना। अतः उन्हीं के आख्यान तथा गाथाएँ सुरक्षित रखी गईं। इसका कारण यह था कि इन अलौकिक व्यक्तियों के जीवन-वृत्त में मानव

जाति के चिरन्तन आदर्शों का प्रतिबिम्ब संचित था। इसके विपरीत, अनेक स्थानीय राजाओं अथवा अशोक और हर्ष जैसे लौकिक सम्राटों के जीवन का महत्त्व नहीं समझा गया। इसी कारण जहाँ श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरित' पर २३ टीकाएँ लिखी गईं, वहाँ उनके ऐतिहासिक काव्य 'नवसाहसांकचरित' की ओर टीकाकारों का ध्यान भी नहीं गया।

उक्त विवेचन का यह आशय नहीं कि संस्कृत में लौकिक घटनाओं के इतिहासों की रचना हुई हो नहीं। पुराणों मे तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विशद चित्र उपलब्ध होता है। बौद्धों और जैनों के ग्रंथों मे भी ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। प्राचीन राजाओं की प्रशस्तियो में ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों, नाटकों तथा गद्य-काव्यों मे यत्र-तत्र ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। हाँ, इस सामग्री में घटनाओं के कालक्रम की छानबीन न होकर सजीव सांस्कृतिक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ तक कि 'मेघदूत' जैसे सर्वथा काल्पनिक गीतिकाव्य में भी तत्कालीन इतिहास और समाज के विशद् चित्र उपलब्ध होते हैं।[1] कुछ विद्वानों के अनुसार कालिदास का 'कुमारसम्भव' मौर्यों के पतन और वैदिक संस्कृति के उन्नायक हिन्दू-राज्यों के उत्थान का रूपकात्मक चित्रण है तथा भारवि का 'किरातार्जुनीय' कुशन-आक्रान्ताओं से त्रस्त भारत में राष्ट्रीयता का ओजःपूर्ण संदेश फूंकनेवाला महाकाव्य है।[2]

इनके अतिरिक्त संस्कृत में अनेक ऐतिहासिक महाकाव्यों की भी रचना हुई, जिनके द्वारा भारत के मध्यकालीन इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। कौन कह सकता है कि संस्कृत में और भी अनेकानेक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना न हुई हो और वे विधर्मियों के विध्वंसकारी आक्रमणों में नष्ट न हो गये हों? फिर भी जो प्रमुख ऐतिहासिक काव्य उपलब्ध होते हैं, उनका संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

का समकालीन माना है और यह बात भी सिद्ध की है कि वे नागार्जुन के पूर्ववर्ती थे । नागार्जुन ने जो कि स्वयं अश्वघोष के शिष्य थे, 'श्रद्धोत्पादशास्त्र' के भाष्य में ६ अश्वघोषों की चर्चा की है । सर्वास्तिवादी मतानुसार बोधिसत्व अश्वघोष बुद्ध के निर्वाण के ३०० वर्ष बाद उत्पन्न हुए थे तथा महाप्रज्ञापारमिता की व्याख्या में अश्वघोष को निर्वाण के ३७५ वर्ष बाद माना गया है । अश्वघोष का काल-निर्धारण करने के लिए कई विद्वानों ने प्रयत्न किये । इनमें डॉ० विमलाचरण लाहा का कार्य विशेष रूप में सराहनीय है । उन्होंने 'बुद्धचरित', 'सौन्दरनन्द' और 'शारिपुत्रप्रकरण' के रचयिता अश्वघोष को एक माना है । 'बुद्धचरित' महाकाव्य का अन्तिम सर्ग अशोक की संगीत का वर्णन करता है, अतः हमारी सम्मति मे अश्वघोष अशोक के पश्चात् मार्ग थे । अशाक का समय २६५-२११ ई० पू० माना जाता है । अतएव अश्वघोष का समय इसके बाद का निर्धारित होना तर्क-संगत प्रतीत होता है । अधिकांश विद्वान् अश्वघोष को कनिष्क का समकालीन मानकर उसकी तिथि ईसा की प्रथम शताब्दी स्वीकार करते हैं ।

अश्वघोष के माता-पिता के विषय में भी अनेक मत है । कोई उसे लोक एवं घोणा का पुत्र कहते हैं । तारानाथ के मतानुसार वह ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुआ था । 'सौन्दरनन्द' में वह प्रभावशाली वक्ता के नाम से तथा साकेत की रहनेवाली सुवर्णाक्षी का पुल कहा जाता है । भले ही वह बोधिसत्व अश्वघोष था । स्थविर अश्वघोष पर इस विषय में संदेह नहीं कि वह ब्राह्मण प्रभाव एवं परम्परा से युक्त था ।

अश्वघोष की कृतियों की संख्या १८ तक कही जाती है, परन्तु यह सर्वमान्य तथ्य नहीं है । इस विषय में सभी विद्वानों का मतैक्य है कि अश्वघोष ने दो महाकाव्य 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' लिखे । उनके नाटकों में 'शारिपुत्रप्रकरण' ही उल्लेखनीय है ।

भारतीय विद्वान् अश्वघोष की कृतियों के विषय में मौन हैं । संपूर्ण 'बुद्धचरित' भी मूल रूप में यहाँ उपलब्ध नहीं हो सका । इसके चीनी और तिब्बती संस्करण २८ सर्गों में उपलब्ध हैं । भारत में केवल बौद्ध कवि शरणदेव ने 'बुद्धचरित' के ८।१३ का निम्न श्लोक अपनी 'दुर्घट-वृत्ति' में उद्धृत किया है—

इदं पुरं तेन विसर्जितं वनम्, वनं च तत्तेन समन्वितं पुरम् ।
प्रशोभते तेन हि नो विना पुरम्, मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम् ॥

उनकी दूसरी कृति 'सौन्दरनन्द' बहुत समय तक भारतीय विद्वानों को अज्ञात रही । सर्वप्रथम डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल में प्राप्त पाण्डुलिपियों के आधार पर इसको प्रकाशित कराया । १९२२ में डॉ० विमलाचरण लाहा ने इसका बंगला अनुवाद

प्रकाशित किया और १९२८ में डॉ० जान्स्टन ने भी एक प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित कराया। वस्तुतः 'सौन्दरनन्द' काव्यत्व की दृष्टि से 'बुद्धचरित' से अत्यधिक प्रौढ़ है।

अश्वघोष की कवित्व शक्ति-प्रतिभा अथवा कल्पना के नाम से भी अभिहित हो सकती है। उनकी दृष्टि दर्शनोन्मुखी है। अतः अश्वघोष काव्य के वातावरण को एकदम परिवर्तित कर देते हैं। 'बुद्धचरित' के चतुर्थ सर्ग में श्रृङ्गार-वर्णन के ठीक बाद ही दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ होता है। रात्रि में वनिताओं के दर्शन होने पर भी वर्णन द्वारा बुद्ध में राग की अपेक्षा विराग को ही उत्पन्न किया है। वहीं एक नायिका का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है—

मुहुर्मुहुर्मदव्याजस्रस्त नीलांशुकाम्बरा,
आलक्ष्यरशना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा।

सौन्दरनन्द में सुन्दरी तथा नन्द की केलिक्रीड़ा में संश्लिष्ट सौन्दर्यात्मक चित्रों का संयोगात्मक रूप देखने योग्य है—

सा हास हंसा नयनद्विरेफा, पीनस्तनात्युन्नत पद्मकोशा।
भूयोवभाषे स्वकुलोदितेन, स्त्री पद्मिनीनन्द दिवाकरेण॥

'बुद्धचरित' के अष्टम सर्ग में शोक-सन्तप्त नारियों का चित्रांकन मनोमुग्धकारी है—

करप्रहार प्रचलैश्च ता बभुः, तथापि नार्यः सहितोन्नतैः स्तनैः।
वनानिला घूर्णित पद्मकम्पितैः रथांगनाम्नां मिथुनैरिवापगाः॥

'सौन्दरनन्द' के षष्ठ सर्ग मे नन्द के प्रव्रजित हो जाने पर सुन्दरी के विलापदग्ध विवर्ण मुख का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

तस्यामुखं पद्म सपत्न भूतम्, पाणौ स्थितं पल्लवरागताम्रे।
छायामयस्याम्भसि पंकजस्य, बभौ नतं पद्ममिवोपरिष्टात्॥

सीमन्तिनी शरीर विवेचन के भी यहाँ कुछ उदाहरण उद्धृत हैं—

अथ सूक्ष्ममतिद्वयाशिवम् लघु वासां हृदयं न पश्यसि।
किमु कायमसद्गृहं स्रवद्वनितानाम शुचि न पश्यसि॥

'देख, स्त्री-हृदय की क्षुद्रता को समझ तथा प्रतिक्षण स्रावी अशुचि मार्ग के लिये लालायित मत बन।'

यदहन्यहनि प्रधावनैर्वसनैश्चाभरणैश्च संस्कृतम्।
अशुभं तमसावृतेक्षणः शुभतो गच्छसि नावगच्छसि॥ सौ० ८।४८

'यदि कोई अच्छे वस्त्र-अलंकार पहनकर नजाकत की चाल से चलता सामने से निकल जाता है तो तू बेताव बन जाता है, यह ठीक नहीं।'

अथवा समवैषि तत्तनू मधुमां त्वं न तु संविदस्ति ते ।
सुरभिं विदधासि हि क्रियामशुचैस्तत्प्रभवस्य शान्तये ॥ सौ० ८।४९

'तू प्रमदा शरीर को या अपने शरीर को वस्तुतः अशुचि मानता है फिर उस पर सुगन्धित तैल लगाकर तैल का दुरुपयोग क्यों करता है ? भला इत्र के छिड़कने से क्या कूड़े के ढेर की पवित्रता या सुगन्धि सम्भव है ? कदापि नहीं।'

सौन्दरनन्द के सुभाषित :

१—प्रज्ञात्मकं यस्यहिनास्ति चक्षु-चक्षुर्न तस्यास्ति स चक्षुषोऽपि ।
२—यावत् सतर्षः पुरुषो हि लोके, तावत् समृद्धोऽपि सदा दरिद्रः ।
३—शूरोऽप्यशूरः सहि वेदितव्यः दोषैरमित्रैरिव हन्यते यः ।
४—शुचौहिशीले पुरुषस्य दोषाः मनः सलज्जा इव घर्षयन्ति ।
५—मृत्युः सर्वावस्थासुहन्ति नावेक्षते वयः ।
६—व्यवस्था नास्ति संसारे स्वजनस्य जनस्य च ।
७ चित्तं निषेद्धुं सुखेन शक्यं कृष्टादको गौरिव सस्यमध्यात ।

बुद्धचरित के सुभाषित :

१—दुःखं समुदयो हेतुर्निरोधो रोध कारणं ।
निर्वाण हेतवो ह्येते दृष्टां दिव्येन चक्षुषा ॥
२—अरूपेषु सरूपेषु देवेष्वपि हि वासना ।
सहजौ बलिनो गुप्तौकामरागौ हि वैरिणौ ॥
३—मित्रवेषेण सगम्य सर्वधर्माणि कृन्ततः ।
अस्थि चर्म वसा मांस मलमूत्र मयंवपुः ॥
४—पूतिमन् पश्यतो लोके देहासक्तिर्न जायते ।
५— हीनस्य मध्यस्य महात्मनो वा सर्वस्य लोके नियतो विनाशः ।
दृष्टौ च सत्यां पुरुषस्य लोके सर्वे विशेषानतु निर्विशेषाः ॥

इस प्रकार अश्वघोष के काव्यों में पद-पद पर उपदेशात्मक वाक्य भरे पड़े हैं। ये ही अर्थान्तरन्यास कालिदास ने भी अपनाये हैं। अतः कालिदास अश्वघोष से प्रभावित हैं, ऐसा कतिपय विद्वान् मानते हैं। अश्वघोष के बाद ऐतिहासिक पद्य काव्य उपलब्ध नहीं होते

बाणभट्ट : हर्षचरित

सर्वप्रथम ऐतिहासिक गद्य-काव्य की रचना करने का श्रेय बाणभट्ट को है। उनके 'हर्षचरित' में महाराज हर्षवर्द्धन (६०६-६४८ ई०) का चरित अंकित है। हर्षवर्द्धन के वंश के प्रवर्तक पुष्यभूति नामक राजा थे। हर्ष के पिता का नाम प्रभाकर-

वर्धन और माता का यशोवती था। उनके बड़े भाई राज्यवर्धन का जन्म ५८८ ई० में हुआ। उसके दो वर्ष बाद भारत के भावी सम्राट् हर्ष उत्पन्न हुए तथा तीन वर्ष बाद उनकी बहन राज्यश्री का विवाह मौखरि राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ हुआ। लगभग ६०५ ई० में हूणों ने प्रभाकरवर्धन के राज्य के उत्तर में आक्रमण किया। उन्होंने राज्यवर्धन को एक बड़ी सेना देकर उनकी प्रगति रोकने के लिए भेजा। उनके लौटने से पूर्व ही प्रभाकरवर्धन का देहान्त हो गया। यशोवती विधवा हो जाने के भय से रति की मृत्यु से पूर्व ही सती हो गई। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से लाभ उठाकर मालवा के राजा ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। उसने ग्रहवर्मा को मारकर राज्यश्री को कैद कर लिया। राज्यवर्धन ने हर्ष पर राज्य का भार छोड़ शत्रु के विरुद्ध प्रयाण किया। मालवराज को उन्होंने सहज ही परास्त कर दिया, पर उसके सहायक गौड़ राजा ने उन्हें धोखे से मार डाला। हर्ष ने प्रतिशोध के लिए प्रस्थान किया। मार्ग मे उन्होंने अपनी बहन राज्यश्री का पता लगाया, जो कारागार से छूटकर विन्ध्याटवी में पहुँच गई थी। इस स्थल पर बाण का 'हर्षचरित'* समाप्त हो जाता है। यानच्वांग (Yhan Chwang) नामक चीनी यात्री के संस्मरणों से पता चलता है कि हर्ष ने आसाम के राजा भाष्करवर्मा की सहायता से गौड़ राजा को परास्त कर दिया। इसके पश्चात् उन्होने उत्तरी भारत को दिग्विजय कर महाराजाधिराज की उपाधि धारण की और ३० वर्ष तक शान्तिपूर्वक राज्य किया।

'हर्षचरित' की रचना यद्यपि गद्य में हुई है, किन्तु उसकी भाषा पूर्णतया कवित्वमय है। उसमें इतिवृत्तों का उल्लेख सीधी-सादी भाषा में नहीं हुआ है। उनकी शैली आलंकारिक और कल्पना प्रचुर है। उसमें पौराणिक कथाओं और अलौकिक पात्रों का भी उपयोग किया गया है। उसमें हर्ष के राज्यकाल का पूरा वर्णन नहीं हुआ है। किसी घटना की तिथि भी नहीं दी गई है। स्वयं अपने स्थितिकाल का भी उल्लेख बाण ने नहीं किया है। 'एवमतिक्रामत्सु दिवसेषु', 'अथ कदाचित् कतिपय दिवसापगमे' इत्यादि का प्रयोग करके ही वे संतोष कर लेते हैं। कभी-कभी वे ऐतिहासिक पात्रों के नाम तक का उल्लेख नहीं करते। राज्यवर्धन को मारने वाले गौड़ाधिप का 'हर्षचरित' में कहीं नाम तक नहीं बतलाया गया है। इन कारणों से 'हर्षचरित' का ऐतिहासिक महत्व कुछ कम हो गया है।

'हर्षचरित' में जिन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन हुआ है, वे प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णन से मेल खाती हैं। 'हर्षचरित' में घटनाओं का ऐसा सूक्ष्म और ब्योरेवार वर्णन किया गया है कि ह्वेनसांग ने अपने संस्मरणों में जहाँ-कहीं धार्मिक पक्षपात से प्रभावित हो अयथार्थ वर्णन किया है, उसका साफ पता चल जाता है। 'हर्षचरित' का ऐतिहासिक वृत्तान्त तत्कालीन इतिहास के शोध में विशेष सहायक है।

तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर 'हर्षचरित' से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उस समय ब्राह्मणों और बौद्धों का धर्म समान रूप से उन्नत था। धार्मिक विद्वेष नाममात्र को भी नहीं था। संस्कृत साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी 'हर्षचरित' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'हर्षचरित' के आरम्भ में बाण ने महाभारत, वासवदत्ता एवं बृहत्कथा नामक ग्रन्थों को तथा भास, कालिदास, प्रवरसेन, भट्टारहरिचन्द एवं आढ्यराज नामक कवियों की प्रशंसा की है। बाण का स्थितिकाल निश्चित रूप से ज्ञात होने के कारण अन्य कवियों के समय-निर्धारण में बड़ी सहायता मिलती है। सोड्ढल ने 'हर्षचरित' की इस प्रकार प्रशंसा की है—

बाणः कवीनामिह चक्रवर्ती चकास्ति यस्योज्ज्वलवर्णशोभम् ।
एकातपत्रं भुवि पुष्पभूतिवंशाश्रयं हर्षचरित्रमेव ।।

वाक्पतिराज : गौडवहो

सन् १८७४ ई० में डॉ० ब्यूलर को जैसलमेर के प्राचीन जैन संग्रहालय में वाक्पतिराज-कृत 'गौडवहो' (गौडवध) की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से अब यह प्रकाशित हो चुका है। वाक्पतिराज के पिता का नाम हर्षदेव था। वे कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित तथा भवभूति के समकालीन थे।[1] ये यशोवर्मा कश्मीर के राजा ललितादित्य द्वारा युद्ध में मारे गये। डॉ० स्टीन के मतानुसार यह घटना ७३६ ई० के पूर्व की नहीं हो सकती। 'गौडवहो' के अधूरे होने से प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने काव्य की रचना यशोवर्मा के विजयी दिनों में प्रारम्भ की थी, किन्तु ललितादित्य के हाथों यशोवर्मा की मृत्यु होने पर उसे अधूरा ही छोड़ दिया। इसलिए 'गौडवहो' की रचना ७३६ ई० के बाद की नहीं हो सकती। अपने काव्य के ६९वें पद्य में वाक्पतिराज ने 'महुमनविजय' नामक अपनी एक और कृति का उल्लेख किया है।

'गौडवहो' की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है। सम्भव है, उसकी रचना करने में वाक्पतिराज प्रवरसेन के प्राकृत-काव्य 'रावणवहो' (सेतुबन्ध) से प्रभावित हुए हों। 'गौडवहो' में यशोवर्मा द्वारा एक गौड राजा के परास्त होने की घटना का वर्णन है। कवि ने इस गौड राजा के नाम का उल्लेख नहीं किया है। 'गौडवहो' में महत्त्वमय ऐतिहासिक बातों का वर्णन कम है। ऋतुओं, प्राकृतिक दृश्यों तथा राजा के विहार का ही कवित्वमय विस्तृत वर्णन किया गया है।

---

१. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिबन्दिताम् ।। राजतरंगिणी ४।१४४

पद्मगुप्त : नवसाहसांकचरित

'नवसाहसांकचरित' के रचयिता पद्मगुप्त अथवा परिमल-कालिदास धारनरेश मुञ्ज तथा उनके पुत्र सिन्धुराज (नवसाहसांक) के राजकवि थे। 'नवसाहसांकचरित' की रचना १००५ ई० के लगभग हुई। सिन्धुराज नागों के शत्रु वज्रांकुश को पराजित कर नागराज शंखपाल की राजकुमारी शशिप्रभा से विवाह करते हैं—इस घटना का विस्तृत एवं कवित्वमय वर्णन करते हुए कवि ने अपने आश्रयदाता के चरित्र पर प्रकाश डाला है। लम्बी वक्तृताओं तथा विस्तृत वर्णनों से कथा-प्रवाह प्रायः अवरुद्ध हो गया है तथा ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व कम हो गया है। यद्यपि यह काव्य मुख्य रूप में एक प्रशस्ति मात्र है, फिर भी यदि इसकी पौराणिक वर्णन-प्रणाली और अलंकृत काव्य-शैली के बीच ऐतिहासिक तत्त्वों की खोज की जाय तो तत्कालीन इतिहास के अनेक विश्वसनीय तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, जिसकी पुष्टि शिलालेखों तथा अन्य बहिरंग प्रमाणो से भी होती है। 'नवसाहसांकचरित' (१०।१४२) में सिंधुराज द्वारा विजित जिन राजाओ और देशों का उल्लेख हुआ है, उनकी ऐतिहासिकता स्वीकृत हो चुकी है। यद्यपि सिंधुराज का कोई शिलालेख उपलब्ध नहीं हुआ है, उनकी सत्यता का पता उनके वश के पूर्ववर्ती और परवर्ती राजाओं के इतिहास से चलता है।[1] ११वे सर्ग में सिंधुराज से पूर्ववर्ती समस्त परमारवंशी राजाओं का कालक्रम से वर्णन है, जिसकी पुष्टि शिलालेखों से हो चुकी है। इस प्रकार यह काव्य परमारों के इतिहास के लिए उपादेय है।

काव्य की दृष्टि से पद्मगुप्त की रचना वैदर्भी रीति का मनोहर उदाहरण है। उसके १८ सर्गों में १८ प्रकार के भिन्न-भिन्न छन्दों में कुल मिलाकर १५०० पद्य हैं। पद्मगुप्त की भाषा और शैली पर महाकवि कालिदास का प्रभाव देख पड़ता है। उनके पद्यों का स्वर-माधुर्य तथा उनका वर्णन-कौशल प्रशंसनीय है। राजा की काली तलवार से शुभ्र यश की उत्पत्ति का वर्णन देखिये। विषमालंकार का क्या ही सुन्दर उदाहरण है—

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते॥

भोज के 'सरस्वतीकंठाभरण', क्षेमेन्द्र की 'औचित्यविचारचर्चा', मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' तथा वर्धमान के 'गणरत्नहोमदधि' में पद्मगुप्त का उल्लेख हुआ है।

---

१. V. V. Mirashi : 'Historical Date in नवसाहसांकचरित', I. A. Feb. 1933. pp. 101-107.

बिल्हण : विक्रमांकदेवचरित

जैसलमेर में डॉ० ब्यूलर के 'गौडवहो' के साथ 'विक्रमांकदेवचरित' नामक एक और ऐतिहासिक महाकाव्य की उपलब्धि हुई थी। इसकी रचना कश्मीरी कवि बिल्हण ने १०८५ ई० के लगभग की। अपने काव्य के दसवें सर्ग में उन्होंने अपना जीवन-वृत्त दिया है। उनका जन्म कश्मीर की तत्कालीन राजधानी प्रवरपुर के पास खोनमुख ग्राम में एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। बिल्हण के पिता का नाम ज्येष्ठकलश और माता का नाम नागादेवी था। विद्याभ्यास की समाप्ति पर वे पर्यटन के लिए निकल पड़े। मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, काशी, अन्हिलवाड़ा आदि स्थानों मे होते हुए वे अन्त में कल्याण के चालुक्य राजा छठे विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०) की राजसभा में पहुँचे। विक्रमादित्य ने उन्हें अपना सभा-पंडित बनाकर 'विद्यापति' की उपाधि से विभूषित किया।

'विक्रमांकदेवचरित' में १८ सर्गों में चालुक्य-वंशी राजा विक्रमादित्य का चरित वर्णित है।[1] इसमें उनके पिता आहवमल्ल की मृत्यु, राजकुमारी चन्द्रलेखा से विवाह, उनके दो भाइयों तथा चोलों की पराजय आदि घटनाओं का कवित्वमय वर्णन किया गया है। प्राचीन भारत के ऐतिहासिक ग्रन्थों में कल्हण की 'राजतरंगिणी' और बाण के 'हर्षचरित' के पश्चात् 'विक्रमांकदेवचरित' ही विशेषरूप से उल्लेखनीय है। कल्याण के चालुक्य-वंशी राजाओं के जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनसे बिल्हण द्वारा वर्णित घटनाओं की पुष्टि होती है। दक्षिण भारत की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति का विशद परिचय बिल्हण की कृति में उपलब्ध होता है। चोलों और चालुक्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का तथा दक्षिण के तत्कालीन राज्यों के विस्तार का भी अच्छा परिचय मिलता है।[2] बिल्हण ने अपने देशाटन का जो रोचक वर्णन किया है, उससे उस समय की भारतीय सामाजिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हाँ, कहीं-कहीं कवि ने अपने चरितनायक का अतिरंजित चित्रण अवश्य किया है। स्थल-स्थल पर पौराणिक और अलौकिक प्रसंगों के उल्लेख से काव्य का ऐतिहासिक महत्त्व कम हो गया है। घटनाओं की तिथियाँ भी नहीं सूचित की गई हैं। इस काव्य की टीका पं० हरिदत्त शास्त्री ने लिखी है, जो मेरठ से प्रकाशित हुई है।

कवित्व की दृष्टि से बिल्हण की कृति रमणीय है। उसका मुख्य लक्ष्य काव्य-सौन्दर्य का चमत्कार उत्पन्न करना प्रतीत होता है, ऐतिहासिक विश्लेषण गौण। सच

१. एतास्तु चालुक्यनरेन्द्रवंशसमुद्गतानां गुणमौक्तिकानाम्।
सद्भारतीसूत्रनिवेशितानामेकावली कंठविभूषणं वः ॥ १।३०

२. V. Venkataraman : 'Vikrmankadavacharita in its historical setting'; Indian History Congress, 1938 p. 117.

पूछिये तो बिल्हण से काव्य-प्रतिभा की सुकुमार शलाका से इतिहास की कठोर शिला को भेदने का कठिन प्रयास किया है। बिल्हण स्वयं कहते हैं कि मोती को भेदनेवाली सुई टाँकी का काम कैसे कर सकती है—'न मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका प्रगल्भते कर्मणि टङ्किकायाः' (१।१६)। बिल्हण ने सरल और प्रसादपूर्ण वैदर्भी शैली को अपनाया है, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं—

सहस्रशः सन्तु विशारदानां वैदर्भलीलानिधयः प्रबन्धाः।
तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र॥१।१४

अनुरूप दृष्टान्त, सरल पद-विन्यास एवं विशद भाव-प्रकाशन बिल्हण की कविता की विशेषताएँ हैं। दो उदाहरण देखिये—

कुंठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु।
कुर्यादनार्द्रे किमंगनानां केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः॥१।१४

'साहित्य-विद्या के अनुशीलन से जिनका हृदय सरल नहीं हुआ है, उन पाठकों के प्रति कवियों से प्रशस्त गुण भी कुण्ठित हो जाते हैं। कहीं रमणियों के सूखे केशकलाप अगरु के सुगन्धित धूप से सुवासित हो सकते हैं?' एक सरल सूक्ति देखिये—

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान्खलानाम्।
निरीक्षते केलिवनं प्रविष्यः क्रमेलकः कंटकजालमेव॥ १।२९

'कुतार्किक खल जन कानों में अमृत घोलनेवाली सूक्तियों के रस-माधुर्य को छोड़ केवल दोषों को ही ढूंढ़ निकालने की भरपूर कोशिश करते हैं। सच है, क्रीड़ा-उपवन में प्रवेश करके भी ऊँट बबूल के कँटीले झाड़ों को ढूंढ़ता फिरता है।' सोमेश्वर ने बिल्हण की इस प्रकार प्रशंसा की है—

बिल्हणस्य कवेः प्राप्तप्रसादेव सरस्वती।
नीयते जातु कालुष्यं दुर्जनैर्न घनैरपि॥

कल्हण : राजतरंगिणी

महाकवि कल्हण-कृत 'राजतरंगिणी' (११४८-५१ ई०) ऐतिहासिक काव्यों में सबसे अधिक महत्त्वमय है। कल्हण कश्मीर के तत्कालीन महाराजा विजयसिंह के मन्त्री चम्पक के पुत्र थे। 'राजतरंगिणी' संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक घटनाओं के क्रमबद्ध इतिहास के प्रथम प्रयास हैं। कल्हण ने आदिकाल से लेकर सन् ११५१ ई० के आरम्भ तक के कश्मीर के प्रत्येक राजा के शासन-काल की घटनाओं का यथाक्रम विवरण दिया है। 'राजतरंगिणी' ८ खंडों (तरङ्गों) में विभाजित है, जिसमें कुल ७,८२६ श्लोक हैं। प्रथम तरङ्ग में गोनन्द प्रथम से लेकर अन्ध युधिष्ठिर तक के ७५ राजाओं के शासन का संक्षिप्त वर्णन है। द्वितीय तरङ्ग में ६ राजाओं के १९२ वर्षों

का शासन वर्णित है। तृतीय तरङ्ग में गोनन्द वंश के अन्तिम राजा आतादित्य तक के १० राजाओं के ५३६ वर्ष के राज्यकाल का विवरण मिलता है। चतुर्थ तरङ्ग में २६० वर्ष तक शासन करने वाले १७ राजाओं का इतिहास निरूपित किया गया है। पंचम तरङ्ग में अवन्तिवर्मा के राज्यारोहण के साथ उत्पल वंश के सूत्रपात का वर्णन है और कल्यपालवंशज संकटवर्मा, सुगन्धादेवी और शंकरवर्धन के राज्यकाल का निरूपण है। षष्ठ तरङ्ग में १० राजाओं का ६३६ ई० से १००३ ई० तक के राज्यकाल का वर्णन है। सप्तम तरङ्ग में ६ राजाओं के सन् १००३ से ११०१ ई० तक के राज्यकाल का वर्णन मिलता है। अष्टम तरङ्ग में सातवाहन वंश के उच्चल, सुस्सल, भिक्षाचर और जयसिंह राजाओं की जीवनगाथा का विवरण है।

कल्हण ने इस काव्य की रचना में राजकथाओं के ११ संग्रहों तथा 'नीलमत-पुराण' से सहायता ली है। उनके द्वारा दिये गये लेखकों के नामों तथा उनके ग्रन्थों के उल्लेखों से पता चलता है कि कश्मीर में इतिहास-लेखन की प्रथा बहुत पहले से प्रचलित थी और इस विषय पर कई उत्कृष्ट ग्रंथ थे। कल्हण ने अनेक अधिकार-पत्रों, शिलालेखों, दानपत्रों, प्रशस्तियों तथा हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर 'राजतरंगिणी की रचना की। प्राचीन सिक्कों का भी उन्होंने उपयोग किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने सभी प्रकार की स्थानीय जनश्रुतियों और परम्पराओं से भी सहायता ली।

'राजतरंगिणी' में महाकवि कल्हण ने डेढ़ हजार वर्ष का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास बड़ी सतर्कता और सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है। सच्चे इतिहास-कार की भाँति उन्होंने जीवन के प्रत्येक अंग पर दृष्टि डाली है। इस दृष्टि से यदि उसे कश्मीर का तत्कालीन विश्वकोष कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। कल्हण ने घटनाओं का ऐसा सजीव वर्णन किया है कि वह उपन्यास-सा मनोरंजक है। काव्य-माधुर्य से भरा होने पर भी वह इतिहास के अन्वेषण में उपादेय है। संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्यों में यही एकमात्र ऐसी कृति है, जिसमें तिथियों का निर्देश किया गया है। भवभूति और वाक्पतिराज जैसे कवियों के समय-निर्धारण में 'राजतरंगिणी' विशेष सहायक है। हाँ, यह आवश्यक है कि कहीं-कहीं कल्हण की कालगणना भ्रान्ति-पूर्ण है। कुछ घटनाएँ भी अंधविश्वास पर आश्रित तथा असंगत प्रतीत होती हैं। नवीं शताब्दी ई० के पूर्व का इतिहास बिलकुल अधूरा और धुंधला है, पर अंतिम शताब्दी का इतिहास बड़ा ही स्पष्ट, विस्तृत और घटना-बहुल है। कवि की निष्पक्षता प्रशंस-नीय है। अपने आश्रयदाता राजा हर्ष (१०८९-११०१ ई०) के भयंकर अत्याचारों का वर्णन करने में कल्हण आनाकानी नहीं करते। कल्हण ने अपने प्रतिपाद्य विषय का आद्योपान्त अच्छी तरह से निर्वाह किया है। अपने प्रतिपादन में उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक पटलों पर भी दृष्टि रखी है। प्रत्येक राजा के वर्णन में उसके

व्यक्तिगत एवं राजकीय जीवन की सभी घटनाएँ चित्रित की गई हैं। यह भी बतलाया गया है कि प्रजा की ओर उसकी नीति कैसी रही तथा प्रजा पर उसका क्या प्रभाव पड़ा। कश्मीर में समय-समय पर जो क्रान्तियाँ हुई भी हैं, उनका विशद चित्र खींचा गया है। इस प्रकार 'राजतरंगिणी' संस्कृत की एक अमूल्य ऐतिहासिक कृति है।

ऐतिहासिक रचना होने पर भी 'राजतरंगिणी' में काव्यात्मक गुणों का अभाव नहीं। सैकड़ों वर्षों के दीर्घकाल का इतिहास लिपिबद्ध होने के कारण उसमें अवश्य ही काव्योचित वैचित्र्य के लिए अधिक अवकाश नहीं था। फिर भी उसमें कवि-कल्पना, रस, अलंकार और भावों का जहाँ-तहाँ सुन्दर समावेश हुआ है। उसके संवाद सुन्दर और ओजःपूर्ण हैं। कल्हण की शैली के उदाहरणार्थ कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं। राजाओं की कैसी खरी आलोचना की गई है—

चित्रं नृपद्विपाः पूतमूर्तयः कीर्तिनिर्झरैः।
भवन्ति व्यसनासक्तिपांसुस्नानमलोमसाः॥

'कैसे आश्चर्य की बात है कि जो राजा-रूपी हाथी अपने यश-रूपी झरना में स्नान करके पवित्र हो जाते हैं, वे ही बाद में दुर्व्यसनों की धूल में लोटकर मलिन हो जाते हैं!' कल्हण भवितव्यता में विश्वास करते हैं—

पलायनैर्नापयाति निश्चला भवितव्यता।
वेहिनः पुच्छसंलीना वह्निज्वालेव पक्षिणः॥

'अटल भवितव्यता मनुष्य के भागने पर भी उसका पीछा नहीं छोड़ती, जैसे किसी पक्षी के पूँछ में लगी आग उसके साथ ही रहती है।' इतिहासकार को राग-द्वेष से रहित हो केवल सत्य का उद्घाटन करना चाहिये, इसका प्रतिपादन करते हुए कल्हण कहते हैं—

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥

'वही गुणवान् लेखक प्रशंसा का पात्र है, जिसकी वाणी राग-द्वेष से रहित हो केवल सत्य घटनाओं के प्रकाशन में स्थिर रहती है।' कल्हण की एक मार्मिक उक्ति देखिये—

क्षुत्क्षामस्तनयो वधूः परगृहप्रेष्यावसन्नः सुहृत्
दुग्धा गौरशनाद्यभावविवशा हम्भारवोद्गारिणी।
निष्पथ्यौ पितरावदूरमरणौ स्वामी द्विषन्निर्जितो
दृष्टो येन परं न तस्य निरये प्राप्तव्यमस्त्यप्रियम्॥

'जिसने भूख से बिलखते प्यारे पुत्र को, दूसरे के घर सेवा करने वाली अपनी स्त्री को, विपत्ति में पड़े हुए मित्र को, दुही हुई किन्तु चारा न मिलने के कारण रम्भाती हुई गौ को, पथ्य के अभाव में रोग-शय्या पर मरणासन्न माता-पिता को तथा शत्रु

से पराजित अपने स्वामी को देख लिया, उसे मरने के बाद नरक में भी इससे अधिक अप्रिय दृश्य देखने को क्या मिलेगा ?'

अन्य ऐतिहासिक काव्य

कल्हण के अनन्तर रचे गये ऐतिहासिक काव्यों में निम्नलिखित कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। जैन मुनि हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने अन्हिलवाड़ा के चालुक्य-वंशी राजा कुमारपाल के सम्मानार्थ 'कुमारपालचरित' अथवा 'द्व्याश्रयकाव्य' (११-६३ ई०) की रचना की। दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के आश्रित कवि जयानक ने अपने 'पृथ्वीराज विजय' (१२०० ई०) में पृथ्वीराज के जीवनचरित का वर्णन किया है। गुजरात के सोमेश्वरदत्त (११७६-१२६२ ई०) ने दो प्रशस्तियों की रचना की—'कीर्तिकौमुदी और 'सुरथोत्सव'। 'सुरथोत्सव' में कवि ने बाण की भाँति अपने वंश का भी परिचय दिया। सन्ध्याकरनन्दिन् ने 'रामपालचरित' में बंगाल के राजा रामपाल (१०८४-११६० ई०) के पराक्रमों का वर्णन करते हुए बंगाल के ही नहीं, अपितु असम, बिहार, मध्यप्रान्त और उड़ीसा के इतिहास के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है।[१] सन् १९२५ ई० में म०म०टी० गणपति शास्त्री ने 'आर्यमञ्जुश्रीकल्प'[२] नामक एक और ऐतिहासिक ग्रन्थ ढूंढ़ निकाला। इसकी रचना ८०० ई० के लगभग हुई थी। यह महायान बौद्ध-सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इसके तृतीय खण्ड के ५३वें अध्याय में भारतवर्ष के सम्राटों का वर्णन बुद्ध के मुख से भविष्यत्काल में कराया गया है। इसमें लगभग ७०० ई० पू० से लगातार ७७० ई० तक का इतिहास वर्णित है।

इस अध्याय में अब तक संस्कृत के जिन प्रमुख इतिहास काव्यकारों का विवेचन किया गया है, उनकी कालक्रमानुसार नामावली नीचे दी जाती है—

बाणो वाक्पतिराजश्च पद्मगुप्तस्तथैव च ।
बिल्हणः कल्हणश्चैते प्रसिद्धा ऐतिहासिकाः ॥

---

१. P. Acharya : 'Historical References to Orissa in सन्ध्याकरनन्दिन्' रामचरितम्।

२. An Imperial History of India in a Sanskrit Text, edited by Dr. K. P. Jayaswal.

चम्पू-काव्य

जिन काव्यों में गद्य-पद्य का संयुक्त प्रयोग किया जाता है, उन्हें 'चम्पूकाव्य' कहते हैं—'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते'।[1] 'वासवदत्ता', 'कादम्बरी', 'हर्षचरित' आदि गद्य-काव्यों में भी यत्र-तत्र पद्य पाये जाते हैं, किन्तु वे प्रधानतया गद्य में ही हैं। चम्पू-काव्यों में गद्य और पद्य का समान रूप से व्यवहार होता है। नीति-कथाओं में भी गद्य-पद्य का सम्मिश्रण देख पड़ता है। किन्तु उनमें पद्यों का प्रयोग एक विशेष प्रयोजन से किया जाता है। उनके पद्य या तो कथा से प्राप्त होने वाली शिक्षा के रूप में हैं या किसी कथन की पुष्टि में प्रमाणरूप उद्धरण। चम्पू-काव्य के पद्य किसी प्रयोजन-विशेष से नहीं प्रयुक्त होते। वे तो चम्पू के कथानक से ही उसी प्रकार अंगभूत होते हैं जैसे उसके गद्य-भाग। 'रामायणचम्पू' के रचयिता भोज कहते हैं कि चम्पू में गद्य और पद्य का वही पारस्परिक सम्बन्ध है, जो संगीत में गीत और वाद्य का—

> गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्तिः
> हृद्याति वाद्यकलया कलितेव गीतिः।

संस्कृत की चम्पू-शैली की रमणीयता एवं चम्पू-ग्रन्थों की लोकप्रियता को स्वीकार करते हुए ही यह कहा गया है—

> उदात्तनायकोपेता गणवद्वृत्तमुक्तका।
> चम्पूश्चहारयष्टिश्च केन स क्रियते हृदि॥

'चम्पू' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कुछ भी पता नहीं मिलता। हाँ, प्राचीन साहित्य में कुछ स्थलों पर गद्य-पद्य का एक साथ प्रयोग पाया जाता है, जिसे चम्पू का पूर्व-रूप कहा जा सकता है। 'महाभारत' में कहीं-कहीं गद्य-पद्यात्मक स्थल देख पड़ते हैं। बौद्धों की 'जातकमाला' तथा हरिषेण की प्रशस्ति में गद्य के साथ पद्य का भी प्रयोग किया गया है। दण्डी (६०० ई०) ने अपने 'काव्यादर्श' में चम्पू का लक्षण दिया है। अतः यह सिद्ध है कि दण्डी के पूर्व संस्कृत में चम्पू-काव्य की रचना हो चुकी थी। उपलब्ध संस्कृत साहित्य चम्पू-काव्य के दर्शन १०वीं शताब्दी से पूर्व नहीं होते। प्रमुख चम्पू-काव्यों का विवेचन नीचे दिया जाता है।

---

१. साहित्यदर्पण ६/३३६

त्रिविक्रमभट्ट : नलचम्पू

त्रिविक्रमभट्ट का 'नलचम्पू' चम्पू-काव्य का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है। उसका दूसरा नाम 'दमयन्तीकथा' भी है। इसकी रचना ९१५ ई० के आस-पास हुई, क्योंकि उसी समय का एक शिलालेख मिलता है, जिसके रचयिता त्रिविक्रमभट्ट ही हैं। 'नलचम्पू' के अतिरिक्त त्रिविक्रमभट्ट ने 'मदालसाचम्पू' भी लिखा है। चम्पू-काव्य-शैली का जो परिष्कृत और प्रौढ़ रूप 'नलचम्पू' में उपलब्ध होता है, उससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में इस गद्य-पद्यमयी शैली का प्रचार बहुत पहले से ही रहा होगा।

त्रिविक्रमभट्ट की भाषा सुबन्धु के समान श्लेषप्रधान है—'**भंगश्लेषकथाबन्धं दुष्करं कुर्वता मया**' (१।२२)। उनके अनुसार भाव-प्रकाशन की सरलता उदात्त कविता का लक्षण नहीं। त्रिविक्रम संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम श्लेष-कवि हैं। उनके 'नलचम्पू' मे सरस, प्रसन्न, रमणीय और चमत्कारपूर्ण श्लेष की प्रचुरता है। उनके जैसे सरल-सभंग-श्लेष संस्कृत में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। उसका मंजुल शब्द-विन्यास एवं रमणीय पदशय्या दर्शनीय है। उनकी श्लेषपूर्ण शैली के कुछ उदाहरण देखिये—

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥ ११४

'सौभाग्य से ही किसी व्यक्ति के मुख में ऐसी वाणी और घर में ऐसी स्त्री का वास होता है, जो प्रसाद-गुण से युक्त हो (अथवा जो प्रसन्नचित्त हो), जो परिष्कृत पदावली के कारण मनोहर हो (अथवा जो अपने कान्तियुक्त देह से आकर्षक हो), जो चारों प्रकार से श्लेषों का उद्घाटन करती हो (अथवा जो बारह प्रकार के आलिंगनों में दक्ष हो)।' सामान्य कवियों की बालकों से कैसी तुलना की गई है—

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव॥ ११६

'शब्दों के समुचित प्रयोग में अकुशल, सहृदयों के वैरस्य के हेतु तथा निस्सार वाग्विस्तार में प्रगल्भ कुछ कवि उन छोटे बच्चों के समान हैं, जिनके पैर अभी डगमगाते हैं, जो अपनी माता के अनुराग के हेतु हैं तथा जिनके मुख से लगातार लार टपकती रहती है।' 'नलचम्पू' के मनोरम पद्यों को भोजराज तथा विश्वनाथ ने अपने अलंकार-ग्रन्थों में उद्धृत किया है।

'नलचम्पू' के श्लेषगर्भित गद्य का एक नमूना देखिये। आर्यावर्त का वर्णन है—'**यस्यां च विबुधवैकुलालंकृताः स्वर्गा इव मार्गाः, सततमपांशुवसनाः सागरा इव नागराः, समस्तवारणानि वनानीव भवनानि, सुरसेनान्विताः स्वर्गभूपा इव भूपाः, अविरलधरोद्यानमुद्भासयन्तो हारा इव विहाराः।**' 'आर्यावर्त देश के सुरम्य मन्दिरों से सुशोभित मार्ग दिव्य देवताओं से विभूषित स्वर्ग के समान हैं, शुभ्र-धवल

वेषवाले नागरिक निरन्तर जल से परिपूर्ण महासागर के समान है, बड़ी-बड़ी दालानों वाले महल मतवाले हाथियों से भरे जंगल के समान हैं, वहाँ के शीतल-स्वच्छ जल वाले कूप देवताओं की सेना से युक्त स्वर्ग के राजाओं के समान हैं, वहाँ के विशाल स्थान को घेरकर शोभित होनेवाले मठ गले में चमकने वाले हारों के समान हैं।'

सोमदेवसूरि : यशस्तिलकचम्पू

'यशस्तिलकचम्पू' के रचयिता जैन-कवि सोमदेवसूरि १०वीं शताब्दी के राष्ट्रकूट राजा कृष्णराजदेव के समकालीन थे। 'यशस्तिलक' की रचना ९५९ ई० में हुई। इसमें सात आसवों में अवन्तिनरेश यशोधर की कथा वर्णित है। अपनी रानी की कपटपूर्ण चालों से विरक्त हो उनका जैन-धर्म स्वीकार करने तथा उनके वध और पुनर्जन्म की घटनाओं का इसमें सरस वर्णन है। कवि ने इस रचना में यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य जैन-धर्म का पालन कर किस प्रकार अपना कल्याण कर सकता है। 'यशस्तिलक' की कथा रोचक है। लेखक की शैली सुरुचिपूर्ण है। उनकी शैली के कुछ उदाहरण देखिये—

सरित्सरोवारिधिवापिकासु निमज्जनोन्मज्जनमात्रमेव ।
पुण्याय चेत्तर्हि जलेचराणां स्वर्गः पुरा स्यादितरेषु पश्चात् ॥

'नदी, तालाब, समुद्र या बावली में स्नान-मात्र करने से यदि पुण्य की प्राप्ति होती हो तब तो समस्त जलचर जीवों को पहले ही स्वर्ग पहुँच जाना चाहिये, औरों की बारी तो बाद में आयेगी।' समालोचकों के पक्ष में राजा की उक्ति देखिये—

अवक्तापि स्वयं लोकः कामं काव्यपरीक्षकः ।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम् ॥

'काव्य के आलोचक भले ही स्वयं काव्य-रचना न करते हों, फिर भी काव्य का यथार्थ मर्म समझाने में वे सर्वथा समर्थ हैं। क्या स्वयं सुन्दर भोजन न बना सकने वाला व्यक्ति उसके स्वाद का आनन्द नहीं ले सकता?' ऐहिक इच्छाओं की सारहीनता देखिये—

त्वं मन्दिरद्रविणदारतनूद्भवार्थ-
स्तृष्णातमोभिरनुबन्धिभिरस्तबुद्धिः ।
क्लिश्नास्यहर्निशमिमं न तु चित्त वेत्सि
दण्डं यमस्य निपतन्तमकाण्ड एव ॥

'हे चित्त, तू गृह, धन, स्त्री, पुत्र आदि की अंध तृष्णा से क्यों दिन-रात विक्षिप्त रहा

करता है ? क्या तुझे नहीं मालूम की यमराज का दण्ड किसी भी समय तुझ पर गिर सकता है ?'

संस्कृत साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी सोमदेव की कृति का महत्त्व है। उसमें अनेक काव्य-रचयिताओं का उल्लेख हुआ हैं। साथ ही ऐसी काव्य-कृतियों के नाम भी दिये गये हैं, जिनका आज कोई पता नहीं।

हरिश्चन्द्र : जीवन्धरचम्पू

हरिश्चन्द्र ने ९०० ई० में 'जीवन्धरचम्पू' की रचना की। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये वे ही हरिश्चन्द्र हैं, जिन्होंने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक जैन महाकाव्य की रचना की है या कोई और। 'जीवन्धरचम्पू' का कथानक गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' पर आश्रित है। माघ और वाक्पतिराज का अनुकरण भी इसमें प्रत्यक्ष देख पड़ता है।

भोज : रामायणचम्पू

धारा के प्रसिद्ध राजा भोज (१०१८-१०६३ ई०) ने 'रामायणचम्पू' की रचना की। इसमें रामायण की कथा चम्पू-शैली में वर्णित है। आरम्भ में भोज की कृति अपूर्ण थी और उसकी समाप्ति किष्किन्धाकाण्ड पर ही हो गई थी। लक्ष्मणभट्ट ने बाद में युद्धकाण्ड जोड़कर उसकी पूर्ति की।[1]

अनन्त नामक कवि ने १२ स्तबकों में 'भारतचम्पू' की रचना की, जिसमें 'महाभारत' की कथा चम्पू-शैली में वर्णित है।

सोड्ढल : उदयसुन्दरीकथाचम्पू

'उदयसुन्दरीकथाचम्पू' के रचयिता सोड्ढल गुजराती कायस्थ थे। उनका जन्म दक्षिण गुजरात के लाट देश में हुआ था। उनके आश्रयदाता कोंकण के राजा मुम्मुणिराज थे, जिनका १०६० ई० का शिलालेख उपलब्ध होता है। 'उदयसुन्दरीकथा' में बाण के 'हर्षचरित' का स्पष्ट अनुकरण देख पड़ता है। इसमें प्रतिष्ठान नगर के राजा मलयवाहन का नागराज शिखण्डतिलक की कन्या उदयसुन्दरी के साथ विवाह की गद्यपद्यात्मिका कथा वर्णित है। बाण की भाँति सोड्ढल ने भी अपना वृत्तान्त दिया है तथा पूर्ववर्ती कवियों के सम्बन्ध में कई प्रशंसात्मक श्लोक भी दिये हैं। 'उदयसुन्दरीकथा' में भाषा का लालित्य एवं माधुर्य दर्शनीय है। सोड्ढल की शैली के कुछ उदाहरण देखिये—

कमलिनी भुवनान्तरिते रवौ व्यपगतालिकलापशिरोरुहा ।
परिदधे विधवेव सुधाकरद्युतिवितानमिषेण सितांशुकम् ॥

'जब सूर्य इस संसार से विदा हो गये, तब बेचारी कमलिनी विधवा की भाँति अपने भ्रमर-रूपी केश-कलाप को अलग कर देती है और उज्ज्वल चाँदनी के रूप में सफेद वस्त्र धारण कर लेती है ।' एक नूतन कल्पना देखिये—

चान्द्रं महोमण्डलभाजनस्थं दुग्धं यथा यामवतीमहिष्याः ।
वियोगिनां दृग्दहनोप्रतापैरुल्लासितं व्योमतले लुलोठ ॥

'चन्द्रमा मानो रात-रूपी भैंस का दूध है, जो चन्द्रमण्डल-रूपी पात्र में औटाया जा रहा है । वही दूध वियोगियों के संताप-रूपी तेज आँच से उफनकर आकाश में चारों तरफ चाँदनी के रूप में फैल गया है ।'

रानी तिरुमलाम्बा : वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू

पंजाब के स्वर्गीय डा० लक्ष्मणस्वरूप को सन् १८८४ ई० में तंजोर लाइब्रेरी में रानी तिरुमलाम्बा-रचित 'वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू' की पाण्डुलिपि उपलब्ध हुई । सन् १९३२ में उन्हीं के संपादन में यह चम्पू प्रकाशित भी हो चुका । तिरुमलाम्बा राजा अच्युतराय की विदुषी रानी थीं, जिनका राज्याभिषेक १५२९ ई० में हुआ । अतः डा० स्वरूप के मतानुसार इस चम्पू की रचना १५२९-१५४० ई० के बीच हुई ।

'वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू' में अच्युतराय और वरदाम्बिका के प्रेम और परिणय का चित्रण है । संभव है कि वरदाम्बिका के व्याज से रानी तिरुमलाम्बा ने अपनी ही प्रणय-कथा लिखी है । इस चम्पू-काव्य की शैली प्रमाणित करती है कि रानी तिरुमलाम्बा कितनी सुशिक्षित और कलाओं में पारगत थी । संस्कृत भाषा पर उनका विलक्षण अधिकार था । उनकी कल्पना उर्वर है । दीर्घ समासों और जटिल वाक्यों के होते हुए भी उनकी कृति आकर्षक है । संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि में महिलाओं ने भी योग दिया है । इसका ज्वलन्त उदाहरण 'वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू' है ।

सोलहवीं शताब्दी के कवि कर्णपूर-कृत 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में तथा जीव-गोस्वामी के 'गोपालचम्पू' में भगवान् श्रीकृष्ण की ललित बाललीलाओं का सरस वर्णन है । सत्रहवीं शताब्दी में नारायण ने 'स्वाहासुधाकरचम्पू' की रचना की । इसमें अग्नि-पत्नी स्वाहा और चन्द्रमा के प्रणय की कथा है । यह रचना 'आशु-कविता' का नमूना है । वेंकटाध्वरि (१६५० ई०) के 'विश्वगुणादर्शचम्पू' में दो गन्धर्व अपने विमानों पर

आरूढ़ हो भारत के विभिन्न प्रान्तों के गुण-दोषों का विवेचन करते हैं। शंकर ने 'शङ्करचेतोविलासचम्पू' में वारेन हेस्टिंग्स के समय महाराज चेतसिंह की प्रशंसा की है।

संस्कृत के प्रमुख चम्पूकाव्य-रचयिताओं की कालक्रमानुसार नामावली इस प्रकार है—

त्रिविक्रमश्च सोमश्च हरिचन्द्रस्तथैव च।
भोजस्य सोड्ढलश्चैव राज्ञी तिरुमलाह्वया॥
नारायणस्तथा चासन् वेङ्कटाध्वरिसूरयः।
शंकरोऽपि च प्रख्याताः चम्पूकाव्यविधायकाः॥

परिशिष्ट

संस्कृत-साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा

संस्कृत के आर्ष महाकाव्य

रामायण और महाभारत को संस्कृत के आर्ष या मूल या उपजीव्य महाकाव्य कहते हैं। संस्कृत-साहित्य की अधिकांश रचनाएँ इन्हीं दो महाकाव्यों से कथावस्तु लेकर निर्मित हुई हैं। ये हिन्दूधर्म के जातीय महाकाव्य भी कहे जाते हैं।

संस्कृत के प्रमुख महाकाव्यकार एवं उनके महाकाव्य

१. महाकवि कालिदास—(ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी)
रचनाएँ—रघुवंश और कुमारसंभव

२. महाकवि अश्वघोष—(ईस्वी ७८)
रचनाएँ—बुद्धचरित और सौन्दरनन्द

३. महाकवि भर्तृमेण्ठ—(पाँचवीं शती) हयग्रीववध

४. महाकवि प्रवरसेन—(पाँचवीं शती) प्राकृत भाषा में रचित महाकाव्य सेतुबन्ध या रावणवध

५. महाकवि भारवि—(५५० ई०) किरातार्जुनीय

६. महाकवि भट्टि—(६०० ई०) भट्टिकाव्य

७. महाकवि कुमारदास—(६०२ ई०) जानकीहरणम्

८. महाकवि माघ—(सातवीं शती) शिशुपालवध

९. महाकवि अभिनन्द—(अष्टम शती) रामचरित

१०. महाकवि रत्नाकर—(नवम शती) हरविजय

११. जैन महाकवि हरिश्चन्द्र—(११वीं शती) धर्मशर्माभ्युदय

१२. महाकवि श्रीहर्ष—(१२वीं शती) नैषधीयचरित

संस्कृत के प्रमुख नाटककार एवं उनकी रचनाएँ

१. महाकवि भास (ईसा पूर्व चतुर्थ शती) तेरह नाटक—प्रसिद्ध नाटक—प्रतिमा, दूतवाक्य, दरिद्र चारुदत्त, स्वप्नवासवदत्ता।

२. महाकवि कालिदास—(ईसा पूर्व प्रथम शती) मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, अभिज्ञान शाकुन्तलम्।

३. महाकवि अश्वघोष—(७८ ई०) शारिपुत्रप्रकरण

४. महाकवि शूद्रक—(४०० ई०) मृच्छकटिक

५. विशाखदत्त—(४थी-५वीं शती) मुद्राराक्षस

६. महाकवि भवभूति—(७वीं शती) तीन नाटक—महावीरचरित, मालती-माधव, उत्तररामचरित

७. श्रीहर्षवर्द्धन या हर्षदेव—(७वीं शती) तीन नाटक—प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द

८. भट्टनारायण—(७वीं शती) वेणीसंहार

९. मुरारि—(८०० ई०) अनर्घराघव

१०. शक्तिभद्र—(८०० ई०) आश्चर्यचूड़ामणि

११. दामोदर मिश्र—(८५० ई० से पूर्व) हनुमन्नाटक

१२. राजशेखर—(दशम शतक ई०) चार नाटक—बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभंजिका तथा कर्पूरमंजरी

१३. दिङ्नाग—(१००० ई०) कुन्दमाला

१४. कृष्ण मिश्र—(११०० ई०) प्रबोधचन्द्रोदय

१५. जयदेव—(गीतगोविन्दकार जयदेव से भिन्न)
(१२०० ई०) प्रसन्नराघव ।

संस्कृत के प्रमुख ऐतिहासिक काव्य

उद्भव—आर्ष महाकाव्य रामायण और महाभारत जातीय इतिहास हैं। पुराणों में भी इतिहास का स्वरूप मुखरित है। शिलालेखों की प्रशस्तियों में हमें वास्तविक ऐतिहासिक काव्य के दर्शन होते हैं।

अश्वघोष (ईस्वी प्रथम शती)-कृत बुद्धचरित—प्रथम ऐतिहासिक काव्य

बाणभट्ट (६०६-६४८ ई०)-कृत हर्षचरित महान् ऐतिहासिक गद्य-काव्य

वाक्पतिराज (७२९ ई०)-कृत गौडवहो या गौडवध प्राकृत (महाराष्ट्री) भाषा में रचित ऐतिहासिक काव्य है।

अज्ञातकवि (८०० ई०) का आर्यमञ्जुश्रीकल्प—बौद्ध महायान सम्प्रदाय का ऐतिहासिक काव्य है।

महाकवि पद्मगुप्तपरिमल (१००५ ई०)-कृत नवसाहसाङ्कचरित १२ सर्गों का सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य है।

महाकवि बिल्हण (१०८८ ई० से पूर्व)-कृत विक्रमाङ्कदेवचरित—महाकाव्य का प्रतिबिम्ब—ऐतिहासिक विषय को लेकर रचित

महाकवि शम्भु (१०८८-११०० ई०)-कृत राजेन्द्रकर्णपूर

महाकवि कल्हण (११२७ से ११५१ ई०)-कृत राजतरङ्गिणी—संस्कृत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक काव्य है।

जैनमुनि हेमचन्द्र (११६३ ई०)-कृत कुमारपालचरित

जल्हण (१२वीं शती)-कृत सोमपालविजय

अज्ञात कवि (१२०० ई०)-कृत पृथ्वीराजविजय

सन्ध्याकरनन्दी (बारहवीं शती)-कृत रामपालचरित

वामनभट्ट बाण (१५०० ई०)-कृत वेमभूपालचरित

संस्कृत के प्रमुख गीतिकाव्य

ऋग्वेद में गीत का स्वरूप मंत्रों में देव-स्तुति के रूप में—उषा की सुषमा

सरस गीतिकाव्य

रामायण में गीतितत्त्व

पाणिनि (स्थितिकाल ई० पू० ७०० के लगभग) का गीतिकाव्य

महाकवि कालिदास (ई० पू० प्रथम शती) मेघदूत, ऋतुसंहार।

सातवाहन हाल (ई० १७-२१) प्राकृत में 'गाथा सप्तशती' गीति-रचना घटकर्पूर का गीतिकाव्य

भर्तृहरि (६०० ई०)—शतकत्रय—शृंगारशतक, नीतिशतक, वैराग्यशतक

विज्जका या विजयांका (६६० ई०) का गीतिकाव्य

अज्ञात कवि की रचना शृंगारतिलक

कवि अमरुक—(स्थितिकाल ७०० ई०) रचना अमरुकशतक

भल्लट—(८वीं शती उत्तरार्द्ध) भल्लटशतक

शीला भट्टारिका (नवम शती) का गीतिकाव्य

जम्बू कवि की जिनशतक और चन्द्रदूत

बिल्हण (१०६४ ई० लगभग) का चौरपञ्चाशिका

कविवर जयदेव (११०० ई०) का गीतगोविन्द

कविवर नरहरि (श्रीहर्ष के अनन्तर स्थितिकाल) का शृंगारशतक

कविराज धोयी (१२वीं शती) का पवनदूत

गोवर्धनाचार्य (१२वीं शती) का आर्यासप्तशती

विक्रम कवि (१४वीं शती) का नेमिदूत

धनदराज (१४३४ ई०) का शृंगारधनदशतकम्

दैवज्ञ सूर्यकवि (१६वी शती पूर्वार्द्ध) का रामकृष्ण विलोम काव्य

रुद्रकवि (१५५६-१६०५ ई०) का भावविलास

माधव भट्ट (१५७१ ई०) की दानलीला

पण्डितराज जगन्नाथ (स्थितिकाल १५९०-१६६५ ई०)

रचनाएँ—सुधालहरी, अमृतलहरी, लक्ष्मीलहरी, करुणालहरी, गंगालहरी, भामिनी विलास, अन्योक्ति विलास

रूपगोस्वामी (१७वीं शती) का हंसदूत

वेंकटाध्वरि (१६३७ ई०) का लक्ष्मीसहस्र

श्रीकृष्णदेव सार्वभौम (१७वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध) का पदांकदूत

शिवभक्तदास—भिक्षाटन काव्य

नन्दकिशोर गोस्वामी—शुकदूत

विश्वेश्वर पण्डित—कवीन्द्रकर्णाभरणम् तथा रोमावलीशतकम्।

गोस्वामी जनार्दन भट्ट—शृङ्गारशतक

संस्कृत-गद्य साहित्य की प्रमुख रचनाएँ

वैदिक गद्य—कृष्णयजुर्वेद और अथर्ववेद में गद्य

ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों में गद्य

महाभारत में गद्य का प्रयोग

निरुक्त—यास्क मुनि (७००—८०० ई० पू०) यह रचना संस्कृत-गद्य में रचित है।

टीका गद्य, शास्त्रीय गद्य—व्याकरण, ज्योतिष तथा अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों में।

आख्यायिका गद्य का प्रारम्भ (ई० पू० चतुर्थ शती) कात्यायन के वार्तिक में तथा पतञ्जलि (२०० ई० पू०) के महाभाष्य में वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी आख्यायिकाओं की चर्चा।

शिलालेखीय गद्य—रुद्रदामन महाक्षत्रप का १५० ई० का गिरनार का शिलालेख अलंकृत गद्य-शैली की रचना है।

प्रयाग लेख—४०० ई० का गुप्तकालीन शिलालेख बाण की सी शैली में।

संस्कृत गद्यकाव्य का समृद्धि-युग

दण्डी—स्थितिकाल—६०० ई० के लगभग, रचनाएँ—दशकुमारचरित, अवन्तिसुन्दरी कथा

सुबन्धु- स्थितिकाल ६५० ई० के लगभग रचना—वासवदत्ता।

बाणभट्ट—स्थितिकाल ६०६—६४८ और इसके अनन्तर भी जीवित रहे। रचनाएँ—कादम्बरी (कथा), हर्षचरित (आख्यायिका)

धनपाल—(स्थितिकाल १००० ई०) तिलकमंजरी

ओडयदेववादीभसिंह—(स्थितिकाल १००० ई०) गद्यचिन्तामणि

वामनभट्ट बाण—(१५०० ई०) वेमभूपालचरित

अम्बिकादत्त व्यास—(१८५८—१९०० ई०) शिवराजविजय (रोमांस-प्रधान उपन्यास)

अन्य आधुनिक गद्यकार—पं० हृषीकेश भट्टाचार्य तथा पण्डिता क्षमाराव ।

संस्कृत-चम्पू-काव्य के प्रमुख ग्रन्थ

उद्भव—वैदिक साहित्य में गद्य-पद्यमयी वाणी वेद (अथर्ववेद), ब्राह्मण (ऐतरेय), उपनिषद् (कठोपनिषद्) आदि में उपलब्ध ।

वेदिकोत्तर काल – बौद्ध अवदान साहित्य में ।

दण्डी से पूर्व (६०० ई०) —दण्डी ने अपने काव्यादर्श में चम्पू की परिभाषा करके उसके अस्तित्व की घोषणा की ।

त्रिविक्रम भट्ट—(९१५ ई०) प्रथम उपलब्ध चम्पूकाव्य—नलचम्पू या दमयन्तीचम्पू तथा मदालसाचम्पू ।

सोमदेव सूरि—(९५९ ई०) यशस्तिलकचम्पू ।

भोजराज—(१०० ई० से १०५० ई०) रामायणचम्पू ।

सोड्ढल –(१०६० ई०) उदयसुन्दरीकथा ।

हरिचन्द्र—(११०० ई०) जीवन्धरचम्पू ।

अभिनव कालिदास—(११वीं शती) भागवतचम्पू ।

अनन्तभट्ट—चम्पूभारत या भारतचम्पू ।

पं० आशाधर सूरि—(१२४६ ई०) भरतेश्वराभ्युदयचम्पू ।

अर्हदास—(१३वीं शती उत्तरार्द्ध) पुरुदेवचम्पू ।

दिवाकर—(१२९९ ई०) अमोघराघवचम्पू ।

कवि कर्णपूर—(१५२४ ई०) आनन्दवृन्दावनचम्पू ।

तिरुमलाम्बा—(१५२९-४० ई०) वरदाम्बिका-परिणयचम्पू ।

चिदाम्बरा—(१५८५-१६१४ ई०) पंचकल्याणचम्पू ।

शेषकृष्ण—(१६वीं शती उत्तरार्द्ध) पारिजातहरणचम्पू ।

देवज्ञ सूर्य—(१५४१ ई०) नृसिंहचम्पू ।

कृष्ण कवि—(१६वीं शती उत्तरार्द्ध) मन्दारमरन्दचम्पू ।

केशवभट्ट—(१६८४ ई०) नृसिंहचम्पू ।

वेंकटाध्वरि (१६५०) के नीलकण्ठचम्पू, विश्वगुणादर्शचम्पू, उत्तरचम्पू और वरदाभ्युदयचम्पू ।

नीलकण्ठ कवि- (१६३६ ई०) नीलकण्ठविजयचम्पू ।

नल्लादीक्षित (१६८४-१७१० ई०) धर्मविजयचम्पू ।

श्रीनिवास कवि—(१७५२ ई०) आनन्दरंगचम्पू।

अलंकृत महाकाव्यों की बृहत्त्रयी

बृहत्त्रयी से तात्पर्य है कि संस्कृत के तीन सुप्रसिद्ध महाकाव्यों की त्रयी। संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में अलंकृत महाकाव्यों की त्रयी को ही बृहत्त्रयी कहते हैं। ये तीन महाकाव्य इस प्रकार हैं—

(i) भारविकृत किरातार्जुनीयम्।

(ii) माघकृत शिशुपालवध।

(iii) श्रीहर्षकृत नैषधीयचरितम्।

रामायण पर आश्रित संस्कृत के काव्य एवं रूपक

वाल्मीकि-रामायण संस्कृत के कवियों एवं नाटककारों का उपजीव्य ग्रन्थ रहा है। रामायण से रामकथा के प्रसंग को लेकर निम्नलिखित काव्यों की रचना हुई है—

(१) रघुवंश	कालिदास	ईसा पूर्व प्रथम शती
(२) सेतुबन्ध	प्रवरसेन	चतुर्थ शताब्दी ई०
(३) जानकीहरण	कुमारदास	५२० ई०
(४) भट्टिकाव्य (रावणवध)	भट्टि	६४४ ई०
(५) रामचरित	अभिनन्द	९वीं शती ई०
(६) रामायणमंजरी	क्षेमेन्द्र	लगभग १०५० ई०
(७) रघुनाथचरित	वामनभट्ट बाण	१४२० ई०
(८) जानकीपरिणय	चक्र कवि	१६५० ई०

रामायण को उपजीव्य बनाकर निम्नलिखित नाटकों की रचना हुई है—

(१) प्रतिमा नाटक	भासकृत	लगभग ४०० ई० पू०
(२) अभिषेक नाटक	,,	,,
(३) यज्ञफल	,,	,,
(४) महावीरचरित	भवभूति	७०० ई० के लगभग
(५) उत्तररामचरित	,,	,, ,,
(६) अनर्घराघव	मुरारि	८०० ई० के आसपास
(७) आश्चर्यचूडामणि	शक्तिभद्र	नवम शती का प्रारम्भ
(८) हनुमन्नाटक	दामोदर मिश्र	८५० ई० के पूर्व
(९) बालरामायण	राजशेखर	९०० ई० के लगभग
(१०) कुन्दमाला	दिङ्नाग	१००० ई० के लगभग
(११) प्रसन्नराघव	जयदेव	११वीं शती

(१२) उन्मत्त राघव	भास्कर	१३५० ई०
(१३) उन्मत्त राघव	विरूपाक्ष	१३५० ई०
(१४) आनन्दराघव	राजचूडामणि दीक्षित	१६२० ई०
(१५) अद्भुत दर्पण	महादेव	१६५० ई०
(१६) जानकीपरिणय	रामभद्र दीक्षित	१७०० ई०

रामायण को उपजीव्य बनाकर निम्नलिखित चम्पू-काव्यों की रचना हुई है—

(१) रामायणचम्पू	भोज	१००५-१५४ ई०
(२) उत्तरचम्पू	वेंकटाध्वरि	१६५० ई०

महाभारत पर आधारित संस्कृत के काव्य एवं नाटक

रामायण की भाँति ही महाभारत भी संस्कृत के काव्यकार, नाटककार एवं चम्पूकारों का उपजीव्य ग्रन्थ रहा है। महाभारत के आधार पर ई० पू० ४०० के लगभग महाकवि भास ने ६ नाटकों की रचना की, जिनके नाम ये हैं—पञ्चरात्र, दूत-वाक्य, मध्यमव्यायोग, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग। महाकवि कालिदास (प्रथम शती ई० पू०) ने अभिज्ञानशाकुन्तल की रचना की, भट्टनारायण (६५० ई०) ने वेणीसंहार नाटक की, कुलशेखरवर्मन ने सुभद्राधनञ्जय (८०० ई०), राजशेखर ने बालभारत (९०० ई० के लगभग), क्षेमीश्वर (९०० ई०) ने नैषधानन्द की रचना की। ११०० ई० के लगभग कांचनपण्डित ने धनञ्जयव्यायोग और ११६३ ई० में वत्सराज ने किरातार्जुनीयव्यायोग की रचना की। १२०० ई० में रामचन्द्र ने नलविलास और निर्भयभीम नामक नाटकों की रचना महाभारत से कथानक लेकर की।

महाभारत से कथानक लेकर इन काव्यों का निर्माण हुआ है—

१—किरातार्जुनीय	भारवि	६०० ई०
२—शिशुपालवध	माघ	७०० ई०
३—कीचकवध	नीतिवर्मन्	९वीं शती ई०
४—भारतमंजरी	क्षेमेन्द्र	१०५० ई० के लगभग
५—नैषधीयचरित	श्रीहर्ष	१२वीं शताब्दी ई०
६—बालभारत	अमरचन्द्र	१२५० ई०
७—पाण्डवचरित	देवप्रभसूरि	१२५० ई०
८—सहृदयानन्द	कृष्णानन्द	१३वीं शती ई०
९—बालभारत	अगस्त्य	१३०० ई० के लगभग

महाभारत से कथानक लेकर त्रिविक्रम भट्ट ने ९१५ ई० में अपने सुप्रसिद्ध चम्पू नलचम्पू की रचना की। यह संस्कृत का श्रेष्ठ चम्पू-काव्य है।

———